प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—महावीर प्रसाद, प्रेम प्रेस, कटरा, इलाहाबाद।

प्रथम संस्करण

निवेदन

पुरातत्व-निबन्धावली पाठकोंके सम्मुख उपस्थित की जा रही है। ये निबन्ध भिन्न भिन्न समयपर भिन्न भिन्न पत्रोंमें निकले थे। कई जगहोंपर फिरसे लिखनेकी आवश्यकता थी, लेकिन वैसा करनेके लिए पुस्तकके प्रकाशनको एक अनिश्चित कालके लिये रोक रखना पडता, जो कि मेरे कई दोस्तोको पसन्द नही होता। जल्दी जल्दी में जितना हो सका है, प्रूफको मैंने एक वार देख लिया है। पुरातत्त्वके अध्ययनके लिय मानवविकास का ज्ञान आवश्यक है। मैने इस सम्बन्धमें "साम्यवाद ही क्यो" की भूमिकामें लिख दिया है, इसलिये उसे यहाँ नही दुहराया गया। परिशिष्ट (१) के लिये मैं रायवहादुर वा० दुर्गाप्रसाद (बनारस) का विशेप आभारी हूँ। त्रुटियो के लिये क्षमाप्रार्थी——

पटना

राहुल साकृत्यायन

द्वितीय सस्करण

पुस्तक वहुत सालो पहिले खतम हो गई थी। इम सस्करणमें कुछ सशोधन परिवर्धन किये गये हैं।

मसूरी
२१-३-५८

राहुल साकृत्यायन

प्रथम संस्करण

निवेदन

पुरातत्त्व-निबन्धावली पाठकोंके सम्मुख उपस्थित की जा रही है। ये निबन्ध भिन्न भिन्न समयपर भिन्न भिन्न पत्रोमें निकले थे। कई जगहोपर फिरसे लिखनेकी आवश्यकता थी, लेकिन वैसा करनेके लिए पुस्तकके प्रकाशनको एक अनिश्चित कालके लिये रोक रखना पडता, जो कि मेरे कई दोस्तोको पसन्द नहीं होता। जल्दी जल्दी में जितना हो सका है, प्रूफको मैंने एक बार देख लिया है। पुरातत्त्वके अध्ययनके लिय मानवविकास का ज्ञान आवश्यक है। मैंने इस सम्बन्धमें "साम्य-वाद ही क्यो" की भूमिकामें लिख दिया है, इसलिये उसे यहाँ नही दुहराया गया। परिशिष्ट (१) के लिये मैं रायबहादुर बा० दुर्गाप्रसाद (बनारस) का विशेष आभारी हूँ। त्रुटियो के लिये क्षमाप्रार्थी—

पटना

राहुल साकृत्यायन

द्वितीय सस्करण

पुस्तक बहुत साला पहिले खतम हो गई थी। इस सस्करणमें कुछ सशोधन परिवर्धन किये गये हैं।

मसूरी
२१-३-५८

राहुल साकृत्यायन

पुरातत्त्व-निबन्धावली

भूमिका

१. पुरातत्त्व

१—पुरातत्त्वका महत्त्व

हिन्दीमें पुरातत्त्व-साहित्यकी बड़ी आवश्यकता है। भारतके सच्चे इतिहासके निर्माणमें "पुरातत्त्व" की सामग्री अत्यन्त उपयोगी है, और, खुदाई आदिके द्वारा अभी तक जो कुछ किया गया है, वह दालमें नमकके बराबर है। जब हम यूरोपके सभ्य देशोंके कार्यसे तुलना करते हैं, तब उसे बहुत अल्प पाते हैं। काशीकी नागरी-प्रचारिणी-सभाने हिन्दीकी खोजकी रिपोर्टें तथा 'प्राचीन मुद्रा' छापी, और, उसकी पत्रिकाके योग्य सम्पादक श्रद्धेय ओझाजीने भी हिन्दीमें इस ओर बहुत कार्य किया है। ओझा जी हिन्दीमें इस विषयके युगप्रवर्तक होनेसे चिरस्मरणीय रहेंगे।

इतिहासकी सबसे ठोस सामग्री पुरातत्त्व-सामग्री है, और, उस सामग्रीसे भारतकी कोई जगह शून्य नहीं है। गाँवोंके पुराने डीहो पर फेंके मिट्टीके बर्तनोंके चित्र-विचित्र टुकड़े भी हमें इतिहासकी कभी-कभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें बतलाते हैं, लेकिन उन्हे समझनेकेलिये हमारे पास वैसे श्रोत्र और नेत्र होने चाहियें।

२—सर्वसाधारणके जानने योग्य कुछ बातें

वैसे तो बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें एक पुरातत्त्व-प्रेमी और पुरातत्त्व-गवेषकको जानना चाहिये; किन्तु यहाँ कुछ ऐसी बातें गिना दी जाती हैं, जिनको साधारण पाठक भी यदि ध्यानमें रखें, और अपने आसपास की सामग्रियोंके रक्षण और परीक्षणका ख्याल करें, तो बहुत फायदा हो सकता है—

(१) शिला, ताम्रखण्ड और भग्न मूर्तियो तथा दूसरी चीजोपरके लेखोंको जहाँ कही भी देखें, उन्हे प्राचीन लिपियोंसे यदि मिलावें, तो उससे कालका ज्ञान

हो सकता है। यह ख्याल रखें कि, पुरातत्त्वविद् न सर्वज्ञ है और न वह भारतमें सब जगह पहुँच ही सके हैं, इसलिये आपके गाँवके डीह या महादेव-स्थान पर ढेर की हुई खण्डित मूर्तियोंके टुकडोंमें भी कभी कोई हीरा निकल आ सकता है।

(२) अपने आसपासकी पहाडियोंके पत्थरोंसे भिन्न यदि किसी दूसरे रंगके पत्थरकी मूर्ति मिले, तो वह कभी-कभी और भी महत्वपूर्ण सूचना देनेवाली हो सकती है। मूर्तियोंमें अक्सर आसन (पीठिका) के नीचे या प्रभा-मण्डल (सिरके चारों ओरके घेरे) या पीठपर लेख खुदे होते हैं।

(३) ईंटोंकी लम्बाईपर अलग लेख है। जितनीही असाधारण लम्बाई-की ईंटे मिलें, उतनीही उन्हे उस स्थानकी प्राचीनताको बतलाने वाली समझना चाहिये। भरसक अखण्ड ईंट खोज निकालने और उसकी नाप लेनेकी कोशिश करनी चाहिये। बहुत छोटी ईंटें (लाहोरी या लाखोरी) पिछले मुसलिम कालकी हैं। विचित्र आकार-प्रकारके खपडे, कुएँ बांधनेकी चन्द्राकार पटियाँ आदि भी कभी-कभी बहुत उपयोगी होती हैं।

(४) मकानकी नीव, कुआँ या तालाब खोदनेमें कोई चीज मिले, तो उसकी गहराईको नापकर चीजके साथ नोट कर लीजिये। यह गहराई काल-प्रमाणकी एक बहुत ही उपयोगी कडी है। इसी तरह जो चीज जिस गाँवके जिस स्थानपर मिले, उसे भी नोट कर लेना चाहिये। स्मरण रहे, "स्थानहीना न शोभन्ते दन्ता केशा नखा नरा" की उक्ति यहाँ भी घटित है।

(५) कहीं-कहीं गाँवोमें पीपलके नीचे या किसी टूटे-फूटे देवस्थानमें पत्थरके लम्बे-चिकने टुकडे मिलते हैं। उनमें कभी-कभी दस-बारह हजार वर्ष पूर्वके, हमारे पूर्वजोंके, हथियारभी सम्मिलित रहते हैं। यदि वह संगखारे या चकमक जैसे कडे पत्थरके तथा नोकीले और तेज धारवाले हो, तो निश्चय ही समझिये कि, वे वही अस्त्र है, जिनमे हमारे पूर्वज शिकार आदि किया करते थे।

(६) कुएँ आदि खोदनेमें धरती के बहुत नीचे कभी-कभी मनुष्यकी खोपडियाँ या हड्डियाँ मिल जाती है। हो सकता है वह कई हजार वर्षोंकी पुरानी, किसी लुप्त जातिके मनुष्यकी हो। इसलिये उनकी छानबीन करनी चाहिये और यदि आकृति असाधारण तथा हड्डियाँ बहुत पुरानी या पथराई जैसी मालूम हो, तो उनकी रक्षा करनी चाहिये या किसी विशेषज्ञसे दिखाना चाहिये। बहुत

नीचे मिले मिट्टी के बर्तनोंके बारेमें भी यही समझना चाहिये। तांबे या पीतलकी तलवार या छुरा, यदि कहीं मिल जाय, तो उसे धातुके भाव बेच न डालना चाहिये। हो सकता है, वह ५–६ हजार वर्षों पुरानी चीज हो; और, कोई संग्राहलय उसे धातुसे कई गुने दामपर खरीद ले।

(७) पुराणस्थान—(क) मिट्टीसे भठे तथा दब गये भीटोंवाले जहाँ तालाब हो, (ख) जहाँ आसपास पुराने देवस्थानों या पीपलके वृक्षोंके नीचे टूटी-फूटी मूर्तियाँ अधिक मिलती हों, (ग) जहाँ खेत जोतते या मिट्टी खोदते वक्त पुराने कुएँ या ईंटों की दीवारें आदि निकल आती हों, (घ) जहाँ बरसातमें मिट्टीके घुल जानेपर तांबा आदिके पैसे तथा दूसरी चीजें मिलती हों, (चौकोर और मूर्तिवाले सिक्के अधिक पुराने होते हैं, और, पानेवाले को उनका, कई गुना अधिक दाम मिल सकता है); ऐसे स्थान पुरातत्त्वकेलिए अधिक उपयोगी होते हैं। गढ या ऊँची जगहसे भी प्राचीनता मालूम होती है; किन्तु हजार वर्ष पूर्वसे जहाँ बस्ती फिर नहीं बसी, वहांकी जमीन बहुत ऊँची नहीं हो पाती।

(८) गांवमें, साधारण लोगोंमें, यह भ्रम फैला हुआ है कि, सरकार जहाँ-कहाँ खुदाई करती है, वह किसी खजानेके लिये। उन्हें समझना चाहिये कि, पुरातत्त्वकी खुदाईमें सरकारने जितना खर्च किया है, यदि खुदाईमें निकले हुए सोने-चांदीके दामसे मुकाबिला किया जाय, तो उसका शतांश भी न होगा। फिरभी सोने-चांदी या कीमती पत्थरकी जो कोई चीज मिलती है, उसे सरकार न गलाती है, न बेचती है। वह तो भिन्न-भिन्न संग्रहालयोंमें, इतिहासके विद्वानों और प्रेमियोंके देखने और जाननेकेलिये, रख दी जाती है। यदि गांवमें इस तरहके सिक्के आदि किसीको मिलें, तो उसे वह गलाकर या तोड-फोड़ करके खराब न कर दे। सम्भव है उससे उसकी अपनी जातिका कोई सुन्दर इतिहास मालूम किया जा सके। बहुतसे भूले वंशों के परिचय और गौरव स्थापन करनेमें इन चीजोंने बहुत सहायता की है। सम्भव है, ऐसी चीजको गलाने या तोडनेवाला अपने पूर्व पुरुषोंकी कीर्ति और इतिहासको अपनी इस क्रिया द्वारा गला और तोड रहा हो!

३—पुरातत्त्व और पाश्चात्य विद्वान्

पुरातत्त्वके विषयमें पाश्चात्य विद्वान् कितने उत्सुक हैं, इसका एक उदाहरण लीजिये। कोई बीस महीने हुए, काश्मीर-राज्य के गिलगित स्थानमें,

१२–१३ सौ वर्ष पुराने अक्षरोंमें, भोजपत्रपर लिखे, बहुतसे संस्कृत-ग्रंथोंका एक ढेर मिल गया। भारतके कितनेही विद्वान् तो उसके महत्वको उतना नही समझे, किन्तु उसके बारेमें सचित्र सुन्दर विवरण फ्रासके आचार्य सिल्वेन् लेवीने प्रकाशित कराया। उनके पास कुछ पन्ने पहुँच गये थे, जिनके पाठको, उन्होंने, उसमें छापा भी है। वह और उनके सहकारी डा० फुशे आदि उन हस्तलिखित ग्रन्थोंके बारेमें इतने उत्सुक हुए कि, उन्होंने कई बार काश्मीर-राज्यके अधिकारियोंके पास पत्र भेजे। वे व्यग्र रहे कि, कही असावधानीसे वह सामग्री नष्ट या लुप्त न हो जाय! जब मैं १९३२ ई० के नवम्बरमें पेरिसमें था, तब उन्हें काश्मीरसे पत्र मिला था, जिसमें लिखा था कि, हस्तलेखों का निरूपण (*decipher*) किया जा रहा है। कहाँ वह आशा रखते थे कि, इन अठारह महीनोंमें उन पुस्तकोके नाम आदिके विषयमें कोई विस्तृत विवरण मिलेगा और कहाँ पत्र जा रहा है कि, गुप्त-लिपिमें लिखे ग्रन्थोंका निरूपण किया जा रहा है। यदि ग्रन्थोंका प्रकाशन या विवरण तैयार न करके अठारह महीने सिर्फ निरूपणमें ही लग जाते हैं, तो कब उन्हे विद्वानोंके सामने आनेका मौका मिलेगा! आचार्य लेवीने कहा था, पूरे अठारह महीने हो गये, ऐसा अद्भुत ग्रन्थ-समुदाय भारतमें मिला है, जिसे लोग केवल चीनी और तिब्बती अनुवादोंसे ही जान सकते थे, परन्तु उसके बारेमें भारतमें इस तरहका आलस्य है, यह भारतकेलिये लज्जाकी बात है।

भारतीय पुरातत्त्वके साहित्यके बारेमें यदि आप पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसे आप हालैंड-निवासी डा० फोगल और उनके सहयोगियोंके परिश्रमसे निकलने वाली वार्षिक पुस्तक *"The Annual Bibliography of Indian Archaeology"* से जान सकते हैं।

४—पुरातत्त्वोत्खननके लिये सेवक-दलकी आवश्यकता

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खननका सारा भार हम सरकारपर ही नहीं छोड सकते। सभी सभ्य देशोंमें गैरसरकारी लोगोंने इस विषयमें बहुत काम किया है। अर्थ-कृच्छ्रताके कारण गवर्नमेंटने पुरातत्त्वविभागके खर्चको बहुत कम कर दिया है। भारत सरकारके शिक्षा-सदस्यके भाषणसे यह भी मालूम हुआ कि, सरकार विदेशी विश्वविद्यालयों तथा दूसरी विश्वसनीय संस्थाओंको भारतमें पुरातत्त्वसम्बन्धी उत्खननकेलिये अनुमति दे देगी। ऐसा करनेसे निश्चयही

भारतके इतिहासकी बहुतसी बहुमूल्य सामग्रीको—जो आगे खुदाईमें निकलेगी—वह संस्थाएँ भारतसे बाहर ले जायँगी। यद्यपि संस्थाओं के प्रामाणिक होने पर, सामग्रियोंका भारतसे बाहर जाना—जहाँ तक विज्ञानका सम्बन्ध है—हानिकर नहीं है, किन्तु यह भारतीयोंके लिये शोभा नहीं देता। साथ ही यह भी तो उचित नहीं कि हम चीजोंके बाहर चले जानेके डरसे न दूसरोंको खोदने दें और न आप ही इस विषयमें कुछ करें। अस्तु। धनियोंको चाहिये कि, पर्याप्त धन देकर किसी विश्वविद्यालय संग्रहालय द्वारा खुदाई करावें।

हमारा देश गरीब है। बहुतसे आदमी होंगे, जो पुरातत्त्वके सम्बन्धमें कुछ कार्य करना चाहते हैं, किन्तु उनके पास धन नहीं। ऐसे समझदार पुरातत्त्व-प्रेमी भी एक प्रकारसे उत्खननमें सहायता कर सकते हैं। आवश्यकता है, प्रत्येक प्रान्तमें ऐसे उत्साही लोगोंका एक पुरातत्त्व-सेवा-दल कायम करनेकी। दलमें कालेजोंके छात्र और प्रोफेसर तथा इस विषयमें उत्साह रखनेवाले दूसरे शिक्षित सज्जन सम्मिलित हों। सेवादलके सदस्य सालमें कुछ सप्ताह या मास जानकार नेताओंके नेतृत्वमें अपने हाथों खननका काम करें। निकली चीजोंको प्रान्तके संग्रहालय या अन्य किसी सार्वजनिक सुरक्षित स्थानमें रखा जाय। वस्तुओंकी सुरक्षा और नेताके अभिज्ञ होनेका विश्वास हो जाय, तो सरकार भी इस काममें बाधक नहीं होगी और जहाँ तक होगा, उसमें वह सहूलियत पैदा करेगी।

---

१ प्रयाग विश्वविद्यालयने कौशांबीकी खुदाई करके वहाँ घोषिताराम सम्बन्धी प्राचीन ब्राह्मी अभिलेख पाया। एन० सी० सी० के जवान इस काम को कर सकते हैं।

२. काल-निर्णयमें ईंट और गहराई

इतिहासका विषय भूत-काल है, इसलिये उसे हम प्रत्यक्ष नही देख सकते। किन्तु जिस प्रकार वर्तमान वस्तुओंके लिये प्रत्यक्ष वहुतही जवर्दस्त प्रमाण है, उसी प्रकार भूत वस्तुओंकेलिये जवर्दस्त प्रमाण उस समयकी वस्तुएँ हैं। वस्तुएँ अपने समयके लिये प्रत्यक्षदर्शी और सत्यवादी साक्षी हैं। पोथी-पत्रोंमें तो मनुष्य भूलकर सकता या स्वार्थवश हर नई लिखाईमें घटा-वढा सकता है, किन्तु रमपुरवा (चम्पारन)के स्तम्भ-लेखमें एक भी अक्षरका, अशोकके वाद, मिलाया जाना सभव नहीं है। सारनाथमें ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें, जिस बौद्ध-सम्प्रदायकी प्रधानता थी, वहाँ उस समयकी लिपिमें उसके नामके साथ एक लेख खुदा हुआ था। उसके चार-पांच सौ वर्ष वाद (ईस्वी तीसरी या चौथी शताव्दी में) दूसरा सम्प्रदाय अधिकारारूढ हुआ। इसने उसी लेखमें, नामवाला भाग छिलवाकर, अपना नाम जुडवा दिया। ऐसेभी भिन्न-भिन्न हाथोंके अक्षर एक दूसरेसे पृथक् होते हैं, और, यहां तो पांच शताव्दियो वाद अक्षरोंमें भारी परिवर्तन हो गया था, इसलिए यह जाल साफ मालूम हो जाता है, और, "आचार्याणा सर्वास्तिवादिन परिग्रहे" वाला छोटा लेख वतला देता है कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार ई० पू० प्रथम शताव्दीसे पूर्व, किसी दूसरे सम्प्रदायके हाथमें था, और, ईस्वी तीसरी या चौथी शताव्दीमें सर्वास्तिवादके हाथमें चला गया। इस तरह इस प्रमाणकी मजवूतीको आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। सातवी शताव्दीके चीनी भिक्षु युन्-च्वेङ् अपने समयमें वहाँ साम्मितीय निकायकी प्रधानता पाते हैं। युन्-च्वेङ्का ग्रन्थ १३ शताव्दियो तक भारतसे दूर पडा रहा, इसलिये जान-वूझकर, मिलावट कम होनेसे, अपने समयके लिये उसकी प्रामाणिकता वहुत ही वढ जाती है। किन्तु मान लीजिये युन्-च्वेङ् अपने ग्रन्थमें लिखदें कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार अशोकके समयसे आजतक साम्मितीयोंके हाथमें है, तो उक्त लेखके सामने इस वातकी प्रामाणिकता कुछभी नहीं रह सकती। इस तरह समसामयिक सामग्री पीछे रचित और लिखित ग्रन्थोंसे वहुत अधिक प्रामाणिक है। हां, जैसा

कि, मैंने ऊपर कहा है, वहाँ हमें उनकी समसामयिकताको सिद्ध करना होगा। समसामयिकता सिद्ध करनेकेलिए निम्न बातें सबसे अधिक प्रामाणिक हैं—(१) स्वय लेखमें दिया सवत् और नाम, (२) लिपिका आकार, (३) गहराई, (४) प्राप्त वस्तुके आसपास मिली ईंटें और अन्य वस्तुएँ।

पहली बात तो सर्वमान्य है ही, लेकिन ऐसा सवत्-काल लिखनका रवाज गुप्तोके ही समयसे मिलता है। आन्ध्रो, कुषाणो, मौर्योके लेखोमें तो राजा के अभिषेकका सवत् दिया रहता है, जिससे उनका काल-निर्णय कठिन है। बहुतसे लेखोमें तो काल भी नही रहता। ऐसी अवस्थामें, अक्षरोको देखकर, उनसे काल-निश्चय किया जाता है। यद्यपि इसमें एकाध शताब्दियोंके अन्तर होनेकी सम्भावना है। किन्तु जो सामग्री सबसे प्रचुर परिमाणमें मिलती है और मनुष्य-जीवनके सभी अगो पर प्रकाश डालती है, वह अक्षराकित भी नही होती। इसी सामग्रीकी समसा-मयिकताको सिद्ध करनेके लिए तीसरे और चौथे प्रमाणोकी आवश्यकता होती है।

ऐतिहासिक सामग्रियोमें प्रत्यक्षदर्शी लेखका, अपनी जबान खोलकर सन्-सवत्के साथ घटनाओका वर्णन करना, ऐतिहासिक प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह अक या आकारसे अपने काल मात्रको बतलाता है, तबभी वह अपने साथके बर्तन, दीवार, जेवर, मूर्ति आदिके बारेमें इतनी गवाही दे ही जाता है कि, इतने समयतक हमसब साथ रहे है। उस समयकी सभ्यता आदि सम्बन्धी बातें तो अब आपको उनकी मूक भाषासे मालूम करनी होगी। हाँ, यहाँ यह भी हो सकता है कि, भिन्न कालमें बनी वस्तुएँ और लेख पीछे वहाँ इकट्ठे कर दिये गये हो, किन्तु वह तो तभी हो सकता है, जब कि सग्रहालय (म्यूजियम) की तरह वहाँ भी इकट्ठा करनेका कोई मतलब हो। लेखोंके साथ कुछ और चीजें भी सभी जगह मिला करती हैं, और, यह भी देखा गया है कि, कालके अनुसार इनके आकार-प्रकारमें भेद होता रहता है। इसीलिये इन्हेभी काल-निर्णयमें प्रमाण माना जाता है।

दीहातमें भी लोग कहा करते है कि, "धरती माता प्रतिवर्ष जौ-भर मोटी होती जाती हैं।" यह बात सत्य है, लेकिन इतने सशोधनके साथ—'सभी जगह नही, और मोटाईका ऐसा नियत मान भी नहीं।' भारत में मोहन्-जोदडो वह स्थान है, जहाँ आज से चार-पांच हजार वर्ष की पुरानी वस्तुएँ

मिली हैं। लेकिन वहाँ आप, इन सब चीजोंको, वर्तमान तलसे भी ऊपर, टीलेपर पाते हैं। हड़प्पामें भी करीब-करीब वही बात है। हाँ, इस तरहके अपवादोंके साथ पृथ्वीके मोटे होनेका नियम उत्तर भारतमें लागू है । पृथ्वी कितनी मोटी होती जाती है, इसका कोई पक्का नाप-नियम नहीं है। इसके लिए कुछ जगहोंकी खोदाईमें मिले भिन्न-भिन्न तलोंकी सूची दी जाती है—

काल	गहराई (फुट)	स्थान
ई० पू० ८वीं शताब्दी	२१,२०	[1]भीटा (इलाहाबाद)
,, चौथी-पाँचवीं ,,	१७	,,
मौर्य-काल		
(ई० पू० तृतीय शतक)	१६	,,
,,	१५	पटना
,,	१३	रमपुरवा (चम्पारन)
,,	गुप्त + ६, ९½	सारनाथ (बनारस)
कुषाण-काल		
(ई० पू० प्र० श०)	१३	भीटा (इलाहाबाद)
,, (ई० चतुर्थ-षष्ठ श०)	१०-६	कसया (गोरखपुर)
,,	१०	,,
कुषाण-काल	१०	बसाढ़ (मुजफ्फरपुर)
,,	९	भीटा (इलाहाबाद)
,,	८	,,
,,	७	पटना

गहराईकी भाँति ईंटें भी काल-निर्णयमें बहुत सहायक होती हैं, क्योंकि देखा जाता है कि, जितनीही ईंटें बड़ी होती हैं, उतनीही अधिक पुरानी होती हैं । यद्यपि यह नियम सामान्यत सर्वत्र लागू है, तो भी कहीं-कहीं इसके

१ भीटाका पुराना नाम सहजाती था। वहाँकी खुदाईमें एक मुहर भी मिली है, जिसमें "शहजतिये निगमश" (सहज[illegible]) [illegible] है—दे० "बुद्धचर्या"।

अपवाद मिलते है। गुप्त-कालकी भी ईंटें कभी-कभी मौर्य-कालकी-सी मिली हैं, किन्तु उनमें वह ठोसपन नही हैं। (जैसे-जैसे जगल कटते गये, वैसेही वैसे लोग लकडीको किफायत करने लगे, और, इसीलिये, इंधनकी कमीके लिये ईंटोंकी मोटाई आदिको कम करने लगे।) मोहन्‌जोदडो और हडप्पा सर्वथा ही इसके अपवाद हैं। वहांकी ईंटें तो आज-कलकी अग्रेजी ईंटो जैसी लम्बी— किन्तु, कम मोटी हैं। नीचेकी सूचीसे भिन्न-भिन्न कालकी ईंटोका कुछ अनुमान हो सकेगा—

काल	आकार (इंच)	स्थान	
ई० पू० चतुर्थ श०	१६×१०½×३	पिपरहवा	(वस्ती)
,,	१५×१०×३	,,	
मौर्य-काल			
(ई० पू० तृतीय श०)	२०×१४⅓×३¼	भीटी	(वहराइच)
,,	१९½×१२½×३½	सारनाथ	(वनारस)
,,	१९×१०×३	कसया	(गोरखपुर)
,,	१८×१०×२¾	,,	
[1]कुपाणो से पूर्व	१७½×१०¾×२½	भीटा	(इलाहावाद)
,,	१४×१०¼×२¼	सहेटमहेट	(गोंडा)
,,	१४×१०×२	,,	
,,	१४×९×२	,,	
कुपाण	१५×१०⅓×२¾	सारनाथ	(वनारस)
गुप्त	१४×८×२½	सहेटमहेट	(गोंडा)
,,	१२×९×२	,,	
ईस्वी छठी-सातवी सदी	१२½×८½×२	,,	
ई० सातवीं-आठवी सदी	१२×९×२	,,	
ई० दमवीं-ग्यारहवी सदी	१२×९×२	,,	
,,	९½×९½×२	,,	
,,	७×५×२	,,	

१ ई० पू० प्रथम और ईस्वी सन् प्रथम शताब्दियां।

३. बसाढ़की खुदाई

हाजीपुरसे १८ मील उत्तर, मुजफ्फरपुर जिलेमें, वसाढ (वनिया वसाढ) गांव है, जिसके पासके गांव वखरामें अशोक-स्तम्भ है। वसाढकी खुदाईमे ईस्वी सन्‌से पूर्वकी चीजें मिली है। खुदाईके सम्बन्धमें कुछ लिखनेके पूर्व स्थानके वारेमे कुछ लिख देना उचित होगा।

वैशाली प्राचीन वज्जी-गण-तन्त्रकी[1] राजधानी थी। वज्जीदेशके शासक क्षत्रियजातिका नाम लिच्छवि था। जैन-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, इसकी ९ उपजातियां थी। इन्हीका एक भेद[2] ज्ञातृ जाति था, जिसमें पैदा होनेके कारण जैनधर्म-प्रवर्तक वर्धमान (महावीर) को नातपुत्र या ज्ञातृपुत्र कहते हैं। पाणिनिने भी "मद्रवृज्जयो कन्" (अष्टाध्यायी ४।२।३१) सूत्रमें इसी, वज्जी को वृज्जी कहकर स्मरण किया है। वुद्धके समय वज्जी-गण-राज्य उत्तरी भारतकी पांच प्रधान राजशक्तियों-अवन्ती, वत्स, कोसल, मगध, और वज्जी—में मे एक था। इस गणराज्यका शासन कव स्थापित हुआ, यह निश्चय रूपसे नही कहा जा सकता। इनके न्याय, प्रवन्ध आदिका पाली-ग्रन्थोमें जहाँ-तहाँ वर्णन है। वुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष वाद, प्राय ई० पू०४८० में, वज्जी-गणतन्त्रको मगधराज अजातशत्रुने, विना लडे-भिडे, जीता था। पीछे तो मगध-साम्राज्यके विस्तारमें लिच्छविजातिने वडा ही काम किया। लिच्छवियोंके प्रभाव और प्रभुतत्वको हम

---

१ वज्जीदेशमें आजकलके चम्पारन और मुजफ्फरपुरके जिले, दरभंगेका अधिकांश तथा छपरा जिलेके मिर्जापुर, परसा, सोनपुरके थाने एवम् कुछ और भाग सम्मिलित थे।

२ रत्ती परगनेमें (जिसमें कि वसाढ़ गांव है) जिन जथरियोकी सवसे अधिक वस्ती है, वह यही पुराने ज्ञातृ है, जो भूत कालमें इस वलशाली गणतन्त्रके सञ्चालक, और जैन-तीर्थंकर महावीरके जन्मदाता थे। देखो ज्ञातृ = जथरिया (६) भी।

गुप्त-काल तक पाते है। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्तलिच्छवि-दौहित्र होनेका अभिमान करता है। कितनेही विद्वानो का मत है कि, गुमनाम गुप्तवशको साम्राज्य-शक्ति प्रदान करनेमें चन्द्रगुप्तका लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवीके साथ विवाह होना भी एक प्रधान कारण था। इस विवाह-सम्बन्ध के कारण चन्द्रगुप्तकोवीर[1] लिच्छवि जातिका सैनिक वल हाथ लगा था। गुप्तवशका सवसे प्रतापी सम्राट् समुद्र-गुप्त उसी लिच्छविकुमारी कुमारदेवीका पुत्र था। कौन कह सकता है, उसको अपनी दिग्विजयो में अपने मामाके वशसे कितनी सहायता मिली। गुप्तवशके वाद हम लिच्छवियोंका नाम नही पाते। युन्-च्वेड्के समय वैशाली उजाडसी थी। वेतिया का राजवश उक्त लिच्छविजातिके जथरियावशके अन्तर्गत है[2]।

वैशाली नामके वारेमें पाली-ग्रन्थोमें लिखा है कि, दीवारोंको तीन वार हटाकर उसे विशाल करना पडा; इसीलिये नगरका वैशाली नाम पडा। फलत वैशाली का ध्वंसावशेपका दूरतक होना स्वाभाविक है। वैशाली नगर कहाँ तक था और कहाँ नगरके वाहरवाले गाँव थे, इसका अभीतक निश्चय नही किया गया। अभीतक जो भी खुदाईका काम हुआ है, वह सिर्फ वसाढके गढमें ही हुआ हैं। वसाढके आसपास कोसोतक पुरानी वस्तियो के निशान मिलते है। वनाड और वनिया गाँव न सिर्फ स्वय पुरानी वस्तियोपर वसे हैं, वल्कि उनके आसपास भी ऐसी वहुत भूमि है, जिसके नीचे भूतकालके सन्देशवाहक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

वैसे तो वसाढके लोगोको मालूम था कि, उनका गाँव राजा विशालकी राजधानी है, किन्तु सेंट मार्टिन और जनरल कनिंघम प्रथम सज्जन थे, जिन्होंने वसाढके ध्वंसावशेपोंकेलिये पुरानी वैशाली होनेका सकेत किया। तो भी वनाढमें

---

१ आज भी जथरिया जाति लड़ने-भिडनेमें मशहूर है।

२ जिस प्रकार नन्द और मौर्य भारतके प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य-स्थापक थे, वैसे ही वज्जी ऐतिहासिक कालका एक महान् शक्तिशाली गणराज्य था। क्या यह अच्छा न होगा कि, मुजफ्फरपुरवाले उसकी स्मृतिमें प्रतिवर्ष एक लिच्छविगणतन्त्र-सप्ताह वनावें, जिसमें और वातोंके साथ योग्य विद्वानोंके गण-तन्त्र-सम्बन्धी भाषण न कराये जायें? लिच्छवि-गणराज्य भारतीयोंके जन-सत्तात्मक मनोभावका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

सनियम खुदाईका काम सन् १९०३ ई० तक नहीं हुआ था। १९०३-४ ई०के जाडोमें डा० ब्लाश्के अधिनायकत्वमें वहाँकी खुदाई हुई। उसके बाद, १९१३-१४ ई०में, फिर डाक्टर स्पूनरने खुदाईका काम किया। यह दोनोंही खुदाइयाँ राजा विशालके ही गढपर हुई। डाक्टर ब्लाश् (*Bloch*) अपनी खुदाईमें गुप्त-कालके आरम्भ (चौथी शताब्दीके आरम्भ) तक पहुँचे थे और डाक्टर स्पूनरका दावा मौर्य (ई० पू० तीसरी शताब्दी) तक पहुँचनेका था। यद्यपि जिस मुहरके बलपर उन्होंने ई० पू० तीसरी शताब्दी निश्चय किया, उसे स्व० राखालदास बन्द्योपाध्याय जैसे पुरालिपिके विद्वान्ने ई० पू० प्रथम शताब्दीका बतलाया, और यह अक्षरोंको देखनेसे ठीक जँचता है।

राजा विशालका गढ दक्षिणको छोडकर तीन तरफ जलाशय से घिरा है, और, वर्षा तथा शीतकालमें दक्षिणकी ओरसे—जिधर बसाढ गाँव है—ही गढपर जाया जा सकता है। डाक्टर ब्लाश्की नापसे गढ उत्तर ओर ७५७ फुट, दक्षिण ओर ७८० फुट, पूर्व ओर १६५५ एव पश्चिम ओर १६५० फुट विस्तृत है। सारी खुदाईमें सिर्फ एक छोटीसी गणेशकी मूर्ति डा० ब्लाश्को मिली थी, जिससे सिद्ध होता है कि, गढ़ धार्मिक स्थानोंसे सम्बन्ध न रखता था। गुप्त, कुषाण तथा प्राक्-कुषाण मुहरोंको देखनेसे साफ मालूम होता है कि, यह राज्याधिकारियोंका ही केन्द्र रहा है। वैसे गढको छोडकर बसाढ़में दूसरी जगह भी अकसर पुरानी मूर्तियाँ मिलती हैं। गढ़से पश्चिम तरफ, बावन-पोखरके उत्तरी भीटेपर, एक छोटासा आधुनिक मन्दिर है। वहाँ आप मध्यकालीन खण्डित कितनी ही—बुद्ध, बोधि-सत्व, विष्णु, हर-गौरी, गणेश सप्तमातृका एव जैनतीर्थंकरोंकी—मूर्तियाँ पावेंगे।

गढकी खुदाईमें जो सबसे अधिक और महत्वपूर्ण चीजें मिली वह हैं महा-राजाओं, महारानियों तथा दूसरे अधिकारियों की स्वनामांकित कई सौ मुहरें। डाक्टर ब्लाश् अपनी खुदाईमें ऊपरी तलसे १० या १२ फीट तक नीचे पहुँचे थे। उनका सबसे निचला तह वह था, जहाँसे आरम्भिक गुप्त-कालकी दीवारोंकी नींव शुरू होती है। ऊपरी तलसे १० फीट नीचे "महा-राजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१३)—पत्नी, महाराज श्रीगोविन्द-गुप्तमाता, महादेवी श्रीध्रुवस्वा-मिनीकी मुहर मिली थी। जिस घरमें वह मिली थी, वह देखनेमें चहबच्चाघर-सा

मालूम होता था, इसलिये उस समयका साधारण तल इससे कुछ फुट ऊपर ही रहा होगा। डा० स्पूनर और नीचे तक गये। वहां उन्हें ई० पू० प्रथम शताब्दीकी वेसालिअनुसयानक वाली मुहर मिली। डा० ब्लाश् को सबसे बडी ईंट १६½ × १० × २ इंच नाप की मिली थी। एक तरहके खपडेभी मिले, जो बिहारमें आज-कल पाये जानेवाले खपडोंसे भिन्न हैं। इस तरहके खपडे लखनऊ म्यूजियममें भी रखे हैं, जो युक्तप्रान्त में कही मिले थे। इनकी लम्बाई-चौडाई (इंच) निम्न प्रकार है —

८ × २½	८¼ × २
५½ × २½	८¼ × २¾
७½ × २	११ × २

यद्यपि गढकी खुदाईमें हाथी-दांतका दीवट (दीपावानी) तथा और भी कुछ चीजें मिली थी, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण कई सौ मुहरें हैं। गुप्तकालसे पूर्वकी मुहरें बहुत थोडी मिलती हैं, उनमेंसे एकपर निम्न प्रकारका लेख है —

"वेसालि अनु + + + + ट + + कारे सयानक"

इसमें वेसालि अनुसयानकको वेसालीअनुसयानक बनाकर डाक्टर फ्लीटने "वैसालीका दौरा करनेवाला अफसर" अर्थ किया है, और, "टकारे" के लिये कहा है—यह एक स्थानके नामका अधिकरण (सप्तमी) में प्रयोग है। अशोकके लेखोंमें पांच-पांच वर्षपर खास अफसरोंके अनुसयान या दौरा करनेकी बात लिखी है। उसीसे उपर्युक्त अर्थ निकाला गया है। किन्तु सिवा वेसालि शब्दके, जोकि, स्थानको बतलाता है, और अर्थ अनिश्चितसे ही हैं।

दूसरी मुहरमें है—

"राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्र सिंहस्य दुहितु
राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामीरुद्रसेनस्य
भगिन्या महादेव्या प्रभुदमाया"

'राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंहकी पुत्री, राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसेनकी वहन महादेवी प्रभुदमाकी ।'

महाक्षत्रप रुद्रसिंह और उनके पुत्र रुद्रसेन चष्टन-रुद्रदामवशीय पश्चिमीय क्षत्रपोंमेंसे थे, जिनकी राजधानी उज्जैन थी। रुद्रसिंह और रुद्रसेनका राज्यकाल

सार्थवाह (सार्थवाह दोड्ड

प्रथम-कुलिक[1] { (१) प्रथमकुलिकहरि ।
(२) प्रथमकुलिकोग्रसिंहस्य ।

कुलिक { (१) कुलिक भगदत्तस्य ।
(२) कुलिक गोरिदासस्य ।
(३) कुलिक गोण्डस्य ।
(४) कुलिक हरि ।
(५) कुलिक ओमभट्ट ।

इनके अतिरिक्त कुछ मुहरें राजा, युवराज तथा उनसे विशेष सम्बन्ध रखनेवालोकी भी हैं। जैसे—

(१) महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त पत्नी महाराज श्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी ।

(२) श्रीपर (मभट्टारक) पादीय कुमारामात्याधिकरण ।

(३) श्रीयुवराजभट्टारकपादीय कुमारामात्याधिकरण ।

(४) युवराजभट्टारकपादीय बलाधिकरणस्य ।

इनके अतिरिक्त रणभाण्डागाराधिकरण, दण्डपाशाधिकरण, दण्डनायक (न्याय-मन्त्री) और भटाश्वपति (घोडसवार, सेनापति आदि) की मुहरें मिली हैं—

(१) महादण्डनायकाग्निगुप्तस्य ।

(२) भटाश्वपतियक्षवत्सस्य (?)

युवराज भट्टारकपादीय-कुमारामात्याधिकरण देखकर तो मालूम होता है, तीर-भुक्तिके 'उपरिक' स्वय युवराजही होते थे। द्वितीय गुप्तसम्राट् अपनेको

---

१ नगरमें श्रेष्ठी और सार्थवाह एक-एक हुआ करते थे । निगमसभाके बाकी सदस्य सब्कुलिक कहे जाते थे, जिनमें प्रमुखको 'प्रथम कुलिक' कहा जाता था। यही कारण है, जो मुहरोंमें सबसे अधिक कुलिकोंकी मुहरें हैं।

लिच्छवि-दौहित्र कहकर जिस प्रकार अभिमान प्रकट करता है, उससे वैशालीको यह सम्मान मिलना असम्भवभी नही मालूम होता।[1]

---

१ जैनधर्मके लिए वैशालीका कितना महत्व है, यह तो उसके प्रवर्त्तक वर्धमान महावीरके वहाँ जन्म लेनेसे ही स्पष्ट है। बौद्धधर्ममें भी वैशालीके लिए बडा गौरव है: वैशालीमें ही बुद्धने, सन् ५२५-५२४ ई० पू० में, स्त्रियोको भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था। बुद्धने यहीं अपना अन्तिम वर्षावास किया था। बुद्धके निर्वाणके सौ वर्ष बाद सन् ३८३ ई० पू० में, यहीं, बुद्धके उपदेशोकी छानबीनके लिए, भिक्षुओने द्वितीय संगीति (सभा) की थी। बुद्धने भिक्षु-संघके सामने लिच्छवि-गणराज्यको आदर्शकी तरह पेश किया था। भिक्षु-संघके 'छन्द' (=वोट) दान तथा दूसरे प्रबन्धके ढगोमें लिच्छवि-गण-तन्त्रका अनुकरण किया गया है।

४. श्रावस्ती

वुद्धके समय उत्तर भारतमें पांच वडी शक्तियां थी—कोसल, मगध, वत्स, वृजी और अवन्ती। इनमें वृजी (वैशाली)में लिच्छवियोका गणराज्य था। कोसल और कोसलके आवीन गणराज्यके सम्वन्धमें भी वहुत-सी वातोका पता लगता है। कोसलकी राजधानी श्रावस्ती थी, श्रावस्तीके सम्वन्धमें त्रिपिटक और उसकी टीकाओ (अट्ठकथाओ) में वहुत मिल्ता है । इसके अतिरिक्त फाहियान, यून्-च्वेङ्के यात्राविवरण, ब्राह्मण और वौद्ध सस्कृत गन्थो तथा जैन प्राकृत-सस्कृत ग्रन्थोमें भी वहुत सामग्री है । किन्तु इन सव वर्णनोसे पालि-त्रिपिटकमें आया वर्णनही अधिक प्रामाणिक है। ब्राह्मणोके राम्रायण, महा-भारतादि ग्रथोका सस्करण वरावर होता रहा है, इसीलिए उनकी सामग्रीका उपयोग वहुत सावधानीसे करना पडता है। जैन गन्थ ईसवी पाँचवी शताव्दीमें लिपिवद्ध हुए, इसीलिये परम्परा वहुत पुरातन होनेपर भी, वह पालित्रिपिटकसे दूसरे ही नम्वरपर है। पालि-त्रिपिटक ईसा पूर्व प्रथम शताव्दीमें लिपिवद्ध हो चुके थे। जो वात ब्राह्मणग्रन्थोके सम्बन्धमें है, वही महायान वौद्ध सस्कृत ग्रन्थोके सम्वन्धमें भी है।

श्रावस्ती उस समय काशी (आजकलके वनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ, गाजीपुरके अधिकाश भाग), और कोसल (वर्तमान अवध) इन दो वडे और समृद्धिशाली देशोकी राजधानी होनेसे ऊँचा स्थान रखती थी। इसके अतिरिक्त वुद्धके धर्मप्रचारका यह प्रधान केन्द्र था। इसीलिये वौद्ध साहित्योमें इसका स्थान और भी ऊँचा है। बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तकर पैंतालीस वर्ष तक धर्म-प्रचार किया। प्रति वर्ष वर्षाके तीन मास वह किसी एक स्थानपर बिताते थे। उन्होने अपने पैंतालीस वर्षावासोमेंसे पच्चीस यही विताये। सूत्रो और विनयके अधिक भागका भी उन्होने यही उपदेश किया। ईसा पूर्व ४८३ वर्षमें बुद्धका निर्वाण हुआ, यही अविक विद्वानोको मान्य है। उन्होने अपना प्रथम वर्षावास (ई० पू० ५२७)

ऋषिपतन-मृगदाव (सारनाथ, वनारस) में विताया। अट्ठकथा[1] के अनुसार चौदहवाँ, तथा इक्कीसवेंसे चौंतालीसवें (ई० पू० ५०७–४८२ = वि० स० पूर्व ४५०–४२५) वर्षावास उन्होंने यही विताये।

श्रावस्तीके नाम-करणके विषयमें मज्झिमनिकायके सव्वासवसुत्त (१।१।२) में कहा गया है—"सावत्थी (श्रावस्ती)—सवत्थ ऋषिकी निवासवाली नगरी, जैसे काकन्दी माकन्दी। यह अक्षर-चिन्तको (= वैयाकरणो) का मत है। अर्थ-कथाचार्य (भाष्यकार) कहते हैं—जो कुछ भी मनुष्योंके उपभोग परिभोग है, सब यहाँ है (सव्व अत्थि) इसलिए इसे सावत्थी (श्रावस्ती) कहते हैं, बजारोंके जुटनेपर 'क्या चीज है' पूछनेपर "सब है, इस वातसे सावत्थी[2]।"

श्रावस्ती कहाँ थी? "कोसलान पुर रम्म" वचनसे ही मालूम हो जाता

---

१ 'तथागतो हि पठमवोधिय वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा यत्थ यत्थ फासुक होति तत्थ तत्थेव गन्त्वा'वसि। पयमक अन्तोवस्स हि...धम्मचक्क पवत्तेत्वा..वाराणसि उपनिस्साय इसिपतने वसि..। चतुद्दसम जेतवने पचदसम कपिलवत्थुस्मि...। एवं वीसति वस्सानि अनिवद्धवासो हुत्वा, यत्थ यत्थ फासुक होति तत्थ तत्थेव वसि। ततो पट्ठाय पन द्वे सेनासनानि धुवपरिभोगानि अहोसि। कतरानि द्वे?—जेतवनञ्च पुव्वारामञ्च। ..। उदुवस्स चारिक चरित्त्वापि हि अन्तो वस्से द्विसु येव सेनासनेसु वसति। एव वसन्तो पन जेतवने रत्तिं वसित्त्वा पुन दिवसे.....दक्खिणद्वारेन निक्खमित्त्वा सावत्थि पिण्डाय पविसित्त्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्त्वा पुव्वारामे दिवाविहार करोति। पुव्वारामे रत्तिं वसित्त्वा पुनदिवसे पाचीन-द्वारेन...जेतवने दिवाविहार करोति।"

—(अङ्गुत्तर० अट्ठकथा, हेवाविताररणे ३१४ पृष्ठ)

२ सावत्थीति सवत्थस्स इसिनो निवासट्ठानभूता नगरी, यथा काकन्दी माकन्दी'ति। एव ताव अक्खरचिंतका। अट्ठ कथाचरिया पन भणन्ति—य किंच मनुस्सान उपभोग परिभोग सव्वमेत्य अत्थीति सावत्थी। सत्थ-समायोगे च किं भण्डं अत्थीति पुच्छिते सव्वमत्थीति वचनमुपादाय सावत्थी—

सब्बदा सब्बूपकरण सावत्थियं समोहित।
तस्मा सब्बमुपादाय सावत्थी'ति पवुच्चति॥

है, कि वह कोसल देशमें थी। पाली ग्रन्थोंमें कितनी ही जगहोंपर श्रावस्तीकी दूसरे नगरोंसे दूरी भी उल्लिखित मिलती है—

१—"राजगृह कपिलवस्तुसे साठ योजन दूर, और श्रावस्ती पन्द्रह योजन। शास्ता (=बुद्ध) राजगृहसे पैंतालीस योजन आकर श्रावस्तीमें विहरते थे।"[1]

२—"पुक्कसाती (=पुष्करसाती) नामक कुलपुत्र (तक्षशिलासे) आठ कम दो सौ योजनपर जेतवनके सदरदरवाजेके पाससे जाते हुए।"[2]

३—"मच्छिकासण्डमे सुधर्म स्थविर क्रुद्ध हो शास्ताके पास (जेतवन) जाकर .. । शास्ताने (कहा) यह बडा मानी है, तीस योजन मार्ग जाकर पीछे आवे ।"[3]

४—"दारुचीरिय　सुप्पारक बन्दरके किनारे पहुँचा।　तब उसको देवताने बताया—हे वाहिक, उत्तरके जनपदोंमें श्रावस्ती नामक नगर है, वहाँ

कोसलान पुर रम्म वस्सनेय्य मनोरमं।
दस हि सद्देहि अविवित्त अन्नपानसमायुतं॥
वुड्ढि वेपुल्लत पत्त इद्ध फीत मनोरम।
आलकमन्दाव देवान सावत्थी पुरमुत्तमं॥
—(मज्झिमनिकाय अ० क० १।१।२)

१ "राजगहं कपिलवत्थुतो दूर सट्ठि योजनानि, सावत्थी पन पञ्चदस। सत्था राजगहतो पञ्चचत्तालीसयोजन आगन्त्वा सावत्थियं विहरति।"
—(म० नि० अ० क० १।३।४)

२ "पुक्कसाति नाम कुलपुत्तो (तक्कसिलातो) अट्ठ हि ऊनकानि द्वे योजनसतानि गतो जेतवनद्वारकोट्ठकस्स पन समीपे गच्छन्तो..."
—(मज्झिम नि० अट्ठ० ३।४।१०)

३ "मच्छिकासण्डे सुधम्मत्थेरो.. कुज्झित्वा सत्थुसन्तिकं (जेतवने) गन्त्वा। सत्था. .मानत्थद्धो एस तिंसयोजन ताव मग्ग गत्वा पच्छा-गच्छतु"।
—(धम्मपद-अट्ठ० हेवाभितारणे पृ० २५०)

वह भगवान् विहरते हैं। . (वह) एक सौ वीस योजनका रास्ता एक-एक रात वास करते हुए ही गया।"[1]

५—"शास्ता जेतवनसे निकलकर क्रमश अग्गालव विहार पहुँचे। शास्ताने (सोचा)—जिस कुल-कन्याके हितार्थ तीस योजन मार्ग हम आये।"[2]

६—"श्रावस्तीसे सकाश्य नगर तीस योजन।"[3]

७—"उग्र नगर निवासी उग्र नामक श्रेष्ठि-पुत्र अनाथपिंडकका मित्र था। . . छोटी सुभद्रा यहाँ (श्रावस्ती) से एक सौ वीस योजनपर वसती है।"[4]

८—"उस क्षण जेतवनसे एक सौ वीस योजनपर कुररघरमें।"[5]

९—"तीस योजन . (जाकर) अगुलिमालका।"[6]

१०—"महाकप्पिन एक सौ वीस योजन आगे जा चद्रभागा नदी के तीर बरगदकी जडमें बैठे।"[7]

---

१ "दारुचीरयो. . . .सुप्पारकपत्तनतीर ओक्कामि। . . . . अयस्स देवता आचिक्खि—अत्थि वाहिय, उत्तरेसु जनपदेसु सावत्थिनाम नगर तत्थ सो भगवा विहरति। . . (सो) वीसं योजनसतिकं मग्ग एकरत्तिवासेनेव अगमासि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ८।२ उदान अट्ठ० १।१०)

२ "सत्था जेतवना निक्खमित्त्वा अनुपुब्बेन अग्गालवविहार अगमासि। . . . . सत्था—यमह कुलधीतर निस्साय तिसयोजनमग्गो आगतो।"

—(धम्मपद-अट्ठ० १३।७,१५।५)।

३ "सावत्थितो सकस्सनगर तिसयोजनानि"।—(धम्मपद-अट्ठ० १४।२)

४ "अनाथपिण्डिकस्स . . . .उग्गनगरवासी उग्गो नाम सेट्ठि पुत्तो सहायको। . . . . . .चूल सुभद्दा दूरे वसति इतो वीसतियोजनसतमत्थके . . ."

—(धम्म० अट्ठ० २१।८)

५ "तस्मिं खणे जेतवनतो वीसं योजनसतमत्थके कुररघरे . ."

—(धम्म० अट्ठ० २५।७)

६ "तिसयोजनं . . . अगुलिमालस्स"।—(मज्झिम० अट्ठ १३।४)

७ "महाकप्पिनराजा . . . .। . . .वीस योजनसत पच्चुग्गत्वा चन्द्रभागाय नदियातीरे निग्रोधमूले निसीदि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ६।४)

श्रावस्ती

वह भगवान् विहरते हैं।.. (वह) एक सौ वीस योजनका रास्ता एक-एक रात वास करते हुए ही गया।"[1]

५—"शास्ता जेतवनसे निकलकर क्रमश अग्गालव विहार पहुँचे। शास्ताने (सोचा)—जिस कुल-कन्याके हितार्थ तीस योजन मार्ग हम आये।"[2]

६—"श्रावस्तीसे संकाश्य नगर तीस योजन।"[3]

७—"उग्र नगर निवासी उग्र नामक श्रेष्ठि-पुत्र अनाथपिंडकका मित्र था। छोटी सुभद्रा यहाँ (श्रावस्ती) से एक सौ वीस योजनपर वसती है।"[4]

८—"उस क्षण जेतवनसे एक सौ वीस योजनपर कुररघरमें।"[5]

९—"तीस योजन (जाकर) अगुलिमालका।"[6]
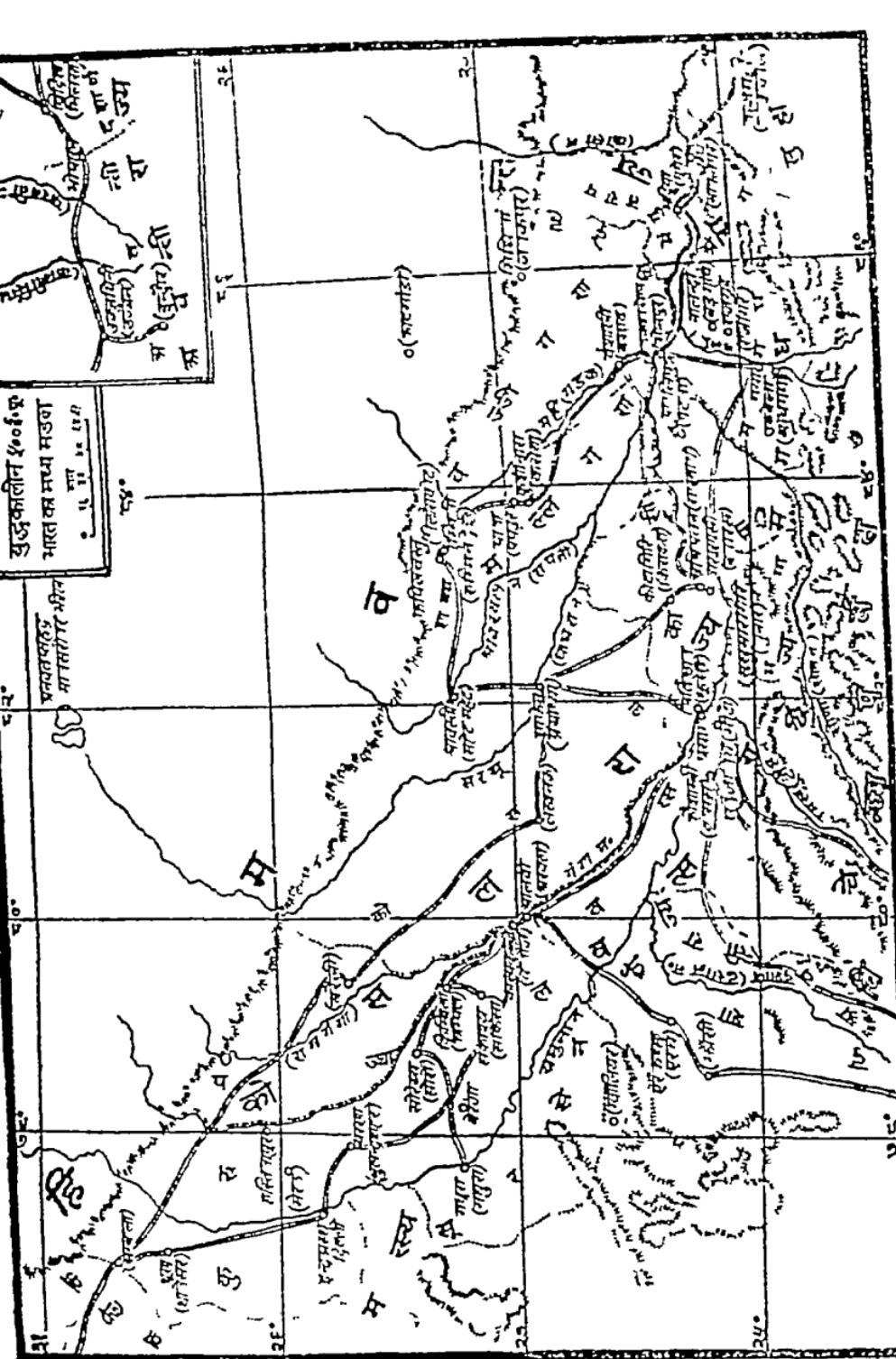
१०—"महाकप्पिन एक सौ वीस योजन आगे जा चद्रभागा नदी के तीर वरगदकी जडमें वैठे।"[7]

---

१ "दारुचीरयो....सुप्प।रकपत्तनतीर ओक्क।।ि।.... अयस्स देवता आचिक्खि—अत्थि वाहिय, उत्तरेसु जनपदेसु सावत्थिनाम नगर तत्थ सो भगवा विहरति।... (सो) वीसं योजनसतिक मग्गं एकरत्तिवासेनेव अगमासि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ८।२ उदान अट्ठ० १।१०)

२ "सत्था जेतवना निक्खमित्त्वा अनुपुब्बेन अग्गालवविहार अगमासि।.... सत्था—यमह् कुलधीतर निस्साय तिसयोजनमग्गो आगतो।"

—(धम्मपद-अट्ठ० १३।७,१५।५)।

३ "सावत्थितो सक्स्सनगर तिसयोजनानि"।—(धम्मपद-अट्ठ० १४।२)

४ "अनार्थापिडिकस्स.... .उग्गनगरवासी उग्गो नामं सेट्ठि पुत्तो सहायको।. ....चूल सुभद्दा दूरे वसति इतो वीसतियोजनसतमत्थके..."

—(धम्म० अट्ठ० २१।८)

५ "तस्मि खणे जेतवनतो वीस योजनसतमत्थके कुररघरे..."

—(धम्म० अट्ठ० २५।७)

६ "तिसयोजनं...अगुलिमालस्स"।—(मज्झिम० अट्ठ १३।४)

७ "महाकप्पिनराजा....।...वीसं योजनसतं पच्चुग्गत्वा चन्द्रभागाय नदियातीरे निग्रोधमूले निसीदि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ६।४)

श्रावस्ती

वह भगवान् विहरते हैं। (वह) एक सौ वीस योजनका रास्ता एक-एक रात वास करते हुए ही गया।"[1]

५—"शास्ता जेतवनसे निकलकर क्रमश अग्गालव विहार पहुँचे। शास्ताने (सोचा)—जिस कुल-कन्याके हितार्थ तीस योजन मार्ग हम आये।"[2]

६—"श्रावस्तीसे सकाश्य नगर तीस योजन।"[3]

७—"उग्र नगर निवासी उग्र नामक श्रेष्ठि-पुत्र अनाथपिंडकका मित्र था। . छोटी सुभद्रा यहाँ (श्रावस्ती) से एक सौ वीस योजनपर वसती है।"[4]

८—"उस क्षण जेतवनसे एक सौ वीस योजनपर कुररघरमें।"[5]

९—"तीस योजन (जाकर) अंगुलिमालका।"[6]

१०—"महाकप्पिन एक सौ वीस योजन आगे जा चंद्रभागा नदी के तीर बरगदकी जड़में बैठे।"[7]

---

१ "दारुचीरियो....सुप्पारकपत्तनतीरं ओक्कामि।.... अयस्स देवता आचिक्खि—अत्थि बाहिय, उत्तरेसु जनपदेसु सावत्थिनाम नगर तत्थ सो भगवा विहरति। .. (सो) वीस योजनसतिकं मग्गं एकरत्तिवासेनेव अगमासि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ८।२ उदान अट्ठ० १।१०)

२ "सत्था जेतवना निक्खमित्वा अनुपुब्बेन अग्गालवविहार अगमासि।.... सत्था—यमहं कुलधीतर निस्साय तिसयोजनमग्गो आगतो।"

—(धम्मपद-अट्ठ० १३।७,१५।५)।

३ "सावत्थितो सकस्सनगर तिसयोजनानि"।—(धम्मपद-अट्ठ० १४।२)

४ "अनाथपिंडिकस्स... .उग्गनगरवासी उग्गो नाम सेट्ठि पुत्तो सहायको।..... चूल सुभद्दा दूरे वसति इतो वीसतियोजनसतमत्थके..."

—(धम्म० अट्ठ० २१।८)

५ "तस्मिं खणे जेतवनतो वीस योजनसतमत्थके कुररघरे..."

—(धम्म० अट्ठ० २५।७)

६ "तिसयोजन...अंगुलिमालस्स"।—(मज्झिम० अट्ठ १३।४)

७ "महाकप्पिनराजा....।...वीस योजनसत पच्चुग्गत्वा चन्द्रभागाय नदियातीरे निग्रोधमूले निसीदि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ६।४)

११—"साकेत छै योजन।"[1]

ऊपरके उद्धरणोमें राजगृह, कपिलवस्तु, तक्षशिला, मच्छिकामड, सुप्पारक, अग्गालव विहार, सकाश्य, उग्रनगर कुररघर, अगुलिमालसे भेंट होनेका स्थान, चन्द्रभागा नदीका तीर, तथा साकेत—इन तेरह स्थानोंसे श्रावस्तीकी दूरी मालूम होती है। इन स्थानोमें कपिलवस्तु (तिलौरा कोट, नेपालतराई), राजगृह (राजगिरि, जिला पटना, विहार), साकेत अयोध्या, जि० फैजावाद, उ० प्र०), तक्षशिला (शाहजीकी ढेरी, जि० रावलपिंडी, पाकिस्तान), सुप्पारक (सुप्पारा, जिला सूरत, ववई), सकाश्य (सकिसा, जिला फर्रुखावाद उ० प्र०) तथा चद्रभागा नदी (चनाव, पजाव) यह सात स्थान निश्चित है।

पालीके शब्दकोश 'अभिधानप्पदीपिका'के अनुसार योजनका मान इस प्रकार है—

"अगुद्विच्छ विदत्थि, ता दुवे सियु।—
रतन, तानि सत्तेव, यट्ठि, ता वीसतूसभ।
गावूतमुसभासीति, योजन चतुगावुत।"

१२ अगुल = विदत्थि = (४ गिरह)
२ विदत्थि (वालिश्त) = रतन (हाथ)
७ रतन = १ यट्ठि (लट्ठा) = (३$\frac{1}{2}$ गज)
२० यट्ठि = १ उसभ (ऋसभ) = (७० गज)
८० उसभ = १ गावूत (गव्यूति) = (५६०० गज = (३ १८ मील)
४ गावूत = १ योजन = (१२$\frac{8}{11}$ मील)

अभिधर्मकोशमें[2] २४ अगुल = १ हस्त, ४ हस्त = १ धनु (= २ गज), ५०० धनु = १ कोश (= १००० गज), ८ कोश = १ योजन (= ४ ४५ मील) है।

---

१ महावग्ग, पृष्ठ २८७

२ चतुर्विंशतिरगुल्यो हस्तो, हस्तचतुष्टयम्।

धनु, पञ्चशतान्येषां क्रोशो,... . तेऽष्टौ योजनमित्याहु,
—(अभिधर्मकोश ३।८८–८)

श्रावस्तीके इस फासिलेको आधुनिक नकशेसे मिलानेपर--

	पुरातन		आधुनिक-
	योजन	मील	मील
कपिलवस्तु	१५	१९०'९	६२ ४
साकेत	७	७६.३६	५१.२
राजगृह	४५	५७२ ७२	२७६ ८
तक्षशिला	१९२	२४४३ ६२	७२४ ८
सुप्पारक	१२०	१७२७ २६	७९६ ८
सकाश्य	३०	३८१ ८१	१६९ ६
चन्द्रभागानदी	१२०	१७२७ २६	५९० ४

श्रावस्ती और साकेतका मार्ग चालू और फासिला थोडा था, इसलिये इसकी दूरीमें सन्देहकी कम गुजाइश है। ऊपरके हिसावसे योजन आठ मीलके करीव होगा।

श्रावस्ती कहां ?—

कोसल देशकी राजधानी श्रावस्तीको विद्वानोने उत्तरप्रदेशके गोडा जिलेका सहेट-महेट निश्चित किया है। उस समय कोसल नामका दूसरा कोई देश न था, इसीलिये उत्तर दक्षिण लगानेकी आवश्यकता न थी। छठी शताव्दीके (=विक्रम स० ५५८–६५७) वाद जव मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़का नाम भी कोसल पडा, तो दोनोको अलग करनेके लिये, इसे उत्तर कोसल और मध्यप्रदेश-वालेको दक्षिण कोसल या महाकोसल कहा जाने लगा। श्रावस्ती अचिरवती (=रापती) नदीकेतीर थी[1]। अचिरवती नगरके समीपही वहती थी, क्योकि हम देखते हैं कि नगर की वेश्याएँ और भिक्षुणियां यहां साधारणत स्नान करने

१ "इध भन्ते भिक्खुनियो अचिरवतिया नदिया वेसियाहि सद्धि नग्गा एकतित्थे नहायन्ति।....अनुजानामि ते विसाखे अट्ठवरानीति। ..."
—(महावग्ग चीवरक्खन्धे, ३२७)

जाया करती थी। मज्झिम-निकाय अट्ठकथामें[1] कहा गया है, कि यह नदी बहुत पुरातन (काश्यप बुद्ध) कालमें नगरको घेरकर बहती थी। उसने पुब्ब-कोट्ठकके पास बडा दह खोद दिया था। यह दह नहानेका बडा ही अच्छा स्थान था। यह स्थान सम्भवत महेटके पूर्वोत्तर कोनेपर था। इस दहके समीप तथा अचिरवतीके[2] किनारे ही राजमहल था। लेकिन साथ ही सुत्तनिपातकी अट्ठकथासे[3] पता लगता है कि अचिरवतीके किनारेवाले जौके खेत जेतवन और श्रावस्तीके बीचमें पडते थे। इसका मतलब यह है कि अचिरवती उस समय या तो जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिम ओर होती हुई बहती थी, अथवा पूर्वकी ओर। लेकिन पूर्व माननेपर, उसका राजमहलके (जो कि नौशहरा दर्वाजाके पूर्व तरफ था) के पाससे जाना सम्भव नही हो सकता। इसलिये उसका श्रावस्ती और जेतवनके पश्चिम होकर, राजगढ दर्वाजेसे होते हुए, वर्तमान नौखानमें होकर बहना अधिक सम्भव मालूम होता है। यह बात यद्यपि पाली उद्धरणके अनुसार ठीक जँचेगी, किन्तु भूमिको देखनेसे इसमें सन्देह मालूम होता है। क्योंकि जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिमी भागमें कोई ऐसा चिह्न नही है, जिससे कहा जाय कि यहाँ कभी नदी बहती थी। साथही पुरैना और अमहा तालोंके अति

---

२ कस्सपदसबलस्स काले अचिरवती नगर पारिक्खिपित्वा सन्दमाना पुब्बकोट्ठक पत्वा उदकेन भिन्दित्वा महन्त उदकदह मापेसि, समतित्थ अनुपुब्ब-गम्भीर।" —(म० नि० १।३।६; अ० क० ३७१)

३ "...राजा पसेनदी कोसलो मल्लिकाय देविया सद्धि उपरि पासाद-वरगतो होति। अद्दसा खो राजा पसेनदि...तेरसवग्गिये भिक्खू अचिरवतिया नदिया उदके कीलन्ते।...."—(पाचित्ति, अचेलकवग्ग पृ० १२७)

४ "भगवति किर सावत्थियं विहरन्ते अञ्ञतरो ब्राह्मणो सावत्थिया जेतवनस्स च अन्तरे अचिरवतीनदीतीरे यवं वपिस्सामीति खेत्त कसति।.... तस्स अज्ज वा स्वे वा लायिस्सामीति उस्सुक्क कुरुमानस्सेव महामेघो उट्ठहित्वा सब्बरत्ति वस्सि। अचिरवती नदी पूरा आगन्त्वा सब्ब यव वहि।"

—(सुत्त० नि० ४।१, अ० क० ४१९)

पुरातन स्तूपावशेष भी इसके लिये बाधक हैं। रामगढ दर्वाजेके पासकी भूमिमें भी ऐसी शक्ति नही है, जो अचिरवती ऐसी पहाडी नदीकी तेज धारके जल्दीके घुमावको सह सके। मालूम होता है, मूल परम्परामें ब्राह्मणके जौके खेतका अचिरवतीकी बाढसे नष्ट होना वर्णित था जिसके लिए खेतोका अचिरवतीके किनारे होना कोई आवश्यक नही। हो सकता है, सिंगिया नालाकी तरहका कोई नाला जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिम भागमें रहा होगा, या उसके विना भी जौके खेतका अचिरवतीकी बाढसे नष्ट होना विलकुल सभव है। अचिरवती-को बाढमे नष्ट होनेसे ही, खेतोको पीछे अचिरवतीके किनारे, समझ लिया गया। यह परिवर्तन मूल सिंहाली अट्ठकथाहीमें सम्भवत हुआ, जिसके आधारपर बुद्धघोषने अपनी अट्ठकथाएँ लिखी। अचिरवतीका श्रावस्तीके उत्तर और पूर्व-पश्चिम वहनेका एक और भी प्रमाण हमें मज्झिमनिकायसे[1] मिलता है। आनन्द श्रावस्तीमें भिक्षा करके पूर्वारामको जा रहे थे, उसी समय राजा प्रसेनजित् भी अपने हाथीपर सवार हो नगरसे बाहर निकला। राजाने पूर्वद्वार (कांदभारी दर्वाजा)से बाहर पूर्वद्वार और पूर्वारामके बीचमें कहीपर आनन्दको देखा। राजाने उस जगहसे अचिरवतीके किनारेपर आनन्दको चलनेकी प्रार्थना की। सम्भवत. उस समय अचिरवती सहेटके उत्तरी किनारेसे लगी हुई बहती थी। कच्ची

---

१ आयस्मा आनन्दो पुब्बहसमय... सावत्थियं पिण्डाय चरित्वा.... येन पुब्बारामो... तेन उपसकमि...। तेन खो पन समयेन राजा पसेनदि कोसलो एकपुण्डरीक नाग अभिरूहित्वा सावत्थिया निय्यासि दिवादिवस्स। अद्दसा खो राजा... दूरतो'व आगच्छन्त।....येनायस्मा आनन्दो तेनु'पसकमि।... एतदवोच—स चे भन्ते,·.न किञ्चि अच्चायिक करणीय, साधु,...येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनुपसकमतु अनुकम्प उपादाया'ति।....अथ खो... आनन्दो येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनु' पसकामि, उपसकमित्वा अञ्ञात-रस्मि रुक्खमूले पञ्ञत्ते आसने निसीदि।....अयं भन्ते ,अचिरवती नदी दिट्ठा आयस्मता चेव...अम्हेहि च, यदा उपरि पब्बते महामेघो अभिप्पवाहेति, अथाय अचिरवती नदी उभतो कूलानि संविस्सन्दन्ती गच्छति।"

—(म० नि० २।४।८)

कुटीके पासका स्तूप सम्भवत अनाथपिण्डकके घरको बतलाता है। अनाथपिण्डकका घर अचिरवतीके पास था, शायद इसीलिए हम जातकट्ठकथामें[१] देखते हैं, कि अनाथपिण्डकका बहुतसा भूमिमें गडा हुआ धन, अचिरवतीके किनारे के टूट जानेसे बह गया।

श्रावस्ती (१) अचिरवतीके किनारे थी, (२) कोसल देशमें साकेत (अयोध्या) से ६ योजनपर थी, तथा खुद्दकनिकायके पेतवत्थुके[२] अनुसार (३) हिमालय वहाँसे दिखलाई पडता था। यहाँ 'हिमवान्को देखते हुए' शब्द आया है, जिससे साफ है, कि श्रावस्ती हिमालयकी जडमें न होकर वहाँसे कुछ फासिलेपर थी, जहाँसे कि हिमालयकी चोटियाँ दिखलायी पडती थीं। महेटसे हिमालय चौबीसही मील दूर है, और खूब दिखलाई पडता है।

श्रावस्ती नगर

श्रावस्तीकी जनसंख्या[३] अट्ठकथाओंमें सात कोटि लिखी है, जिसका अर्थ हम यही लगा सकते हैं, कि वह एक बडा नगर था। यह बात तो कोसल जैसे बडे शक्तिशाली राज्यकी पुरानी राजधानी होनेसे भी मालूम हो सकती है। महापरिनिर्वाण सूत्रमें[४] जहाँ पर आनन्दने बुद्धसे कुशीनगर छोडकर किसी बडे नगरमें शरीर छोडनेकी प्रार्थना की है वहाँ बडे नगरोंकी एक सूची दी है।

---

१ "अचिरवतीनदीतीरे निहितधनं नदीकूले भिन्ने समुद्द पविट्ठ अत्थि।"
—(जातक १।४।१०)

२ "सावत्थि नाम नगर हिमवन्तस्स पस्सतो।" (पेतवत्थु० ४।६)।

३ "तदा सावत्थियं सत्तमनुस्सकोटियो वसन्ति। तेसु सत्थुधम्मकथं सुत्वा पञ्चकोटिमत्ता मनुस्सा अरियसावका जाता, द्वे कोटिमत्ता पुथुज्जना"
—(ध० प० १।१, अ० क० ३)

४ "मा भन्ते भगवा इमस्मिं कुड्डनगरके उज्जगलनगरके साखनगरके परिनिब्बायतु। सन्ति भन्ते अञ्ञानि महानगरानि, सेय्यथीदं चम्पा, राजगहं, सावत्थी, साकेतं, कोसम्बी, वाराणसी..."—(दी० नि० २।३।१३)

इस सूचीमें श्रावस्तीका उल्लेख है। इससे भी यह स्पष्ट है। निवासियोमें पाँच करोड लोग बौद्ध थे, इसका मतलब भी यही है कि श्रावस्तीके अधिवासियोकी अधिक सख्या बौद्ध थी। और यह इससे भी मालूम हो सकता है कि बुद्धके उपदेशका यह एक केन्द्र रहा।

उस समय मकानोंके बनानेमें लकडीका ही अधिकतर उपयोग होता था। इमारतें प्राय सभी लकडीकी थी। यद्यपि श्रावस्तीके बारेमें खास तौरसे नही आया है, तो भी राजगृहके वर्णनसे हम समझ सकते हैं कि शहरोंके चारो तरफके प्राकार भी लकडीकेही बनते थे। पाराजिक[1] (विनय-पिटक) में यह बात स्पष्ट है। मेगस्थनीजने भी पाटलिपुत्रके चारो ओर लकडीका ही प्राकार देखा था। (उस समय जब चारों ओर जगल ही जगल था, लकडीकी इफ़ात थी) लकडीका प्राकार उस धनुष-बाण के जमानेके लिए उपयुक्त था, इसीलिये हम पुराने पाटलिपुत्रको भी लकडीके प्राकारसे ही घिरा पाते हैं। बुलन्दी बागकी खुदाईमें इसके कुछ भाग मिले हैं।

श्रावस्तीमें मुख्यत चार[2] दर्वाजे थे, जिनमें तीन तो उत्तर[3], पूर्व और दक्षिण दर्वाजोंके नामसे प्रसिद्ध थे। इनमेंसे जेतवनसे नगरमें आनेका दर्वाजा दक्षिण द्वार था। पूर्व्वाराम पूरब दर्वाजेके[4] सामने था। इन्ही तीन द्वारोका

---

१ "अत्थि भन्ते, देवगहदारूनि नगरपटिसंखारिकानि आपदत्थाय निक्खित्तानि। स चे तानि राजा दापेति, हरापेय।" —(द्वितीय पराजिका)

२ "जेतवने रत्तिं वसित्वा पुनदिवसे...दक्खिणद्वारेन सावत्थिं पिण्डाय पविसित्वा पाचीन-द्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे दिवाविहार करोति।" —(मज्झि० १।३।६, अ० क० ३६९)

३ "पाचीनद्वारे सङ्घस्स वसनट्ठानं कातू ते युत्त विसाखे'ति।" —(धम्मपद प० ४।८ अ० क० १९९)

४ "पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्ख गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वार सन्धाय गच्छन्तञ्ञेव भगवन्त दिस्वा चारिकं पक्कमिस्सती'ति जानन्ति।" —(ध० प० ४।८, अ० क० २

वर्णन अधिकतर मिलता है। पश्चिम द्वारका होना भी यद्यपि स्वाभाविक है तथापि इसका वर्णन त्रिपिटक या अट्ठकथामें नही देखनेमें आता। अट्ठकथासे पता लगता है कि उत्तर द्वारके बाहर एक गाँव बसता था, जिसका नाम 'उत्तर द्वारगाम' था। यह 'उत्तर[1] द्वारगाम' नगरके प्राकार तथा नदीके मध्यकी भूमिमें झोपडियोका एक छोटा गाँव होगा।

विमानवत्थु[2] तथा उदान[3] -अट्ठकथामें 'केवटद्वार' नामक एक और द्वारका वर्णन किया गया है, जिसके बाहर केवटो (मल्लाहो) का गाँव बसा था। उस समय व्यापारकेलिए नदियोका महत्त्व अधिक था। अत केवट गाँवका एक बडा गाँव होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार हमको पिटक और उसकी अट्ठकथाओसे उत्तर, पूर्व, दक्षिण द्वार, तथा केवट्ट-द्वार इन चार दर्वाजोका पता लगता है। 'सहेट'के ध्वसावशेष, तथा उसके दर्वाजोका वर्णन डाक्टर फोगलने १९०७-८ के पुरातत्त्व-विभागके विवरणमें विस्तारपूर्वक किया है। वहाँ, उन्होने महेट (श्रावस्ती) का घेरा १७,२५० फीट या ३¼ मीलसे कुछ अधिक लिखा है। यद्यपि श्रावस्ती नगर ईसाकी बारहवी शताब्दीमें मुसलमानो द्वारा वीरान किया गया और इसलिए ईसा पूर्व छठी शताब्दीसे बारहवी शताब्दीके बीचकी अठारह शताब्दियोमें हेर-फेर होना बहुत स्वाभाविक है, तथापि इतना हम कह सकते है कि कोसल-राज्यके

---

१ "एकदिवसं हि भिक्खू सावत्थिय उत्तरद्वारगामे पिण्डाय चरित्वा... नगरमज्झेन विहार आगच्छन्ति। तस्मिन् खणे मेघो उट्ठाय पावस्सि। ते सम्मुखागत विनिच्छयसाल पविसित्वा, विनिच्छयमहामत्ते लञ्छ गहेत्वा सामिके असामिके करोन्ते दिस्वा, अहो इमे अधम्मिका .."

—(ध० प० १९।१, अ० क० ५२९)

२ "केवट्ट द्वारा निक्खम्म अहु मय्ह निवेसन।"

—(वि० व० २२)

३ "सावत्थिनगरद्वारे केवट्ट गामे....पञ्चकुलसतजेट्ठकस्स पुत्तो,... यसोजो...।"

—(उदान० ३,३। अ० क० ११९)

पतन (प्राय· ईसा पूर्व ४ या ५ शताब्दी) के वाद फिर उसे किसी वडे राज्यकी राजधानी वनानेका मौका न मिला। पाँचवी शताब्दीके आरम्भमें फाहियानने भी इसे दो सौ घरोका गाँव देखा था। युन्-च्वेङने भी इसे उजाड देखा। इसलिये इतना कहा जा सकता है, कि श्रावस्तीकी सीमा-वृद्धिका कभी मौका नही आया, और वर्तमान 'महेट'का १७,२५० फीटका घेरा श्रावस्तीकी पुरानी सीमाको वढाकर नही सूचित करता है।

श्रावस्ती भारतके वहुत ही पुराने नगरोमेंसे है, इसलिये उसके भीतर नियमपूर्वक खुदाई होनेसे अवश्य हमें वहुतसी ऐतिहासिक सामग्री हाथ लगेगी। हम पटनामें मौर्योंका तल, वर्तमान धरातलसे १७ फुट नीचे पाते हैं। श्रावस्तीमें भी वुद्धकालीन सामग्रीके लिए हमें उतना नीचे जाना पडेगा। डाक्टर फोगलने प्राकारोंके अनेक स्थानोपर ईंटें पाई हैं, जो तल और लम्बाई-चौडाईके विचारसे ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे ईस्वी दशवी शताब्दी तक की मालूम होती है। महेटके प्राकारमें जहाँ कही भी जमीन कुछ नीची जान पडती है, लोग उसे दर्वाजा कहते हैं, और ये आसपासके किसी वृक्ष या गाँवके नामसे मशहूर हैं। ऐसे दर्वाजे अट्ठाइसके करीव हैं। डाक्टर फोगलने इनकी परीक्षा करके इनमेंसे ग्यारहको ही दर्वाजा माना है, जिनमें उत्तर तरफ एक, पूर्व तरफ एक, दक्षिण तरफ चार और पश्चिम तरफ पाँच हैं। इनमेंसे कौन त्रिपिटक और अट्ठकथामें वर्णित चारो दर्वाजे हो सकते हैं, इस पर जरा विचार करना है।

उत्तर द्वार

ऊपरके उद्धरणसे मालूम होता है, जब वुद्ध उत्तर दरवाजेकी तरफ जाते थे तो लोग समझ लेते थे, कि अव वे विचरणकेलिए जा रहे हैं। इतनाही नही, वहाँ[1] ही हम भद्दियकेलिए प्रस्थान करते हुए उन्हे उत्तर द्वारकी ओर जाते देखते हैं। पर 'भद्दिया' अगदेशमें ('गगाके तटपर मुँगेरके आसपास) एक प्रसिद्ध व्यापारी नगर था। श्रावस्तीसे पूर्वकी ओर जानेवाला मार्ग उत्तर द्वार से था।

---

१ "अथेकदिवस सत्था...भद्दियनगरे...भद्दियस्स नाम सेट्ठिपुत्तस्स उपनिस्सयसम्पत्ति दिस्वा...उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि।"

—(ध० प० ४।८, अ० क० २८०)

इसके बाहर अचिरवतीमें[1] काठकी बोटोंका पुल रहता था। इससे पार होकर पूर्वका रास्ता था। उत्तर तरफके दर्वाजोंमें सिर्फ नौसहरा[2] ही एक दर्वाजा है, जिसे डाक्टर फोगलके अन्वेपणने पुराना दर्वाजा सिद्ध किया है। बाजार-दर्वाजेसे, जिसे हम दक्षिण दर्वाजा सिद्ध करेंगे, कच्ची कुटीतक चौडी सडकका निशान अब भी स्पष्ट मालूम होता है। यही नगर की सर्वप्रधान सडक थी। दक्षिण दर्वाजेका बाजार-दर्वाजा नाम भी सम्भवत कुछ अर्थ रखता है। कच्ची कुटीके पाससे एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजेको भी जाता है। नौसहरा-दर्वाजा ही श्रावस्तीका उत्तर द्वार है, जिसके बाहर एक गाँव बसा हुआ था। सडकके किनारे वाले भागपर कही राजकचहरी थी, जिसमें वर्पासे बचनेकेलिए भिक्षु चले गये थे, और वहां उन्होने जजोको घूस लेकर मालिको को बेमालिक बनाते देखा।

पूर्वदर्वाजा

यह बहुतही महत्त्वपूर्ण दर्वाजा था। इसके ही बाहर पूर्वाराम था। पूर्वाराम बहुत ही प्रसिद्ध स्थान था, इसलिए उस जगह स्तूप आदिके ध्वस अवश्य मिलने चाहिये। गगापुर-दर्वाजेको ही डाक्टर फोगलने पूर्व तरफमें वास्तविक दर्वाजा माना है। इसके अतिरिक्त कांदभारी-दर्वाजा भी पूर्वदक्षिण कोनेपर है, जिसे भी पूर्व ओर लिया जा सकता है, लेकिन (१) हमने ऊपर देख लिया है कि आनन्दको राजा प्रसेनजित्ने पूर्व दर्वाजेके बाहर देखा था, जहांसे अचिरवती बिलकुल पास थी। कांदभारीके स्वीकार करनेसे वह दूर पड जायगी। (२) भगवान् बुद्ध सदाही दक्षिण दर्वाजेसे नगरमें प्रवेश कर, फिर पूर्व दर्वाजेसे निकलकर पूर्वाराम जाते देखे जाते है। यदि कांदभारी-दर्वाजा पूर्व दर्वाजा होता, तो जेतवनसे बाहरही बाहर पूर्वाराम जाया जा सकता था, जिसका कही जिक्र नही है। (३)

---

१ "तेन खो पन समयेन मनुस्सा उलुम्प बन्धित्वा अचिरवतिया नदिया ओसादेन्ति। बन्धने छिन्ने कट्ठानि विप्पकिण्णानि अगमसु।"

—(पाराजिक २। पृ० ६८)

२ "Along the river face,. . only one . . Nausahra Darwaza. has proved to be one of the original city-gates"

पुब्बकोट्ठक[1] जो कि अचिरवतीके पास था, वह पूर्वारामके भी पास था, क्योंकि भगवान् सायंकालको स्नानके लिए वहाँ जाते हैं। पासमें रम्यक ब्राह्मणके आश्रममें व्याख्यान भी देते हैं, और फिर पूर्वाराम लौट भी आते हैं।

लेकिन इसके विरुद्ध सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि नगापुर-दर्वाजेके बाहर आसपास कोई ऐसा ध्वंसावशेष डाक्टर फोगलके नक्शेमें नहीं दिखाई पड़ता। साथ ही काँदभारी-दर्वाजेके बाहर ही हम हनुमनवाँके ध्वंसावशेषको देखते हैं। इसलिये देखनेपर काँदभारी-दर्वाजा ही पूर्व दर्वाजा, तथा हनुमनवाँ पूर्वाराम मालूम होता है।

दक्षिणद्वार

दक्षिणद्वार नगरका एक प्रधान द्वार था। जेतवन इसीके पास था। दर्वाजे और जेतवनके बीचमें अक्सर राजकीय सेनाएँ[2] पड़ाव डालती थीं। व्यापारी[3] भी इसी बीचमें ठहरते थे। यही दर्वाजा साकेत (अयोध्या)

---

१ पिंडपातपटिक्कन्तो. ..येन पुब्बारामो तेनुपसङ्कमि। .. सायन्ह-समयं पटिसल्लाना वुट्ठितो... येन पुब्बकोट्ठको.. .गत्तानि परिसिञ्चितुं....। अथ ...आनन्दो अयं भन्ते, रम्मकस्स ब्राह्मणस्स अस्समो अविदूरे,....साधु भन्ते... उपसङ्कमतु अनुकम्पं उपादायाति।.... भगवा....अस्समं पवि-सित्वा....भिक्खू आमन्तेसि।"

—(म० नि० १।३।६)

२ "एकस्मिं समये वस्सकाले कोसलरञ्ञो पच्चन्तो कुप्पि।....। राजा अकाले वस्सन्ते येव निक्खमित्वा जेतवनसमीपे खन्धावारं बन्धित्वा चिन्तेसि"।

—(जा० १७६, पृ० ४२१)

३ "सेतव्यवासिनो हि ..भातरो कुटुम्बिका ..अथेकस्मिं समये ते उभोपि भातरो पञ्चहि सकटसतेहि नाना भण्डं गहेत्वा सावत्थिं गन्त्वा सावत्थिया च जेतवनस्स च अन्तरे सकटानि मोचयिंसु।"

—(ध०प० १.६ अ०क० ३३)

जानेका भी था। दक्षिण द्वार और जेतवन[1] के मध्यमें एक जलाशयका वर्णन मिलता है। तमाशे[2] केलिए भी यही जगह निश्चित थी। श्वेताम्वी कपिल-वस्तुके रास्तेमें थी, इसलिए वहाँसे श्रावस्ती आनेमें उत्तरद्वारके सामने नदी उतरना पडता था, फिर गाडियोका नगरके दक्षिणमें ठहरना वतलाता है कि श्रावस्ती और जेतवनके वीचकी भूमिमें खुली जगह थी, जो पडावकेलिए सुरक्षित थी। वैंतारा ताल तथा और भी कुछ नीची भूमि, सम्भवत पुराने जलाशयोको सूचित करती है।

सवाल यह है कि कौन-सा प्रसिद्ध दक्षिणद्वार है, जिससे जेतवनमें आना-जाना होता था। डाक्टर फोगलके अनुसार गेलही, दर्वाजाही वह हो सकता है, क्योकि यह दरवाजा सवसे नजदीक है। किन्तु उसके दर्वाजा न होनेमें एक वडी भारी रुकावट यह है कि जेतवनका दर्वाजा पूर्वमुख था। यदि गेलही-दर्वाजा उस समय दर्वाजा होता, तो उसकेलिए जेतवनका दर्वाजा उत्तर मुँह का वनाना पडता। यद्यपि चीनी यात्रीके अनुसार एक दर्वाजा उत्तरको था, किन्तु पाली-ग्रन्थोमें उसका पता नही है। इस प्रकार दक्षिणद्वार वैंतारा और वाजार-दर्वाजा दोनोहीमें से कोई हो सकता है। पालीग्रन्थोमें जेतवन श्रावस्ती (दक्षि-णद्वार) से न वहुत दूर था न वहुत समीप, यही मिलता है। गेलही-दर्वाजे से जेतवन १३८६ फीट या चौथाई मीलसे कुछ अधिक है। अट्ठकथासे मालूम होता है कि लोग जेतवन जाते वक्त नगरकी वडी सडकसे जाते थे। दूसरी

---

१ "तेन खो पन समयेन सम्बहुला कुमारका अन्तरा च सावत्थि अन्तरा च जेतवन मच्छके बाधेन्ति। .. भगवा पुव्वण्हसमय... सावत्थियं पिंडाय पाविसि। .... .उपसर्कामत्वा--भायथ तुम्हेकुमारका दुक्खस्स" (मग्गसमीपे तलाके निदाघकाले उदके परिक्खीणे .।) —(उदान० ५।४, पृ० १९६)

२ .. . (चन्दाभत्थेरो, सहायको च) . एव अनुविचरन्ता सावत्थिय अनुपप्पत्ता नगरस्स च विहारस्स च अन्तरा वास गण्हिसु।"
—(ध० प० २६।३०, अ० क० ६७०)

३ "सो एक दिवसम्हि पासादवरगतो सिहपञ्जर उग्घाटेत्वा महावीथिय ओलोकेन्तो गन्धमालादिहत्थ महाजन धम्मवनत्थाय जेतवन गच्छन्त दिस्वा.. "—(सुवण्णसामजातक ५३९)

जगह हम देखते हैं कि श्रावस्ती जाने वाली सड़क जेतवनसे पूर्व होकर जाती थी। इन सारी बातोंपर विचार करनेसे गेलही-दर्वाजा दक्षिणद्वार नहीं, बाजार-दर्वाजा ही हो सकता है क्योंकि इससे जेतवन पूर्वमुख होनेकी भी वजह मालूम हो सकती है। बाजार दर्वाजा दक्षिण-द्वार होनेके लायक है, इनके बारेमें डाक्टर फोगल लिखते हैं[१]—"यह १२ फुट चौड़ा मार्ग एक ऐसे बड़े मार्गपर जाकर समाप्त होता है जो सीधे उत्तरकी ओर जाकर 'कच्ची कुटी'के भग्नावशेषके दक्षिण पूर्वमें स्थित एक मैदानमें मिल जाता है। बाजार-दर्वाजा वस्तुत किसी पुराने नगर-द्वारके ही स्थानपर है ऐसा माननेकेलिए सबल कारण है, क्योंकि यहींसे एक बड़ी सड़क या बाजारका आरम्भ होता है।"

इस प्रकार बाजार-दर्वाजा एक पुराना दर्वाजा सिद्ध होता है, तथा उसकी सड़क उपरोक्त महावीथी होने लायक है। इसके विरुद्ध बैंताग-दर्वाजेके बारे में डा० फोगलका कहना है कि इमारतोंके ध्वंसावशेषकी अनुपस्थितिमें इस स्थानपर किसी फाटकका अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है। इसतरह बैंताग-दर्वाजेके दर्वाजा होनेमें भी सन्देह है। तिन्दुकाचीर मल्लिकाराम[२] दक्षिणद्वारके पास था। बाजार-दर्वाजेसे प्राय दो सौ गज पूर्व अब भी एक ध्वंसावशेष है, इसपर एक छोटा-सा मन्दिर चौरेनाथके नामसे विख्यात है। क्या इस चौरेनाथका 'तिन्दुकाचीरे' के चीरेसे तो कोई सम्बन्ध नहीं है ? इस प्रकार बाजार-दर्वाजाही दक्षिणद्वार मालूम होता है, जहांसे जेतवन-द्वार ३७०० फीट पड़ेगा, जोकि गेलही-दर्वाजे (१३८६') की अपेक्षा अधिक तथा युन्-च्वेङके ५, ६ (फाहियान-६,७) ली के समीप है।

---

१ Archaeological Report, 1907-8

२ "भगवा .....जेतवने ...। पोट्ठपादो परिब्बाजको समयप्पवादके, तिन्दुकाचीरे एकसालके मल्लिकाय आरामे पटिवसति... सद्धिं तिंसमत्तेहि परिब्बाजकसतेहि। भगवा.....सावत्थि पिण्डाय पाविसि। .....अतिप्पगो खो ताव,... पिण्डाय चरितुं, यन्नूनाहं .. येन पोट्ठपादो परिब्बाजको तेनुप-सकमेय्यन्ति।" —(दी० नि० १।९)

"नगरद्वारसमीपं गन्त्वा अत्तनो रोचवसेन सुरियं ओलोकेत्वा...."

—(अ० क० २३९)

केवट्टद्वार

केवटद्वारके वारेमें हम सिर्फ इतनाही जानते हैं कि उसके वाहर पांच सौ घर मल्लाहोका एक गांव (केवट्ट गाम) वसता था। मल्लाहोका गांव नदीके समीप होना आवश्यक है। अचिरवतीकी तरफ नगरका प्रधान द्वार उत्तर-द्वार था। उत्तर-द्वारकाही दूसरा नाम केवट्टद्वार था, इसके माननेकेलिए हमें कोई कारण नही मिलता। तव यह दर्वाजा सम्भवत राजगढ दर्वाजा था,जो कि महेटके पूर्व-उत्तर कोनेपर नदीके समीप पडता है।

श्रावस्ती नगरके भीतरकी वस्तुओमें राजकाराम, राजप्रासाद, अनाथ-पिंडक और विशाखाके घर, राजकचहरी, वाजार यह मुख्य स्थान हैं, जिनका थोडा वहुत वर्णन अट्ठकथाओ और त्रिपिटकमें मिलता है।

राजकाराम

यह भिक्षुणियोका आराम था। इसके वनानेके वारेमें धम्मपद अट्ठकथा[१] में कहा गया है—"(वौद्ध भिक्षुणियोमें सर्वश्रेष्ठ) उत्पलवर्णा एक समय चारिकाके वाद अन्धवनमें वास कर रही थी। उस समय तक भिक्षुणियोंके लिए अरण्यवास निपिद्ध नही ठहराया गया था। . उत्पलवर्णा पर आसक्त उसके मामाके लडके नन्दने उसपर वलात्कार किया। भगवान्ने इसपर राजा प्रसेनजित्से नगरके भीतर भिक्षुणोसघके लिए निवास-स्थान वनानेको कहा। राजाने नगरमें एक तरफ आराम वनवा दिया। इसके वाद भिक्षुणियां नगरके भीतरही वास करती थी।" मज्झिम-निकायमें—"महाप्रजापति गौतमीने पाँचसौ भिक्षुणियोकी जमातके साथ

१ "उप्पलवण्णा......जनपदचारिक चरित्त्वा पच्चागता अन्धवन पाविसि। तदा भिक्खुणीन अरञ्ञावासो अपटिक्खित्तो होति। अथ'स्सा तत्थ कुटिक कत्त्वा मञ्चक पञ्ञापेत्त्वा साणिया परिक्खिपिसु। .... मातुलपुत्तो पनस्सा नन्दमाणवो .. अभिभवित्त्वा अत्तना पत्थितकम्म कत्वा पायासि। ... सो पठवि पविट्ठो।... . सत्था पन राजान पसेनदिकोसल पक्कोसापेत्त्वा... भिक्खुणी-सङ्घस्स अन्तोनगरे वसनट्ठान कातुं वट्टतीति। राजा .. नगरस्स एकपस्से भिक्खुणी-सघस्स वसनट्ठानं कारापेसि। ततो पट्ठाय भिक्खुनियो अन्तो गामे एव वसन्ति।" —(ध० प० ५।१०, अ० क० २३७-२३९)

जेतवनमें[1] जाकर भगवान्‌ने भिक्षुणियोंको उपदेश देनेके लिए प्रार्थना की। भगवान्‌ने इसपर आयुष्मान् नन्दक को उपदेश देनेके लिए राजकाराम भेजा। अट्ठकथामें[2] राजकारामके बारेमें इस प्रकार लिखा है—'राजा प्रसेनजित्‌का बनवाया, नगरके दक्षिणकोणमें (अनुराधपुरके) थूपारामके समान स्थानपर विहार।' इस आरामका नगरके दक्षिणी किनारेपर होना स्पष्ट है। साथही यह दक्षिणद्वार से बहुत दूर नहीं था, क्योंकि हम आनन्दको भिक्षुणियोंके आश्रममें जाकर उन्हे उपदेश देकर, पीछे पिण्डपातके लिए जाते देखते हैं[3]।'

अब हमें यह देखना है कि राजकाराम बाजार-दर्वाजेसे किधर हो सकता है। नक्शेके देखनेसे मालूम होगा, थैतारा-दर्वाजेसे इमली दर्वाजे तक प्राकारकी जडमें नगरके भीतरकी तरफ मन्दिरोंकी जगह है। इसमें पश्चिमका भाग जैन मन्दिरों द्वारा भरा हुआ है और पूर्वीय भाग ब्राह्मण मन्दिरों द्वारा। मालूम होता है ब्राह्मण मन्दिरके पूर्व, प्राकारसे सटा हो, राजकाराम था, जिसमें महा-प्रजापती गौतमी अपनी भिक्षुणियोंके साथ रहा करती थी। यून-च्वेड्ने राजा प्रसेनजित्‌का बनवाया हाल, और प्रजापती भिक्षुणीका विहार अलग-अलग वर्णन किया है, किन्तु पाली ग्रन्थोंमें नगरके भीतर राजा प्रसेनजित् द्वारा बनवाया भिक्षुणियोंका आराम ही आता है, जिसे राजकाराम कहते थे।

अनाथपिण्डकका घर

इसमें सन्देह नहीं कि बाजार-दर्वाजेसे उत्तर-दक्षिण जाने वाली सडक

---

१ "जेतवने......महापजापती गोतमी पञ्चमत्तेहि भिक्खुनीसतेहि सद्धिं....... उपसकमित्वा......अवोच—ओवदतु भन्ते भगवा, भिक्खुनियो ....। भगवा आयस्मन्त नन्दक आमन्तेसि—ओवद नन्दक, भिक्खुनियो। ...। अथ ..... नन्दको ...येन राजकारामो तेनु' पसंकमि। —(म० नि० ३।५।४)

२ "पसेनदिना कारितो नगरस्स दक्खिणानुदिसाभागे थूपारामसदिसो ठाने विहारो . .।—(अ० क० १०२१)

३ आयस्मा आनन्दो पुब्बण्हसमय......येन'ञ्ञातरो भिक्खुन'पस्सयो तेनु'पसकमि। ....भिक्खुनियो धम्मिया कथाय सन्दस्सेत्वा......उट्ठायासना पक्कामि......सावत्थिय पिण्डाय (स० नि० ४६।१।१०)

श्रावस्तीकी महावीथी (सबसे बडी सडक) थी। यह विस्तृत सडक सीधी नगरके उत्तरी भाग तक चली गई है। झाडियोंसे रहित इस मार्गकी अगल-बगलकी सीमाएँ अब तक स्पष्ट हैं। नगरका बाजार और बडे-बडे धनिको का घर इसीके किनारेपर होना स्वाभाविक है। इस प्रकार अनाथ-पिंडकके घरको भी इसीके किनारे ढूँढना पडेगा। धम्मपद, अट्ठकथा से मालूम होता है कि अनाथपिंडकका[१] घर ऐसे भागपर था, जहाँसे पूर्व और उत्तर दर्वाजोको रास्ता अलग होता था। अनाथपिंडकके घरसे ही उत्तर दर्वाजेकी[२] तरफ होनेको, विशाखा तभी जान सकती थी, जबकि वहाँसे सीधा रास्ता उत्तर दर्वाजेको गया हो। ऐसा स्थान कच्ची कुटी ही है, जो महावीथीके उस स्थानपर अवस्थित है, जहाँसे एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजे (उत्तर-द्वार) को मुडा है। युन्-च्वेड्ने प्रजापतिके विहारसे इसे पूर्व ओर बतलाया है, लेकिन उसके साथ इसकी संगति बैठानेका कोई उपाय नही है, जबकि राजकाराम दक्षिण द्वारके पास प्राकारकी जडमें होना निश्चित है। अनाथपिण्डकका घर सात महल और सात दर्वाजोका था। जातकमें[३] उसके चौथे दर्वाजेका भी जिक्र आया है, जिसपर एक देवताका वास था।

विशाखाका घर

विशाखाका श्वशुर मिगार सेठ श्रावस्तीके सबसे बडे धनियोमें था। इसका भी मकान अनाथपिण्डकके मकानके पासमें ही था। क्योंकि ऊपरके उद्धरणमें हम पाते है कि भगवान्के अनाथपिण्डकके घरसे उत्तरद्वारकी ओर जानेकी

१ "घर सत्तभूमक सत्तद्वारकोट्ठकपतिमण्डित, तस्स चतुत्थे द्वारकोट्ठके एका देवता... ।—(जातक० १, पृ० १९७)

२ "अनाथपिडिकस्स गेहे भत्तकिच्च कत्वा उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि। पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्ख गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डिकस्स गेहे भिक्ख गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वार सन्धाय गच्छन्त... विसाखापि . .. सुत्वा . गन्त्वा .. ..”। —(ध० प० ४१९, अ० क० २००)

३ १४२ "अनाथपिण्डिकस्स घरे चतुत्थे द्वारकोट्ठके वसनक मिच्छादिट्ठि-देवता। ... .. —(जातक २८४, पृ० ६४९)

खबर तुरन्त विशाखाको लग गई। सम्भवतः पक्की कुटी या स्तूप "ए" विशाखाके घरको चिन्हित करते हैं।

राजमहल

यह (१) अचिरवती नदीके किनारे था, क्योंकि राजा प्रसेनजित् और मल्लिका देवीने अपने कोठेपरसे अचिरवतीमें खेलते-नहाते हुए छवर्गीय भिक्षुओंको देखा। (२) पुब्बकोट्ठक[1] इससे बहुत दूर न था, क्योंकि राजाके नहानेके लिए वहाँ एक खास घाट था। (३) वह[2] विशाखाके घर और पूर्वद्वारके बीचमें, पूर्वद्वारके समीप पड़ता था, क्योंकि विशाखा राजाके पास वहाँ अधिक चुंगी लेनेके विषयमें फरियाद करने जाती है, फिर वहाँसे दूर न होनेकी वजह पूर्वाराम चली जाती है, तब भगवान्‌के मध्याह्नमें ही आनेका कारण पूछनेपर वह राजदर्बारके कामको बतलाती है। विशाखाका घर महावीथीपर अनाथपिण्डकके[3] घरके पास ही थी, यह हम पहले बतला आये हैं। (४) राजा प्रसेनजित्‌के हाथीपर सवार होकर नगरसे बाहर जाते वक्त आनन्दसे पूर्वद्वारके बाहर भेंट होना भी बतलाता है, कि राजमहल पूर्वद्वारके समीप था। राजाकी यह यात्रा किसी विशेष कामकेलिए न थी, अन्यथा उसे आनन्दसे अचिरवतीके किनारे पेड़के नीचे बैठकर व्याख्यान

---

१ "कस्सपदसबलस्स काले अचिरवती....उदकेन भिन्दित्वा महन्तं उदकदहं आपेसि समतित्थं अनुपुब्बगम्भीरं। तत्थ एको रञ्ञो नहानतित्थं, एकं नागरानं एकं भिक्खुसंघस्स, एकं बुद्धानन्ति....।" —(म० नि १।३।६, अ० क० ३७१)

२ "विसाखाय....कोचिदेव अत्थो रञ्ञो पसेनदिम्हि....पटिबद्धो होति। तं राजा पसेनदि....न यथाधिप्पाय तीरेति। अथ खो विसाखा....दिवादिवस्स उपसंकमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा...निसीदि। ..हन्त! कुतो नु त्वं विसाखे आगच्छसि दिवादिवस्स?" —(उदान० २।९)

३ "ञातकुलतो.....मापमुत्तादरोचनं भण्डजातं तस्या पण्णाकारत्थाय पेसितं। तं नगरद्वारप्पत्तं सुंकिका ..सुंकु ..अतिरेकं गण्हिंसु। दिवादिवस्साति... मज्झन्तिके कालेति अत्थो। राजनिवेसनद्वारं गच्छन्तो तस्स अत्थस्स अनिट्ठितत्ता निरत्थकमेव उपसंकमि, भगवति उपसंकमनमेव पन...सात्थकन्ति.. इमाय वेलाय इधागता'ति।" —[उ० अ० क० १०५ (११०)]

सुननेकी फुर्सत कहाँ होती ? विना कामके दिल वहलावके लिए नगरसे वाहर निकलनेमें उसका महलके नजदीक वाले दर्वाजेसे ही शहरके वाहर जाना अधिक सम्भव मालूम होता है। इन सव वातोपर विचार करनेसे मालूम होता है कि राजकीय प्रासादमें उत्तरमें नौसहरा-दर्वाजेसे वाँकी दर्वाजे तक, और दक्षिणमें महावीथीके मकानसे गगापुर-दर्वाजे तक था। युनच्वेङ्का[1] कहना है— "राज-प्रासादसे थोडीही दूर पूर्वकी ओर एक स्तूप है, जो पुरानी वुनियादोपर खडा है। यह वह स्थान है जहाँ राजा प्रसेनजित् द्वारा वुद्धके उपयोगके लिए वनवायी हुई शाला थी। इसके वाद एक वुर्ज है यहीपर प्रजापतीका विहार था।" इसके अनुसार राजमहल राजकाराम से पश्चिम था। लेकिन ऐसा स्वीकार करनेपर, वह अचिरवतीके किनारे नही हो सकता, जिसका प्रमाण अट्ठकथासे भी पुराने विनयग्रन्थोमें मिलता है।

कचहरी

हमें मालूम है, कि उत्तरद्वारसे नगरके भीतर होकर आते हुए भिक्षुओको 'विनिच्छयसाला' (कचहरी) मिली थी, जहाँ उन्होने जजोको घूस लेकर अन्याय करते देखा था। कचहरीका राजकीय महलके हलकेसे मिला हुआ होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है। इस प्रकार यह कचहरी राजमहलके उत्तर-पश्चिमके कोणवाले भागपर नौसहरा-दर्वाजेके पास रही होगी।

महावीथी

(१) यह नगरकी प्रधान सडकथी, यह इसके नाम से स्पष्ट है। (२) सुवण्णसामजातकमें[2] उल्लिखित धनी सेठका मकान, सम्भवत अन्य सेठोकी भाँति इसी महावीथीपर था। यह वीथी जेतवन जाने वाले द्वार—दक्षिण-द्वार—को सीधी जाती थी, तभी तो वह सेठ अपने मकानसे लोगोको गन्धमाला लेकर भगवान्‌के दर्शनार्थ जाते हुए देखकर उनका जेतवन जाना निश्चित कर रहा है। (३) अनाथपिण्डकके मकानसे निकलतेही मालूम हो जाता था, कि भगवान् पूर्व

१ Beal, pp ९2, 93

२ "सावत्थियं किर अट्ठारसकोटिविभवस्स एकस्स सेट्ठिकुलस्य एकपुत्तो अहोसि। सो एकदिवसम्हि पासादवरगतो सीहपञ्जरं उग्घाटेत्वा महावीथियं ओलोकेन्तो गन्धमालादिहत्थं महाजनं धम्मस्सवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं दिस्वा ..।
—(सुवण्णसामजातक ५३९)

दर्वाजेको जा रहे हैं, या उत्तर वाले दर्वाजेको। दक्षिण दर्वाजेको जानेवाली वीथी हमें मालूम ही है, जिसकी विशेषता इस समय भी स्पष्ट है। इस प्रकार दक्षिण (वाजार) दर्वाजेसे उत्तर मुँहको जो चौडी सडक-सी हमें मालूम पड रही है, यही महावीथी है; जिसके वारेमें कि डा० फोगल ने सर्वे रिपोर्ट में[1] लिखा है।

दक्षिण दर्वाजेका वाजार-दर्वाजा नाम भी इस विषयमें खास अर्थ रखता है।

गण्डम्बरुक्ख

यद्यपि भगवान्के समयमें इस आमके[2] वृक्षका होना सम्भव नही है, किन्तु, परवर्ती कालमें इसका अधिक महत्त्व पाया जाना विल्कुल निश्चित है। ५२२ ई० पू० की आषाढी पूर्णिमाके दिन नगरमें प्रवेश करनेपर, कहते हैं, गण्ड उद्यानपालने एक पका आम भगवान्को दिया। भगवान्ने खाकर उसे वही रोपवा दिया, और उनकी अद्भुत् शक्तिसे वह उसी समय वडा वृक्षहो गया। कुछ भी हो, परवर्तीकालमें वाजार-दर्वाजेके अन्दर वाजारके घरोंसे पहलेही, अर्थात् दर्वाजेसे थोडाही आगे एक आमका वृक्ष था, जो इस प्रकारके चमत्कारका स्मारक था। इस स्थानपर भी कोई स्तूप अवश्य रहा होगा। सम्भवत यह वृक्ष महावीथीसे राजकाराम जानेवाले मोडपर ही था।

---

१ "A Passage 12' wide which gives access to a broad path leading almost due north and widening out into a glade, which is situated south-east of the ruined temple known as the Kachhikuti,........the Bazar Darwaza it seems to be the starting point of a broad street of bazar. . "

A S.R , 1907-8, p 86

२ "सत्या आसाल्हिपुण्णमदिवसे अन्तोनगरं पाविसि। रञ्ञो उय्यानपालो गण्डो नाम....अम्वपक्कं.....आदाय गच्छन्तो अन्तरामग्गे सत्यारं दिस्वा चिन्तेसि—राजा इम अम्व खादित्वा मय्ह अट्ठ वा सोलस वा कहापणे ददेय्य।... सो तं अम्वं सत्यु उपनामेसि।....सत्या....अम्वपानक पिवित्वा गण्डं आह— इमं अम्वट्ठि इधेव.....रोपेहीति।....हत्थे धोतमत्ते येव....पण्णासहत्थो अम्वरुक्खो...पुप्फफलसछन्नो हुत्वा......।"

—(ध० प० १४२, अ० क० ४४८)

पञ्चछिद्दकगेह, ब्राह्मणवाटक

पञ्चछिद्दकगेह भी एक बडे चमत्कारका स्थान है। चमत्कारिक स्थानोंके लिए जनताका अधिक उत्साह सभी धर्मोंमें देखा जाता है। इसका 'पञ्च-छिद्दकगेह' नाम कैसे पडा, यह अट्ठकथा[1] में दिया गया है। यद्यपि ऐसे किसी स्थानका वर्णन फाहियान और यून्-च्वेङमेंसे किसीने नहीं किया है, तो भी यह स्थविरवादियोंकी पुरानी परम्परापर अवलम्बित है। युन्च्वेङके समयमें भी श्रावस्ती और उसके आसपासके विहार साम्मितीय सम्प्रदायके भिक्षुओंके आधीन थे जोकि हीनयानी थे, और महायानकी अपेक्षा विभज्जवाद (स्थविर-वाद)से बहुत मिलते-जुलते थे। युन्-च्वेङका वर्णन श्रावस्तीके विषयमें अत्यन्त संक्षिप्त है, इसलिए पञ्चछिद्दकगेहका छूट जाना स्वाभाविक है। कथा यों है—"एक ब्राह्मणीने बडे स्थविरोंको निमन्त्रित किया। सात वर्षके लडकोंको आया देखकर ब्राह्मणी असन्तुष्ट हुई। फिर उसने अपने पतिको ब्राह्मणवाटसे ब्राह्मण लेनेको भेजा। उन श्रामणेरोंके तपोबलसे शक्र वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारणकर ब्राह्मणवाटमें ब्राह्मणोंके बीच अग्रासनपर जाकर बैठ गया। ब्राह्मण शक्रको लेकर घर लौटा। चार श्रामणेर और शक्र भोजनकर पाँचओर से निकल गये। श्राम-णेरोंमेंसे एक कोनियामें घुसकर निकल गया, एक छाजनके पूर्वभाग में, एक पश्चिम भागमें और एक पृथ्वीमें शक्र भी किसी स्थानसे बाहर चला गया। उस दिनसे उस घर का नाम पञ्चछिद्दकगेह पड गया।" यह ब्राह्मणवाट शायद

---

१ "एका किर ब्राह्मणी चतुन्न भिक्खून उद्देसभत्त सज्जेत्वा ब्राह्मणं आह—विहार गन्त्वा चत्तारो महल्लकब्राह्मणे उद्दिसित्वा आनेहीति।. ..। तत्थ संकिच्चो, पण्डितो, सोपाको, रेवतोति सत्तवस्सिका चत्तारो खीणासवसामणेरा पापुणिंसु। ब्राह्मणी सामणेरे दिस्वा कुपिता। अथ तेस गुणतेजेन (सक्को) जराजिण्णमहल्लकब्राह्मणो हुत्वा तस्मि ब्राह्मणवाटके ब्राह्मणान अग्गासने निसीदि। ब्राह्मणो ...त आदाय गेह अगमासि।....पञ्च' पि जना आहार गहेत्वा एको कण्णकामण्डल विनिविज्झित्वा एको छदनस्स पुरिमभाग एको पच्छिमभाग एको पठविया निमुज्जित्वा सक्कोपि एकेन ठानेन निक्खमित्वाति एव पञ्चधा अगमसु ? ततो पट्ठाय च पन त गेह पञ्चछिद्दकगेह किर नाम जात।"
—(ध० प० २६।२३, अ० क० ६६३, ६६४)

श्रावस्तीमें ब्राह्मणोका कोई विशेष पवित्र स्थान था, जहाँ ब्राह्मण इकट्ठे हुआ करते थे। घुसुडो (पुरातन माध्यमिका) के पासके ई० पू० द्वितीय शताब्दीके शिलालेखमें[1] 'नारायणवाट' शब्द आया है। 'यज्ञवाट' भी इसी प्रकारका एक शब्द है। 'वाट' शब्द विशेषकर पवित्र स्थानोंकेलिए प्रयुक्त होता था। यह ब्राह्मणवाट कहाँ था, यद्यपि इसके लिए और कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहो है, तथापि अनुमान किया जा सकता है, कि ब्राह्मणोंके लिए बहुतही पवित्र स्थान रहा होगा। यद्यपि छठी शताब्दी ई० पू० (वि० पू० ४४३–५४२) में यज्ञोका युग था, अभी मूर्तिपूजा आरम्भ न हुई थी, तो भी मूर्तिपूजाके युगमें इस स्थानकी पवित्रताका ख्यालकर अवश्य इसे भी उपयुक्त बनाया गया होगा। हम देख आये है कि, श्रावस्तीके दक्षिण दीवार-से सटे हुए बैतारा-दर्वाजेसे शोभनाथ-दर्वाजे तककी भूमि हिन्दू और जैन मन्दिरोंकेलिए सुरक्षित थी। भिक्षुणियो के आराम (राजकाराम)को भी हमने यही निश्चित किया है। ऐसी हालतमें राजकाराम और जैन मन्दिरोंके बीचकी भूमि, जिसमेंकि हिन्दू मन्दिर स्थित हैं, ब्राह्मणवाट होनेके लायक है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपयुक्त स्थान ब्राह्मणवाटकेलिए अचिरवतीके किनारेकी तरफ सूर्यकुण्ड या मीरासैयदकी कब्र की जगहो पर, ढूँढा जा सकता है।

सड़कें

महावीथीके अतिरिक्त एकही और सडक है, जिसका हमें पता है। यह है अनाथपिण्डकके घरसे पूर्वद्वारको जाने वाली।

चुगीकी चौकियाँ

हम देख चुके हैं कि नगरके दर्वाजोपर चुगीकी चौकियाँ थी। चुगीवालोने अधिक चुगी लेली थी, जिसके लिए विशाखाको राजाके पास जाना पड़ा था।

नगरके भीतर सम्बन्ध रखनेवाले स्थानोमेंसे जिन-जिनके विषयमें त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओमें कुछ आया है, उनका हम वर्णन कर चुके हैं। बाहरवाले स्थानोमें सबसे प्रधान है जेतवन। उसके बाद पूर्वाराम, समयप्पवादकआराम, अन्धवन, ये तीन स्थान हैं, जिनका वर्णन हमें त्रिपिटक और अट्ठकथामें मिलता है।

---

१ श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १६, पृ० २७।

भिक्षुओंके शिक्षापदोमेंभी अधिक श्रावस्ती—जेतवनमें ही दिये गये। विनय पिटक के 'परिवार'ने नगरोंके हिसावसे उनकी सूची इस प्रकार दी है—

कतमेसु सत्तसु नगरेसु पञ्ञत्ता ।

....

दस वेसालियं पञ्ञत्ता, एकवीसं राजगहे कता ।
छ-ऊन तीति सतानि, सव्वे सावत्थियं कता ॥
छ आलवियं पञ्ञत्ता, अट्ठ कोसविय कता ।
अट्ठ सक्केसु वुच्चन्ति, तयो भग्गेसु पञ्ञत्ता ॥

—परिवार, गाथासगणिक।

अर्थात् साढे तीनसो शिक्षापदोमें २९४ श्रावस्तीमें ही दिये गये। और परीक्षण करने पर इनमेंसे थोडेसे ही पूर्वाराममें और वाकी सभी जेतवनमें दिये गये। इसलिए जेतवनका[1] खास स्थान होना ही चाहिये।

विनयपिटक के चुल्लवग्गमें जेतवनके वनाये जानेका इतिहास दिया गया है। वनयपिटककी पाँच पुस्तकें हैं–पाराजिक, पाचित्ति, महावग्ग, चुल्लवग्ग और परिवार। इनमेंसे परिवार तो पहले चारोंका सरल संग्रह मात्र है। संग्रह-समाप्ति ईसाकी प्रथम या द्वितीय शताव्दीमें हुई जान पडती है। वाकी चार उससे पुराने हैं। इनमें भी महावग्ग और चुल्लवग्ग, जिन्हें इकट्ठा 'खधक' भी कहते हैं।,पातिमोक्खको छोड विनयपिटकके सवसे पुराने भाग हैं, और इनका प्राय: सभी अश अशोक (तृतीय संगीति) के समयका मानना चाहिये। चुल्लवग्ग[2] की कथा यो है—

"अनाथपिडक गृहपति राजगृहके श्रेष्ठीका वहनोई थी। एक वार अनाथपिंडक राजगृह गया। उस समय राजगृहके श्रेष्ठीने सघ-सहित वुद्धको निमन्त्रित किया था। अनाथपिडकको वुद्धके दर्शनकी इच्छा हुई। वह अधिक रात रहतेही घरसे निकल पडा और सीवद्वारसे होकर सीतवन पहुँचा। उपासक वननेके वाद उसने

1 इदंहि तं जेतवन इसिसंघनिसेवितं।
आउट्ठं धम्मराजेन पोतिसंजननं मम॥
—सं० नि०, १.५.८, २.२ १०।

2 विनयपिटक, सेनासनक्खन्धक पृ०, २५४।

सावत्थीमें भिक्षु-संघ-सहित बुद्धको, वर्षा-वास करनेके लिए निमंत्रित किया।
अनाथपिंडकने श्रावस्ती जाकर चारो ओर नजर दौडाई। उसने विचार किया कि भगवान्‌का विहार ऐसे स्थानमें होना चाहिये, जो ग्रामसे न बहुत दूर और न बहुत समीप हो। जहाँ आने-जानेकी आसानी हो, आदमियोंके पहुँचने योग्य हो। जहाँ दिनमें बहुत जमघट न हो और जो रातमें एकांत और ध्यानके अनुकूल हो। अनाथपिंडकने राजकुमार जेतके उद्यानको देखा, जो इन लक्षणोंसे युक्त था। उसने राजकुमार जेतसे कहा—आर्यपुत्र! मुझे अपना उद्यान आराम बनानेके लिए दो। राजकुमारने कहा—वह (कहापणोंकी) कोटि (=कोर) लगाकर बिछानेसे भी अदेय है। अनाथपिंडकने कहा—आर्यपुत्र! मैंने आराम ले लिया। बिका या नहीं बिका इसके लिए उन्होंने कानूनके मंत्रियोंसे पूछा। महामात्योंने कहा—आर्यपुत्र! आराम बिक गया, क्योंकि तुमने मोल लिया। फिर अनाथ-पिंडकने जेतवनमें कोरसे कोर मिलाकर मोहरें बिछा दीं। एक बारका लाया हुआ हिरण्यद्वारके कोठेके बराबर थोडीसी जगहकेलिए काफी न हुआ। गृहपतिने और हिरण्य (=अशर्फी) लानेकेलिए मनुष्योंको आज्ञा दी। राजकुमार जेतने कहा—बस गृहपति, इस जगहपर मत बिछाओ। यह जगह मुझे दो, यह मेरा दान होगा। गृहपतिने उस जगहको जेत कुमारको दे दिया। जेत कुमारने वहाँ कोठा बनवाया। अनाथपिंडक गृहपतिने जेतवनमें विहार, परिवेण, कोठे, उपस्थान-शाला, कप्पिय-कुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम, चंक्रमणशाला, उदपान, उदपान शाला, जंताघर, जंताघरशाला, पुष्करिणियाँ और मंडप बनवाये। भगवान् धीरे-धीरे चारिका करते श्रावस्ती, जेतवनमें पहुँचे। गृहपतिने उन्हें खाद्य भोज्यसे अपने हाथों तर्पित कर, जेतवन को आगत-अनागत चातुर्दिश संघकेलिए दान किया।"

अनाथपिंडकने 'कोटिसंथारेन" (कार्षापणोंकी कोरसेकोर मिलाकर) इसे खरीदा था। ई० पू० तृतीय शताब्दीके भरहुतके स्तूपोंमें भी 'कोटि-संठतेन केता' उत्कीर्ण है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि कार्षापण बिछाकर जेतवन खरीद करनेकी कथा ई० पू० तीसरी शताब्दीमें प्रसिद्ध थी।

पाली ग्रन्थों[1] में जेतवनकी भूमि आठ करीष लिखी है। 'करीस चतुरम्मण'

---

१ देखो उपर्युक्त चुल्लवग्गकी अट्ठकथा।

पालिकोष अभिधमप्पदीपिका (१९७) में आता है। डाक्टर रीस डेविड्सने 'अम्मण' (सिंहली अनुमुणु, स० अर्मण) को प्राय दो एकडके बराबर लिखा है। इस प्रकार सारा क्षेत्रफल ६४ एकड होगा। श्री दयाराम साहनीने (१९०७-८ की Arch S. R, p 117) लिखा है—

"The more conspicuous part of the mound at the present is 1600 feet from the north-east corner to the south-west, and varies in width from 450′ to 700′, but it formerly extended for several hundred feet further in the eastern direction"

इस हिसाबसे क्षेत्रफल बाईस एकड होता है। यद्यपि अठारह करोड सख्या सदिग्ध है, तो भी इसे कार्षापण मानकर (जिसका ही व्यवहार उस समय अधिक प्रचलित था) देखनेसे भी हमें इस क्षेत्रफलका कुछ अनुमान हो सकता है। पुराने 'पचमार्क' चौकोर कार्षापणोकी लम्बाई-चौडाई यद्यपि एक समान नहीं है, तो भी हम उसे सामान्यत ७ इच ले सकते है, इस प्रकार एक कार्षापणसे ४९ या ½ वर्ग इच भूमि ढँक सकती है, अर्थात् १८ करोड कार्षापणोंसे ९ करोड वर्ग इच, जो प्राय १४ ३५ एकडके होते है।[१] आगे चलकर, जैसाकि हम बतलायेंगे, विहार न० १९ और उसके आस-पासकी भूमि जेतवनकी नहीं है, इस प्रकार क्षेत्रफल १२००′×६००′ अर्थात् १४ ७ एकड रह जाता है जो १८ करोडके हिसाबके समीप है। गधकुटी जेतवनके प्राय बीचोबीच थी। खेत न० ४८७ जेतवनकी पुष्करिणी है, क्योकि नक्शा न० १ का डी० इसीका सकेत करता है। आगे हम बतलाएँगे कि पुष्करिणी जेतवन विहारके दर्वाजेके बाहर थी। पुष्करिणीके बाद पूर्व तरफ जेतवनकी भूमि होनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती। इस प्रकार गधकुटीके बीचोबीचसे ४०० फीटपर, पुष्करिणीकी पूर्वीय सीमाके कुछ आगे बढ़कर जेतवनकी पूर्वीय सीमा थी। उतना ही पश्चिम

---

१ दीघनिकाय अट्ठकथा, महापदानसुत्त, २८। "अम्हाकपण भगवतो पकति-मानेन सोलसकरीसे, राजमानेन अट्ठ करीसे पदेसे विहारो पतिट्ठतोति।"

तरफ मान लेनेपर पूर्व-पश्चिमकी चौडाई ८००′ होगी। लम्बाई जाननेके लिए जेतवनखास के विहार न० ५ (कारेरि गधकुटी) को सीमापर रखना चाहिये। गधकुटीसे दक्षिण ६८०′ उतना ही उत्तर ले लेनेसे लम्बाई उत्तर-दक्षिण १३६०′ होगी, इस प्रकार सारा क्षेत्रफल प्राय २५ एकडके होगा। इस परिणामपर पहुँचनेके लिए हमारे पास तीन कारण हैं—(क) गधकुटी जेतवनके बीचोबीच थी, जेतवन वर्गाकार था, इसके लिए कोई प्रमाण न तो लेखमें है और न भूमिपर ही। इसलिए जेतवनको एक आयात क्षेत्र मानकर हम उसके बीचोबीच गधकुटीको मान सकते हैं। (ख) गधकुटीके पूर्व तरफका डी० ही पुष्करिणीका स्थान मालूम होता है, जिसकी पूर्वीय सीमासे जेतवन बहुत दूर नही जा सकता। (ग) विहार न० १९ को राजकाराम मान लेनेपर जेतवनकी सीमा विहार न० ५ तक जा सकती है।

ऊपरके वर्णनसे हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं—

(१) १८ करोड कार्षापण बिछानेसे १८ ३४८ एकड
(२) साहनी के अनुसार वर्तमान में २२ २ एकड (१६००′×६००′)
(३) उसमेंसे राजकाराम निकाल देने पर १४ ७ ए० (१२००′×६००′)
(४) गधकुटी, पुष्करिणी, कारेरि कुटीसे २४ ९ ए० (१३६०′×८००′)
(५) ८ करीस १, २ (अम्मण = २ एकड) ६४ एकड

एक और तरहसे भी इस क्षेत्रफलके बारेमें विचार कर सकते है। करीस[१] (सस्कृत खारीक) का परिमाण अभिधानप्पदीपिका और लीलावतीमें इस प्रकार दिया है—

४ कुडव या पसत (पसर)	= १ पत्थ	४ कुडव = प्रस्थ
४ पत्थ	= १ आल्हक	४ प्रस्थ = आढक
४ आल्हक	= १ दोण	४ आढक = द्रोण

---

१ परमत्यजोतिका II, p 476 "तत्थ वीसतिखारिकोति, मागधकेन पत्थेन चत्तारो पत्था कोसलरट्ठेकपत्थो होति, तेन पत्थेन चत्तारो पत्था आढ़क, चतारि आढ़कानि दोण, चतुदोण मानिका, चतुमानिक खारि, ताय खारिया वोसति खारिको तिलवाहोति, तिलसकट।"

४ द्रोण	=१ माणी
४ माणी	=१ खारी

१६ द्रोण=खारी

विनयमें ४ कहापणका एक कस लिखा है। कसको कर्ष मान लेनेपर यह वजन और भी चौगुना हो जायगा, अर्थात् १६ मनसे भी ऊपर। ऊपरके नाममें २० खारीका एक तिलवाह, अर्थात् तिलो भरी गाडी माना है, जो इस हिसावसे अवश्यही गाडीके लिए असभव हो जायगा।

सुत्त० नि० अट्ठकथामें कोसलक परिमाण इस प्रकार है।

४ मागधक पत्थ	=कोसलक पत्थ
४ को० पत्थ	=को० आढक
४ को० आ०	=को० दोण
४ को० दो०	=को० मानिका
४ को० मा०	=खारी
२० खारी	=१ तिलवाह (=तिलसकट अर्थात् तिल से लदी गाडी)

वाचस्पत्यके उद्धरणसे यह भी मालूम होता है कि ४ पल एक कुडवके वरावर है। लीलावतीने पलका मान इस प्रकार दिया है—

५ गुजा	=माष
१६ माष	=कर्ष
४ कर्ष	=पल

अभिधानप्पदीपिकासे यहाँ भेद पडता है—

४ वीहि (व्रीहि)	=गुजा
२ गुजा	=मापक

मापक कर्ष (=कार्षापण)का सोलहवाँ भाग है। विनय[1]में २० मासेका कहापण (=कार्षापण) लिखा है। समतपासादिकाने इसपर टीका करते हुए, इससे कम वजनवाले रुद्रदामा आदिके कार्षापणोका निर्देश किया है, हमें यहाँ उनसे प्रयोजन नही। हम इतना जानते हैं कि पुराने पच-मार्कके कार्षापण

---

१ विनयपिटक पाराजिका, २

सिक्कोका वजन प्राय १४६ ग्रेनके बराबर होता है।-यही वजन उस समयके कर्षका भी है। आजकल भारतीय सेर ८० तोलेका है, और तोला १८० ग्रेनके बराबर होता है। इस प्रकार एक मागध खारी आजकलके ४१ ८ सेरके बराबर, अर्थात् प्राय एक मन होगी और कोसलक खारी ४ मनके करीब। करीसका संस्कृत पर्याय खारीक अर्थात् खारीभर बीजसे बोया जाने वाला खेत (तस्य वाप, पाणिनि ५ १ ४५) है। पटनामें पक्के ८ मन तेरह सेर धानसे आजकल १६ एकड खेत बोया जा सकता है, इससे भी हमें, जेतवनकी भूमिका परिमाण, एक प्रकारसे, मिलता है।

राजकाराम (सललागार)—अब हमें जेतवनकी सीमाके विषयमें एक बार फिर कुछ बातोको साफ कर देना है। हमने पीछे कहा था कि विहार न० १९ जेतवन-खासके भीतर नही था। **संयुत्त-निकाय**[2] में आता है—एक बार भगवान् श्रावस्तीके राजकाराममें विहार करते थे। उस समय एक हजार भिक्षुणियोका संघ भगवान्के पास गया। इसपर **अट्ठकथा**में लिखा है—राजा **प्रसेनजित्** द्वारा बनवाए जाने के कारण इसका नाम राजकाराम पडा था। बोधिके पहले भाग (५२७१३ ई० पू०)में भगवान्के महान् लाभ-सत्कारको देखकर तीर्थिक लोगोने सोचा, यह इतनी पूजा शील-समाधिके कारण नही है। यह तो इसी भूमिका माहात्म्य है। यदि हम भी जेतवनके पास अपना आराम बना सकें तो हमें भी लाभ-सत्कार प्राप्त होगा। तीर्थिकोने अपने सेवकोंसे कहकर एक लाख कार्षापण इकट्ठा किया। फिर राजाको घूस देकर जेतवनके पास तीर्थिकाराम बनवानेकी आज्ञा ले ली। उन्होने जाकर, खंभे खडे करते हुए, हल्ला करना शुरू किया। बुद्धने गंधकुटीसे निकलकर बाहरके चबूतरेपर खडे हो आनन्दसे पूछा—ये कौन है आनन्द! मानो केवट मछली मार रहे हो। आनन्दने कहा—तीर्थिक जेतवनके पासमें तीर्थिकाराम बना रहे हैं। आनन्द! ये शासन के विरोधी भिक्षु-संघ-के विहारमें गडबड डालेंगे। राजासे कह कर हटा दो। आनन्द भिक्षु संघके साथ राजाके पास पहुँचे। घूस

---

२ **सोतापत्ति-संयुत्त** IV, Chapter II **सहस्सक** or **राजकाराम वग्ग** V, p 360

खानेके कारण राजा वाहर न निकला। फिर शास्ताने सारिपुत्त और मोग्ग-लानको भेजा। राजा उनके भी सामने न आया। दूसरे दिन वुद्ध स्वय भिक्षु-सघ सहित पहुँचे। भोजनके वाद उपदेश दिया और अतमें कहा—महाराज! प्रव्र-जितोको आपसमें लडाना अच्छा नही है। राजाने आदमियोको भेजकर वहाँसे तीर्थिकोको निकाल दिया और यह सोचा कि मेरा वनवाया कोई विहार नही है, इसलिए इसी स्थानपर विहार वनवाऊँ। इस प्रकार धन वापस किये विना ही वहाँ विहार वनवाया।

जातकट्ठकथा (निदान) में भी यह कथा आई है, जहाँसे हमें कुछ और वातें भी मालूम होती हैं।

तीर्थिकोने जवूद्वीपके सर्वोत्तम स्थानपर वसना ही श्रमण गौतमके लाभ-सत्कारका कारण समझा और जेतवनके पीछेकी ओर तीर्थिकाराम वनवानेका निश्चय किया। घूस देकर राजाको अपनी रायमें करके, वढ़इयोको वुलाकर, उन्होने आराम वनवाना आरम्भ कर दिया।

इन उद्धरणोंसे हमें पता लगता है—(१) जेतवनके पीछेकी ओर पासही में, जहाँसे काम करने वालोका शब्द गधकुटी में वैठे वुद्धको खूव सुनाई देता था, तीर्थिकोने अपना आराम वनाना आरम्भ किया था। (२) जिसे राजाने पीछे वन्द करा दिया। (३) राजाने वही आराम वनवाकर भिक्षु-सघको अर्पण किया। (४) यह आराम प्रसेनजित् द्वारा वनवाया पहला आराम था। नक्शेमें देखनेसे हमें मालूम होता है कि विहार न० १९ जेतवनके पीछे और गधकुटीसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर है। फासला गधकुटीसे प्राय: ९० फीट तथा जेतवनकी दक्षिण-पूर्व सीमासे विल्कुल लगा हुआ है। इस प्रकार का दूसरा कोई स्थान नही है, जिसपर उपर्युक्त वातें लागू हो। इस प्रकार विहार न० १९ ही राजकाराम है, जो मुख्य जेतवनसे अलग था।

इस विहारका हम एक जगह और (जातकट्ठकथामें) उल्लेख पाते हैं। यहाँ उसे जेवतन-पिट्ठि विहार अर्थात् जेतवनके पीछे वाला विहार कहा है। मालूम होता है, जेतवन और इस 'पिट्ठि विहार'के वीचमें होकर उस समय रास्ता जाता था। दोनो विहारोंके वीचसे एक मार्गके जानेका पता हमें धम्मपदट्ठकथासे भी लगता है। राजकाराम जेतवनके समीप था। उसे प्रसेनजित्ने वनवाया था।

एक बार उसमें भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाकी परिषद्में बैठे हुए, बुद्ध धर्मोपदेश कर रहे थे। भिक्षुओंने आवेशमें आकर "जीवें भगवान् जीवें सुगत" इस तरह जोरसे नारा लगाया। इस शब्दसे कथामें बाधा पडी। यहाँ स्पष्ट मालूम होता है कि यह राजकाराम अच्छा लम्बा-चौडा था।

ई० पू० छठी शताब्दीकी, बनी इमारतोंके ढाँचेमें न जाने कितनी बार परिवर्तन हुआ होगा। तीर्थिकाराम बनानेके वर्णनमें खभे उठाने और बढईसे ही काम आरम्भ करनेसे हम जानते है, कि उस समय सभी मकान लकडीके ही अधिक बनते थे। जगलोकी अधिकतासे इसमें आसानी भी थी। ऐसी हालतमें लकडीके मकानोका कम टिकाऊ होना उनके अवशेषोंके पानेके लिए और भी बाधक है। तथापि मौर्य-तलसे नीचे खुदाई करने में शायद ऐसे कुछ चिन्होंके पानेमें सफलता हो। अस्तु, इतना हम जानते हैं कि जहाँ कही बुद्ध कुछ दिनके लिए निवास करते थे, वहाँ उनकी गंधकुटी[1] अवश्य होती थी। यह गंधकुटी बहुतही पवित्र समझी जाती थी, इसलिए सभी गंधकुटियोंकी स्मृतिको बराबर कायम रखना स्वाभाविक है। जेतवनके नक्शेमें हम विहार न० १, २, ३, ५ और १९ एक विशेष तरहके स्थान पाते हैं। विहार न० १९ के पश्चिमी भागके बीचकी परिक्रमावाली इमारतके स्थानपर ही राजकाराममें बुद्धकी गंधकुटी थी।

आगे हम जेतवनके भीतरकी चार इमारतोंमें 'सललागार' को भी एक बतलाएँगे। दीघनिकायमें आता है—"एक बार भगवान् श्रावस्तीके सललागारमें विहार करते थे।" इसपर अट्ठकथामें लिखा है—"सलल (वृक्ष) की बनी गंधकुटी में।" संयुत्तनिकायमें भी—"एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध श्रावस्तीके सललागारमें विहार करते थे।" इसपर अट्ठकथामें—"सलल-वृक्ष-मयी पर्णशाला, या सललवृक्षके द्वारपर रहनेसे इस नामका घर।" दीघनिकायकी अट्ठकथाके अनुसार "सललघर राजा प्रसेनजित्का बनवाया हुआ था।"

(१) संयुत्त और दीघ दोनो निकायोंमें सललागारके साथ जेतवनका नाम न आकर, सिर्फ श्रावस्तीका नाम आना बतलाता है कि सललागार जेतवनसे

---

१ बुद्धके निवासकी कोठरीको पहले विहार ही कहते थे। पीछे, मालूम होता है, उसपर फूल तथा दूसरी सुगंधित चीजें चढाई जानेके कारण 'गंधकुटी' कहा जाने लगा।

वाहर था। (२) सललागारका अट्ठकथामें सललघर हो जाना मामूली वात है। (३) (क) सललघर राजा प्रसेनजित्का वनवाया था, (ख) जो यदि जेतवनमें नही था तो कम से कम जेतवनके वहुत ही समीप था, जिसे अट्ठकथाकी परम्पराके समय वह जेतवनके अतर्गत समझा जाने लगा।

हम ऐमे स्थान राजकाराम (विहार न० १९) को वतला चुके हैं, जो आज भी देखनेमें जेतवनसे वाहर नही जान पडता। इस प्रकार सललागार राजकारामका ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। श्रावस्तीके भीतर भिक्षुणियोका आराम भी, राजा प्रसेनजित्का वनवाया होने के कारण, 'राजकाराम' कहा जाता था, इसीलिये यह सललागार या सललघरके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

गंधकुटी—जेतवनके भीतरकी अन्य इमारतोपर विचार करनेसे पूर्व, गध-कुटीका जानना आवश्यक है, क्योकि इसे जान लेनेसे और स्थानोंके जाननेमें आसानी होगी। वैसे तो सारा जेतवनही 'अविजहितट्ठान' माना गया है, किन्तु जेतवनमें गधकुटी[1] को चारपाईके चारो पैरो के स्थान 'अविजहित' हैं, अर्थात् सभी अतीत और अनागत वुद्ध इसको नही छोडते। कुटीका द्वार किस दिशाको था, इसके लिए कोई प्रमाण हमें नहीं मिला। तो भी पूर्व दिशाकी विशेपताको देखते उसका पूर्व मुँह होना ही अधिक सभव प्रतीत होता है। जहाँ इस विपय पर पाली स्रोतसे हम कुछ नही पाते, वहाँ यह वात सतोपकी है कि सहेटके अन्दरके विहार न० १, २, ३, ५, १९ पाँचो ही विशेप मदिरोका द्वार पूर्व मुखको है। इसीलिए मुख्य दर्वाजा भी पूर्व मुँह ही को रहा होगा। दो स्त्री-पुरुप पानी पीने के लिए जव जेतवनके भीतर घुसे, तव उन्होने वुद्धको गधकुटीकी छायामें वैठे देखा। विहार न० २ के दक्षिण-पूर्वका कुआँ यद्यपि सर जान मार्शल[2]के कथनानुसार कुपाण-कालका है, तो भी तथागत के परिभुक्त कुएँकी पवित्रता कोई ऐसी-वैसी वस्तु नहीं, जिसे गिर जाने दिया गया हो। यदि इसकी ईंटें कुपाण-कालकी हैं, तो उससे यही सिद्ध हो

१ "जेतवन गधकुटिया चत्तारि मचपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति।"—**दी० नि०, महापदान सुत्त, १४, अ० क०।**

२ A S. I. Report, 1910-11

सकता है, कि ईसाकी आरम्भिक शताब्दियोमें इसकी अतिम मरम्मत हुई थी। दोपहरके वाद गधकुटीकी छायामें वैठे हुए, वुद्धके लिए दर्वाजेकी तरफसे कुएँपर पानी पीनेके लिए जाने वाला पुरुष सामने पडेगा, यह स्पष्ट ही है।

गधकुटी अपने समयकी सुन्दर इमारत होगी। **सयुत्तनिकायकी अट्ठकथा**[1] में इसे देवविमानके समान लिखा है। भरहुत स्तूपके जेतवन-चित्रसे इसकी कुछ कल्पनाहो सकती है। गधकुटीके वाहर एक चवूतरा (पमुख) था, जिससे गधकुटीका द्वार कुछ और ऊँचा था। इसपर चढनेके लिए सीढियाँ थी। पमुख-के नीचे खुला आँगन था। चवूतरेको 'गधकुटी पमुख' कहा गया है। भोजनो-परात यहाँ खडे होकर तथागत भिक्षु-सघ को उपदेश देते थे। मध्यान्हभोजनो-परात भगवान् पमुखपर खडे हो जाते, फिर सारे भिक्षु वदना करते थे, इसके वाद उन्हे उपदेश देकर वुद्धभी गधकुटीमें चले जाते।

सोपानफलक—गधकुटीमें जानेसे पहले, **मणिसोपानफलकपर** खडे होकर भिक्षु-सघको उपदेश देनेका भी वर्णन आता है। अकालमें वर्षा करानेके चम-त्कारके समयके वर्णनमें आता है कि वुद्धने वर्षा करा, "पुष्करिणीमें नहाकर लाल दुपट्टा पहन कमरवद वाँध, सुगतमहाचीवरको एक कधा (खुला रख) पहन, भिक्षु-सघसे चारो तरफ घिरे हुए जाकर गधकुटीके आँगनमें रखे हुए, श्रेष्ठ वुद्धासनपर वैठकर, भिक्षुसघके वदना करने पर उठकर मणिसोपानफलकपर खडे हो, भिक्षु-सघको उपदेश दे, उत्साहित कर सुरभि-गधकुटीमें प्रवेशकर " यह सोपान सभवत पमुखसे गधकुटी-द्वारपर चढनेके लिए था, क्योकि अन्यत्र इस मणिसोपानफलकको गधकुटीके द्वारपर देखते हैं—"एक दिन रातको गधकुटीके द्वारपर मणिसोपानफलकपर खडे हो भिक्षु-सघको सुगतोवाद दे गधकुटीमे प्रवेश करनेपर, धम्मसेनापति (=सारिपुत्र) भी शास्ताको वदनाकर अपने परिवेणको चले गये। महामोग्गलान भी अपने परिवेण को . ।"

गधकुटी-परिवेण—मालूम होता है, पमुख थोडा ही चौडा था। इसके नीचेका सहन गधकुटी-परिवेण कहा जाता था। इस परिवेणमें एक जगह वुद्धासन रखा रहता था, जहाँपर वैठे वुद्धकी वदना भिक्षु-सघ करता था। इस परिवेणमें वालू

१ **देव-संयत्त**

बिछाई हुई थी, क्योंकि मज्झिमनिकाय[1] अ० क० में अनाथपिंडकके बारेमें लिखा है, कि वह खाली हाथ कभी बुद्धके पास न जाता था, कुछ न होनेपर बालूही ले जाकर गंधकुटीके आँगनमें बिखेरता था। अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथामें, बुद्धके भोजनोपरांतके कामका वर्णन करते हुए, लिखा है—"इस प्रकार भोजनो-परांतवाले कृत्यके समाप्त होनेपर, यदि गात्र धोना (=नहाना) चाहते, तो बुद्धासनसे उठकर स्नानकोष्ठकमें जाकर, रखे जलसे शरीरको ऋतु-ग्रहण कराते। उपट्ठाक भी बुद्धासन ले आकर गंधकुटी-परिवेणमें रख देता। भगवान् लाल दुपट्टा पहनकर कायबंधन बाँधकर, उत्तरासंग एक कंधा (खुला रख) पहनकर वहाँ आकर बैठते, अकेले कुछ काल ध्यानावस्थित होते। तब भिक्षु जहाँ-तहाँसे भगवान्के उपस्थानके लिए आते। वहाँ कोई प्रश्न पूछते, कोई कर्म-स्थान पूछते। कोई धर्मोपदेश सुनना चाहते। भगवान्, उसके मनोरथको पूरा करते हुए, पहले यामको समाप्त करते थे।"

बुद्धासन-स्तूप—गंधकुटीका परिवेण इस तरह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान था। जेतवनमें, गंधकुटीमें, रहते हुए भगवान् यहीं आसीन हो प्राय नित्य ही एक याम उपदेश देते थे, वंदना ग्रहण करते थे। इस तरह गंधकुटी-परिवेणकी पवित्रता अधिक मानी जानी स्वाभाविक है। उसमें उस स्थानका माहात्म्य, जहाँ तथागतका आसन रखा जाता था, और भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे स्थानपर परवर्ती कालमें कोई स्मृति-चिह्न अवश्य ही बना होगा। जेतवनकी खुदाईमें स्तूप नं० H ऐसा ही एक स्थान मिला है। इसके बारेमें सर जान मार्शल लिखते हैं[2]—

"Of the stupas H, J and K, the first-mentioned seems to have been invested with particular sanctity, for not only was it rebuilt several times but it is set immediately in front of temple No 2, which there is good reason to identify with the famous Gandhakuti and right in the midst of the main road which approaches this sanctuary from the east .this plinth is constructed of bricks of same size as those monasteries (of Kushan Period)."

१ सुत्त १४३ की अट्ठकथा।

२ Archæological Survey of India, 1910-11, p 9

जान पडता है, यह स्तूप वह स्थान है जहाँ बैठकर तथागत उपदेश दिया करते थे, इसीलिए उसे बारबार मरम्मत करनेका प्रयत्न किया गया है। गंध-कुटी-परिवेणमें, भिक्षुओंके ही लिए नही, प्रत्युत गृहस्थोंके लिए भी उपदेश होता था—"विशाखा, उपदेश सुननेके लिए, जेतवन गई। उसने अपने बहुमूल्य आभूषण 'महालतापसाधन'को दासीके हाथमें इसलिये दे दिया था कि उपदेश[1] सुनते समय ऐसे शरीर-शृंगारकी आवश्यकता नहीं। दासी उसे चलते वक्त भूल गई। नगरको लौटते समय दासी आभूषणके लिए लौटी। विशाखाने पूछा—तूने कहाँ रखा था? उसने कहा—गंधकुटी-परिवेणमें। विशाखाने कहा—गंधकुटी-परिवेणमें रखनेके समयसे ही उसका लौटाना हमारे लिए अयुक्त है।"

आभूषणके छूटनेका यह वर्णन विनयमें भी आया है। संभवत बुद्धासन-स्तूपके पूर्वका स्तूप G इसीके स्मरणमें है। सर जान कहते हैं[2]—

This stupa is co-eval with the three buildings of Kushan Period, just described (*ibid*, p 10)

यह गंधकुटी-परिवेण बहुत ही खुली जगह थी, जिसमें हजारो आदमी बैठ सकते थे। बुद्धासन-स्तूप (स्तूप H) गंधकुटीसे कुछ अधिक हटकर मालूम होता है। उसका कारण यह है कि उपदेशके समय तथागत पूर्वाभिमुख बैठते थे। उनके पीछे भिक्षु-संघ पूर्व मुँह करके बैठता था और आगे गृहस्थ लोग तथागतकी ओर मुँह करके बैठते थे। गंधकुटी-प्रमुखसे बुद्धासन तककी भूमि भिक्षुओंके लिए थी। इसका वर्णन हमें उदानमें[3] मिलता है, जहाँ तथागत पाटलिगामके नये आवसथागारमें बैठनेका सविस्तर वर्णन है। संभवत यह परिवेण पहले और भी चौड़ा रहा होगा, और कमसे कम बुद्धासनसे उतना ही स्थान उत्तर ओर भी छूटा रहा होगा जितना कि नं० K से बुद्धासन। इस प्रकार कुषाण-कालकी इमारतके स्थानपरकी पुरानी इमारत, यदि कोई रही हो तो, दक्षिण तरफ इतनी बड़ी हुई न रही होगी, अथवा रही ही न होगी।

---

१ धम्मपदट्ठकथा, ४।४४, (विसाखाय वत्थु)।

२ A S I Report, 1910—1911

३ उदान—पाटलिगामियवग्ग (८।६)

गधकुटी कितनी लम्बी-चौडी थी, यद्यपि इसके जाननेके लिये कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता, तथापि एक आदमीके लिए थी, इसलिए वहुत वडी नहीं हो सकती। समवत विहार न० २ के वीचका गर्भ वहुत कुछ पुरातन गधकुटीके आकारको वतलाता है। गधकुटीके दर्वाजेमें किवाड[1] लगा था, जिसमें भीतरसे किल्ली (सूचीघटिक) लगानेका भी प्रवध था। इसमें तथागतके सोनेका मच था। इस मचके चारो पैरोंके स्थानको अट्ठकथावालोने 'अविजहित' कहा है। गधकुटीके दर्वाजे द्वारा कई वातोका सकेत भी होता था। म० नि० अट्ठकथा[2]में वुद्धघोपने लिखा है—"जिस दिन भगवान् जेतवनमें रहकर पूर्वाराममें दिनको विहार करना चाहते थे, उस दिन विस्तरा, परिष्कार भाडोको ठीक-ठीक करनेका सकेत करते थे। स्थविर (आनद) झाड देते, तथा कचडेमें फेंकनेकी चीजोको समेट लेते थे। जव अकेले पिंडचारको जाना चाहते थे, तव सवेरे ही नहाकर गधकुटीमें प्रवेशकर दर्वाजा वदकर समाविस्थ हो वैठते थे। जव भिक्षु-सघके साथ पिंडचारको जाना चाहते थे, तव गधकुटीको आधी खुली रखकर । जव जनपदमें विचरनेके लिए निकलना चाहते थे, तो एक-दो ग्रास अधिक खाते थे और चक्रमणपर आरूढ हो पूर्व-पश्चिम टहलते थे।" भरहुतके जेतवन-पट्टिकामें गधकुटीके द्वारका ऊपरी आधा भाग खुला है, जिससे यह भी पता लगता है कि किवाड ऊपर-नीचे दो भागोंमें विभक्त होता था। गधकुटीका नाम यद्यपि सैकडो वार आता है, किन्तु उसका इससे अधिक विवरण देखनेमें नही मिलता।

द्वारकोट्ठक—हम पीछे कह चुके हैं कि अनाथपिंडकके पहली वार लाये हुए कार्षापणोंसे जेतवनका एक थोडासा हिस्सा विना ढँका ही रह गया था। इसे कुमार जेतने अपने लिए माँग लिया और वहाँ उसने अपने दामसे कोठा वनवाया, जिसका नाम जेतवनवहिर्द्वारकोष्ठक या केवल द्वारकोट्ठक पडा। यह गधकुटीके सामने ही था, क्योकि धम्मपद-अट्ठकथामें आता है—

"एक समय अन्य तीर्थिक उपासकोने अपने लडकोको कसम दिलाई, कि घर आनेपर तुम शाक्यपुत्रीय श्रमणोको न तो वदना करना और न उनके विहारमें

---

१ धम्मपद-अट्ठकथा ४।४४ भी। २ सुत्त २६।

जाना। एक दिन जेतवन विहारके वहिर्द्वार-कोष्ठकके पास खेलते हुए उन्हे प्यास लगी। तब एक उपासकके लडकेको कहकर भेजा, तुम जाकर पानी पिओ और हमारे लिए भी लाओ। उसने विहारमें प्रवेशकर शास्ताको वदनाकर पानी पी इस वातको कहा। शास्ताने कहा, तुम पानी पीकर .जाकर औरोको भी, पानी पीनेके लिए यही भेजो। उन्होंने आकर पानी पिया। गधकुटीके पासका कुआँ हमें मालूम है। द्वारकोष्ठकसे कुएँपर आते हुए लडकोको गधकुटीके द्वारपरसे देखना स्वाभाविक है, यदि दर्वाजा गधकुटीके सामने हो।

जेतवन-पोक्खरणी—यह द्वारकोट्ठकके पास ही थी। **जातकट्ठकथा** (निदान) में एक जगह इसका इस प्रकार वर्णन आता है—

एक समय कोसल राष्ट्रमें वर्षा न हुई। सस्य सूख रहे थे। जहाँ-तहाँ तालाव, पोखरी और सरोवर सूख गये। **जेतवन-द्वार-कोष्टकके** समीपकी जेतवन-पुष्करिणी का जल भी सूख गया। घने कीचडमें घुसकर लेटे हुए मच्छ-कच्छपोंको कौए चील आदि अपनी चोचोंसे मार-मार ले जाकर, फडफडाते हुओको खाते थे। शास्ताने मत्स्य-कच्छपोंके उस दु खको देखकर, महती करुणासे प्रेरित हो निश्चय किया—आज मुझे पानी वरसाना है। भोजनके वाद सावत्थीसे विहारको जाते हुए जेतवन-पुष्करिणीके **सोपानपर** खडे हो आनद स्थविरसे कहा—आनद, नहानेकी धोती ला, जेतवन-पुष्करिणीमें स्नान करेंगे। शास्ता एक छोरसे नहानेकी धोतीको पहनकर और दूसरे छोरसे सिरको ढाँककर सोपानपर खडे हुए। पूर्वदिशा-भागमें एक छोटीसी घटाने उठकर बरसते हुए सारे कोसल राष्ट्रको वाढ जैसा बना दिया। शास्ताने पुष्करिणीमें स्नान कर, लाल दुपट्टा पहिन ।

यहाँ हमें मालूम होता है कि (१) पुष्करिणी जेतवन-द्वारके पास ही थी, (२) उसमें घाट बँधा हुआ था।

इस पुष्करिणीके पास वह स्थान था, जहाँपर देवदत्तका जीते जी पृथ्वीमें समाना कहा गया है। फाहियान और युन्-च्वेङ दोनो ही देवदत्तको जेतवनमें तथागतपर विष-प्रयोग करनेके लिए आया हुआ कहते हैं, किंतु **धम्मपद अट्ठकथाका** वर्णन दूसरा ही है—

देवदत्त[1] ने, नौ मास बीमार रहकर अतिम समय शास्ताके दर्शनके लिए

---

[1] ध० प० १।१२। अ० क० ७४, ७५ (Commentary, Vol. I, p. 147) देवदत्तवत्थु। देखो दी० नि० सुत्त २ की अट्ठकथा भी।

उत्सुक हो, अपने शिष्योंसे कहा—मैं शास्ताका दर्शन करना चाहता हूँ, मुझे दर्शन करवाओ। ऐसा कहनेपर—समर्थ होनेपर तुमने शास्ताके साथ वैरीका आचरण किया, हम तुम्हें वहाँ न ले जायँगे। तब देवदत्तने कहा—मेरा नाश मत करो। मैंने शास्ताके साथ आघात किया, किंतु मेरे ऊपर शास्ताको केशाग्र-मात्र भी क्रोध नही है। वे शास्ता वधिक देवदत्तपर, डाकू अगुलिमालपर, धनपाल और राहुल—सब पर, एक समान भाववाले हैं। तब वह चारपाईपर लेकर निकले। उसका आगमन सुनकर भिक्षुओंने शास्तासे कहा . । शास्ताने कहा—भिक्षुओ! इस शरीरसे वह मुझे न देख सकेगा .। अब एक योजन-पर आ गया है, आधे योजनपर, गावुत (=गव्यूति) भरपर, जेतवन-पुष्करिणी-के समीप ..। यदि वह जेतवनके भीतर भी आ जाय, तो भी मुझे न देख सकेगा। देवदत्तको ले आनेवाले जेतवनपुष्करिणीके तीरपर चारपाईको उतार पुष्करिणीमें नहाने गये। देवदत्त भी चारपाईसे उठ दोनो पैरोको भूमिपर रखकर बैठा। वह वही पृथ्वीमें चला गया। वह क्रमश घुट्टी तक, फिर ठेहुने तक, फिर कमर तक, छाती तक, गर्दन तक घुस गया। ठुड्डीकी हड्डीके भूमिपर प्रतिष्ठित होते समय उसने यह गाथा कही—

इन आठ प्राणोंसे उस अग्रपुद्गल (=महापुरुष) देवातिदेव, नरदम्यसारथी समतचक्षु शतपुण्यलक्षण बुद्धके शरणागत हूँ।

वह अबसे सौ हजार कल्पो बाद अट्ठिस्सर नामक प्रत्येकबुद्ध होगा।—वह पृथ्वीमें घुसकर अवीचिनरकमें उत्पन्न हुआ।

इस कथामें और ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी न हो, किंतु इसमें सदेह नही कि देवदत्तके जमीनमें धँसनेकी किंवदती फाहियानके समय (पाँचवी शताब्दीमें) खूब प्रसिद्ध थी। वह उससे भी पहलेकी सिंहाली अट्ठकथाओंमें वैसे ही थी, जिसके आधारपर फाहियानके समकालीन बुद्धघोषने पाली अट्ठकथामें इसे लिखा। फाहियानने देवदत्तके धँसनेके इस स्थानको जेतवनके पूर्वद्वारपर राजपथसे ७० पद पश्चिम ओर, जहाँ चिंचाके धरतीमें धँसनेका उल्लेख किया है, लिखा है।

युन्-च्वेड्ने इस स्थानके विषयमें लिखा है—

"To the east of the convent about 100 paces is a great

chasm, this is where Devadutta went down alive into Hell after trying to poison Buddha To the south of this, again is a great ditch, this is the place where the Bhikshu Kokali went down alive into Hell after slandering Buddha To the south of this, about 800 paces, is the place where the Brahman woman Chancha went down alive into Hell after slandering Buddha All these chasms are without any visible bottom (or bottomless pits)," (Beal, *Life of H T.*, pp 93 and 94)

इनमें ऐतिहासिक तथ्य संभवत इतना ही हो सकता है, कि मरणासन्न देवदत्तको अंतमें अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ और वह बुद्धके दर्शनके लिए गया, किन्तु जेतवनके दर्वाजेपर ही उसके प्राण छूट गये। यह मृत्यु पहले भूमिमें धँसनेमें परिणत हुई। फाहियानने उसे पृथ्वीके फटकर बीचमें जगह देनेके रूपमें सुना। युन्-च्वेङ्के समय वह स्थान अथाह चँदवकमें परिणत हो गया। किंतु इतना तो ठीक ही है, कि यह स्थान (१) पूर्वकोट्ठकके पास था, (२) पुष्करिणीके ऊपर था, (३) विहार (गंधकुटी) से १०० कदमपर था, और (४) चिंचाके धँसनेका स्थान भी इसके पास ही था।

चिंचाके धँसनेका स्थान द्वारके बाहर पासहीमें अट्ठकथामें भी आता है, किंतु कोकालिकके धँसनेका कही जिक्र नही आता। बल्कि इसके विरुद्ध उसका वर्णन सुत्तनिपातमें इस प्रकार है—

कोकालिकने जेतवनमें भगवान्के पास जाकर कहा—भंते, सारिपुत्त मोग्गलान पापेच्छु हैं, पापेच्छाओंके वशमें हैं। भगवान्ने उसे सारिपुत्त मोग्गलानके विषयमें चित्तको प्रसन्न करनेके लिए तीन बार कहा, किंतु उसने तीन बार उसीको दुहराया। वहाँसे प्रदक्षिणा करके गया तो उसके सारे बदनमें सरसोंके बराबर फुंसियाँ निकल आई, जो क्रमश बिलसे भी बडी हो फूट गई। फिर खून और पीव बहने लगा और वह इसी बीमारीसे मरा।

इसमें कही कोकालिकके धँसने या बुद्धको अपमानित करनेका वर्णन नही है। इसमें शक नही, इसी सुत्तनिपातकी अट्ठकथामें इस कोकालियको देवदत्तके शिष्य कोकालियसे अलग बतलाया है, किंतु उसका भी जेतवनके पास भूमिमें

धँसना कही नहीं मिलता। चिचाके भूमिमें धँसनेका उल्लेख फाहियान और युन्-च्वेङ दोनोहीने किया है। लेकिन युन्-च्वेङने ८०० कदम दक्षिण लिखा है, यद्यपि फाहियानने चूहोंसे बंधन काटने और धँसनेका स्थान एक ही लिखा है। पालीमें यह कथा इस प्रकार है—

पहली बोधी[1] (५२७-१३ ई० पू०) में तीर्थिकोंने बुद्धके लाभ-सत्कारको देखकर उसे नष्ट करनेकी ठानी। उन्होंने चिंचा परिव्राजिकासे कहा। वह श्रावस्ती-वासियोंके धर्मकथा सुनकर जेतवनसे निकलते समय इन्द्रगोपके समान वर्णवाले वस्त्रको पहन गंधमाला आदि हाथमें ले जेतवनकी ओर जाती थी। जेतवनके समीपके तीर्थिकाराममें वासकर प्रात ही नगरसे, उपासकजनोंके निकलनेपर, जेतवनके भीतर रही हुई-सी हो, नगरमें प्रवेश करती थी। एक मासके बाद पूछनेपर कहती थी—जेतवन में श्रमण गोतमके साथ एक गंधकुटी हीमें सोई हूँ। आठ-नौ मासके बाद पेटपर गोल काष्ठ बाँधकर, ऊपरसे वस्त्र पहन, सायाह्न समय, धर्मोपदेश करते हुए तथागतके सामने खडी हो उसने कहा—"महाश्रमण, लोगोको धर्मोपदेश करते हो। मैं तुमसे गर्भ पाकर पूर्णगर्भा हो गई हूँ। न मेरे सूतिका-गृहका प्रबंध करते हो और न घी-तेलका। यदि आपसे न हो सके तो, अपने किसी उपस्थापकहीसे—कोसलराजसे, अनाथपिंडकसे या विशाखासे—करा दो ।" इसपर देवपुत्रोंने, चूहेके बच्चे बन, बंधनकी रस्सीको काट दिया। लोगोंने यह देख उसके सिरपर थूककर उसे ढेले, डंडे आदिसे मारकर जेतवनसे बाहर किया। तथागतके दृष्टिपथसे हटनेके बाद ही महापृथिवीने फटकर उसे जगह दी।

इस कथामें तथागतके आँखोंके सामनेसे चिंचाके अलग होते ही उसका पृथिवीमें धँसना लिखा है। बुद्ध इस समय बुद्धासनपर (स्तूप H) बैठे रहे होंगे। दर्वाजेके बहि कोष्ठक सामने ही था। द्वारकोट्ठकके पार होते ही उसका आँखोंसे ओझल होना स्वाभाविक है और इस प्रकार धँसनेकी जगह द्वारकोट्ठकके बाहर पास ही, पुष्करिणीके किनारे हो सकती है, जिसके पास, पीछे देवदत्तका धँसना कहा जाता है। यह फाहियानके भी अनुकूल है। काल बीतनेके साथ

---

1 धम्मपद—अ० क०, १३.१९

कथाओंके रूपमें अतिशयोक्ति होनी स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त युन्-च्वेङ उस समय आये थे, जिस समय महायान भारतमें यौवनपर था। महायान ऐतिहासिकताकी अपेक्षा लोकोत्तरताकी ओर अधिक झुकता है, जैसाकि महायान करुणा-पुडरीक सूत्र आदिसे खूब स्पष्ट है। इसीलिए युन-च्वेङ्की किंवदतियाँ फाहियानकी अपेक्षा अधिक अतिरजित मिलती हैं। इसीलिए युन्-च्वेङ्की कथामें चिचाको हम ८०० कदम और दक्षिण पाते है। युन्-च्वेङ्का यह कथन कि देवदत्तके धँसनेकी जगह, अर्थात् द्वारकोट्ठकके वाहर पुष्करिणीका घाट विहार (=गध-कुटी) से १०० कदम था, ठीक मालूम होता है, और इस प्रकार विहार F की पूर्वी दीवारसे विलकुल पास ही जेतवनके द्वारकोट्ठकका होना सिद्ध होता है। फिर ४८७ नवरवाले खेतकी निचली भूमि ही जेतवनकी पुष्करिणी सिद्ध होती है।

कपल्ल-पूव-पब्भार—इसमें सदेह नही कि कितनी ही जगहोका आरभ अनैतिहासिक कथाओपर अवलवित है, किंतु इससे वैसे स्थानोका पीछे वना लिया जाना असत्य नही हो सकता। ऐसा ही एक स्थान जेतवनद्वारकोट्ठकमें 'कपल्ल-पूव-पब्भार' था। कथा यो है—

राजगृह नगर[1] के पास एक सक्खर नामका कस्वा था। वहाँ अस्सी करोड धनवाला कौशिक नामक एक कजूस सेठ रहता था। उसने एक दिन वहुत आगा-पीछा करके भार्यासे पुआ खानेके लिए कहा। स्त्रीने पुआ वनाना आरभ किया। यह जान स्थविर महामोग्गलान उसी समय जेतवनसे निकलकर ऋद्धिवलसे उस कस्बेमें सेठके घर पहुँचे। सेठने भार्यासे कहा—भद्रे! मुझे पुओकी जरूरत नही, उन्हे इसी भिक्षुको दे दो। स्थविर ऋद्धिबलसे सेठ-सेठानीको पुओंके साथ लेकर जेतवन पहुँच गये। सारे विहारके भिक्षुओको देनेपर भी वह समाप्त हुआ-सा न मालूम होता था। इसपर भगवान्ने कहा—इन्हे जेतवन द्वारकोट्ठक पर छोड दो। उन्होने उसे द्वारकोट्ठकके पासके स्थानपर ही छोड दिया। आज भी वह स्थान कपल्ल-पूव-पब्भारके ही नामसे प्रसिद्ध है।

यह स्थान भी द्वारकोष्ठकके ही एक भागमें था, और इस जगहकी स्मृतिमें भी कोई छोटा-मोटा स्तूप अवश्य वना होगा।

---

१ **धम्मपदट्ठकथा**, Vol I, p 373

जेतवनके वाहरकी वातोंको समाप्तकर अव हमें जेतवनके अदरकी शेष इमारतोको देखना है। विनयके अनुसार अनाथपिडकने जेतवनके भीतर ये चीजें वनवाईं—विहार, परिवेण, कोठा, उपस्थान-शाला, कप्पियकुटी, पाखाना, पेशावखाना, चंक्रम (= टहलनेकी जगह), चक्रमणशाला, उपदान (= प्याऊ), उदपानशाला, जताघर (= स्नानगृह), जताघरशाला, पुष्करिणी और मडप। जातक-अट्ठकथा[१] (निदान)के अनुसार इनका स्थान इस प्रकार है—मध्यमें गंधकुटी, उसके चारो तरफ अस्सी महास्थविरोंके अलग-अलग निवासस्थान, एककुड्डक (= एकतला), द्विकुड्डक, हसवट्टक, दीघशाला, मडप आदि तथा पुष्करिणी, चक्रमण, रात्रिको रहनेके स्थान और दिनको रहनेके स्थान।

चुल्लवग्गके[२] सेवासनक्खंधक (६) से हमें निम्न प्रकारके गृहोका पता लगता है—

उपस्थानशाला—उस समय भिक्षु खुली जगहमें खाते समय शीतसे भी, उष्णसे भी कष्ट पाते थे। भगवान्से कहनेपर उन्होने कहा—मैं अनुमति देता हूँ कि उपस्थानशाला वनाई जाय, ऊँची कुरसीवाली, ईंट, पत्थर या लकडीसे चिनकर, सीढी भी ईंट, पत्थर या लकडीकी, वाँह-आलवन भी, लीप-पोतकर, सफेद या काले रगकी गेरूसे सँवारी, माला लता, चित्रोंसे चित्रित, खूँटी, चीवर-वांस चीवर-रस्सीके सहित।

जेतवनमें भी ऐसी उपस्थानशाला थी, जिसका वर्णन सूत्रोमें वहुत आता है। जेतवनकी यह उपस्थानशाला लकडी की तथा नीचे ईंटें विछी रही होगी।

जेतवनके भीतर हम इन इमारतोका वर्णन पाली स्रोतसे पाते हैं—करेरि-कुटिका, कोसवकुटी, गधकुटी, सललघर, करेरिमडलमाल, करेरिमडप, गव-मडलमाल, उपट्ठानसाला (= धर्म्मसभामडप), नहानकोट्ठक, अग्गिसाला, अवलकोट्ठक (= आसनसाला, पानीयसाला), उपसपदा-मालक। यद्यपि सललघर जेतवनके भीतर लिखा मिलता है, किंतु ज्ञात होता है कि जेतवनसे यहाँ जेतवन-राजकाराम अभिप्रेत है और सललघर राजकारामकी ही गधकुटीका नाम था।

करेरिकुटिका और करेरिमंडलमाल—दीघनिकाय[३] में आता है—एक समय

---

१ जातक, १।८।८ २ विनयपिटक। ३ दी० नि० महापदानसुत्त।

का बनवाया हुआ आराम था। यह जेतवनके बाहर होनेपर भी शायद समीपताके कारण उसमें ले लिया गया था। ऐसा होनेपर विहार न० ५ को हम करेरिकुटी मान सकते हैं। करेरिका वृक्ष उसके द्वारपर पूर्वोत्तरके कोनेमें था, और करेरि-मडलमाल उससे पूर्वोत्तरमें।

उपट्ठानसाला (उपस्थानशाला)—खुद्दकनिकायके उदान ग्रथमें आता है—"एक समय[1] भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय भोजनके बाद, उपस्थानशालामें इकट्ठे बैठे, बहुतसे भिक्षुओंमें यह कथा होती थी। इन दोनो राजाओंमें कौन बडा है, राजा मागध सेनिय बिंबिसार अथवा राजा प्रसेनजित् कोसल।. उस समय ध्यानसे उठकर भगवान् शामके वक्त उपट्ठानशालामें गये और बिछे आसनपर बैठे।"

इसकी अट्ठकथामें आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—

'भगवान्[2] ने भोजनोपरात गधकुटीमें प्रवेशकर फलसमापत्ति सुखके साथ दिवस-भागको व्यतीतकर (सोचा) अब चारो परिषद् (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) मेरे आनेकी प्रतीक्षामें सारे विहारको पूर्ण करती बैठी है, अब धर्मदेशनाके लिए धर्म-सभा-मडलमें जानेका समय है ।'

इससे मालूम होता है कि उपस्थानशाला (१) जेतवनमें भिक्षुओंके एकत्र होकर बैठनेकी जगह थी, (२) तथागत सायकालको उपदेश देनेके लिए वहाँ जाते थे। अट्ठकथासे इतना और मालूम होता है—(३) इसीको धर्म-सभा-मडल भी कहते थे। (४) यह गधकुटीके पास थी, (५) सायकालको धर्मोपदेश सुननेके लिए भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका सभी यहाँ इकट्ठे होते थे, (६) मडल शब्दसे करेरिमडलकी भाँति ही यह भी शायद फूसके छप्परोंसे प्रतिवर्ष छाई जानेवाली इमारत थी, (७) ये छप्पर शायद गधकुटीके पासवाली भूमिपर पडे थे, इसीलिए 'सारे विहारको पूर्ण करती' शब्द आया है।

गधकुटीके पासवाले गधकुटी-परिवेणके विषयमें हम कह चुके हैं। यह गधकुटीके सामनेका आँगन था। गधकुटीकी शोभाके ढँक जानेके खयालसे इस

१ "तेन खो पन समयेन उपट्ठानसालाय सन्निसिन्नानं सन्निपतितान अयमन्तराकथा उदपादि।"—उदान, २-२

२ उदानट्ठकथा, पृ० ७२

जगह उपस्थानशाला नही हो सकती। यह सभवत गधकुटी से लगे हुए उत्तर तरफके भू-खडपर थी, जिसमें स्तूप न० ८ या ९ शायद बुद्धासनके स्थानपर है।

स्नानकोष्ठक—अगुत्तरनिकाय-अट्ठकथाका उद्धरण दे चुके हैं—"भोजनोपरान्तवाले कृत्य (तीसरे पहरके कृत्य—उपदेश आदि) के समाप्त होनेपर, यदि बुद्ध नहाना (=गात्र धोना) चाहते थे, तो बुद्धासनसे उठकर स्नानकोष्ठकमें . शरीरको ऋतु-ग्रहण कराते थे।" (१) यह स्नान-कोष्ठक गधकुटीके पास था। (२) गधकुटीके पासका कुआँभी इसके पासही हो सकता है। (३) यह अलग नहानेकी एक छोटीसी कोठरी रही होगी।

विहार न० २ के कुएँके पासवाला स्तूप K स्नानकोष्ठकका स्थान मालूम होता है, जिसके विषयमें सर जान मार्शलने लिखा है—

The character is not wholly apparent It consists of a chamber, 12′ 8″ square, with a paved passage around enclosed by an outer wall. The floor of the inner chamber and the passage around it are paved in bricks of the same size 13″×9″×2½″ (of Kushana period) as those used in the walls......absence of any doorway, In all probability, it was a stupa with a relic-chamber within and a paved walk outside, and the outer wall was added at a later date....A few feet to the south west of this structure is a carefully constructed well, which appears to be a slightly later date than the building K....The bricks are of the same size as those in the building K....sweet and clear water...

जताघर (=अग्निशाला)—इसके बारेमें धम्मपद अट्ठकथाके वाक्य ये हैं—

सडे शरीरवाला तिष्य[1] स्थविर अपने शिष्य आदि द्वारा छोड दिया गया था। (भगवान्ने सोचा) इस समय मुझे छोड इसका दूसरा कोई अवलंब नही, और गधकुटीसे निकल विहारचारिका करते हुए, अग्निशालामें जा जलपात्रको

---

१ ध० प० ४·८, अ० क० १५७

धो चूल्हेपर रख जल को गर्म हुआ जान, जाकर उस भिक्षुके लेटनेकी खाटका किनारा पकडा। तव भिक्षु खाटको अग्निशालामें लाये। शास्ताने इसके पास खडे हो गर्म पानीसे शरीरको भिगोकर मलमलकर नहलाया। फिर वह हल्के शरीर हो और एकाग्रचित्त हो, खाटपर लेटा। शास्ताने उसके सिरहाने खडे हो यह गाथा कह उपदेश दिया—

"देर नही है कि तुच्छ, विज्ञान-रहित, निरर्थक काष्ठखड-सा यह शरीर पृथ्वी पर लेटेगा। देशनाके अतमें वह अर्हत्वको प्राप्त हो, परिनिर्वृत्त हुआ। शास्ताने उसका शरीरकृत्य कराकर हड्डियाँ ले चैत्य वनवाया।"

जताघर[1] और अग्निशाला दोनो एक ही चीज है। चुल्लवग्गमें अग्निशालाके विधानमें यह वाक्य है—

"अनुज्ञा[2] देता हूँ, एक तरफ अग्निशाला ऊँची कुर्सीकी , ईंट पत्थर या लकडीसे चुनी , सोपान आलवनवाहु-सहित ।"

महावग्गमें सामणेरका कर्त्तव्य वर्णन करते हुए जताघरके सम्वन्धमें इस प्रकार कहा गया है—

"यदि[3] उपाध्याय नहाना चाहते हो। यदि उपाध्याय जताघरमें जाना चाहते हो, तो चूर्ण ले जाना चाहिए, मिट्टी भिगोनी चाहिए। जताघरके पीठ (=चौकी) को लेकर उपाध्यायके पीछे-पीछे जाकर, जताघरमें पीठ देकर, चीवर लेकर एक तरफ रखना चाहिए। चूर्ण देना चाहिए। मिट्टी देनी चाहिए। . जलमें भी उपाध्यायका परिकर्म करना (=मलना) चाहिए। नहाकर पहले ही निकलकर अपने गात्रको निर्जलकर वस्त्र पहनकर, उपाध्यायके गात्रसे जल सम्मार्जित करना चाहिए। वस्त्र देना चाहिए, सघाटी देनी चाहिए। जताघरके पीठको लेकर पहले ही (निवासस्थानपर) आकर आसन ठीक करना चाहिए ।"

जताघरका वर्णन और भी है[4]—

---

१ 'जताघर त्वग्गिसाला" (अभिधानप्पदीपिका २१४)।

२ "अनुजानामि भिक्खवे एकमन्त अग्गिसाल कातुं...उच्चवत्युक इट्ठिका-चय सिलाचय दारुचयं.. सोपान ..आलवनवाह ।" (सेनासनक्खधक, ६)

३ विनयपिटक, महा० व०, p 43

४ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, खुद्दकवत्थुक्खधक, pp 213, 214.

"अनुज्ञा देता हूँ (जताघरको) उच्च-वस्तुक करना किवाड . . सूचिक, घटिक, तालछिद्र धूमनेत्र छोटे जताघरमें एक तरफ अग्निस्थान, वडेके मध्यमें । (जताघरमें कीचड होता था इसलिए) ईंट, पत्थर या—लकडीसे गच करना, पानीका रास्ता वनाना जताघरसे , ईंट, पत्थर या लकडीके प्राकारसे परिक्षेप करना ।" इन उद्धरणोसे मालूम होता है कि (१) जताघर सघारामके एक छोर पर होता था। (२) यह नहानेकी जगह थी। (३) ईट, पत्थर या लकडीकी चुनी हुई इमारत होती थी। (४) उसमें पानी गर्म करनेकेलिए आग जलाई जाती थी, इसीलिए उसे अग्निशाला भी कहते हैं। (५) उसमें किवाड, ताला-चाभी भी रहती थी। (६) धुएँकी चिमनी भी होती थी। (७) वडे जताघरोमें आग जलानेका स्थान वीचमें, छोटोमें एक किनारेपर। (८) जताघरकी भूमि ईंट, पत्थर या लकडीसे ढँकी रहती थी। (९) उसमें पीढेपर वैठकर नहाते थे। (१०) वह ईंट, पत्थर या लकडीको दीवारसे घिरा रहता था।

जेतवनका जताघर भी जेतवनके अगल-वगल एक कोनेमें रहा होगा, जो ऊपर वर्णन किये गये तरीकेपर सभवत ईंट और लकडीसे वना होगा। ऐसा स्थान जेतवनके पूर्व-दक्षिण कोणमें सभव हो सकता है, अर्थात् विहार B के आसपास।

आसनशाला, अवलकोट्ठक—जातकट्ठकथामें इसके लिए यह शब्द है—

"अवलकोष्ठक[1] आसनशालामें भात खानेवाले कुत्तेके सम्वन्धमें कहा। उस (कुत्ते)को जन्मसे ही पनभरोने लेकर वहाँ पाला था।" इससे हमें ये वातें मालूम होती हैं—(१) जेतवनमें आसनशाला थी, (२) जिसके पास या जिसमें ही अवलकोष्ठक नामकी कोई कोठरी थी, (३) जिसमें पानी भरनेवाले अक्सर रहा करते थे, (४) पानीशाला या उदपानशाला भी यही पासमें थी।

यह स्थान भी गधकुटीसे कुछ हटकर ही होना चाहिए। पनभरोंके सम्वन्धसे मालूम होता है, यह भी जताघर (विहार B)के पासही कहीपर रहा होगा।

उपसपदामालक—"फिर[2] उसको स्थविरने जेतवनमें ले आकर अपने हाथसे ही नहलाकर, मालकमें खडा कर प्रव्रजित कर, उसकी लँगोटी और हलको मालककी सीमाहीमें वृक्षकी डाल पर रखवा दिया।"

---

१ जातक, २४२ २ ध० प०, २५.१०, अ० क०

अन्यत्र धम्मपद (८ ११ अ० क०) में भी उपसपदा-मालक नाम आता है।

यह सभवत गधकुटीके पास कही एक स्थान था, जहाँ प्रव्रज्या दी जाती थी। जेतवनमें वैसे सभी जगह वृक्ष ही वृक्ष थे, अत इसकी सीमामें वृक्षका होना कोई विशेपता नही रखता।

आनदवोधि—जेतवनके भीतर आनदवोधि थी। जातकट्ठकथामें उसके लिए यह वाक्य हैं—

"आनद[1] स्थविरने रोपा था, इसलिये आनदवोधि नाम पडा। स्थविर द्वारा जेतवनद्वारकोष्ठकके पास वोधि (=पीपल) का रोपा जाना सारे जम्बू-द्वीपमें प्रसिद्ध हो गया था।"

भरहुतकी जेतवन-पट्टिकामें भी गधकुटीके सामने, कोसवकुटीसे पूर्वोत्तरके कोणपर, वेष्टनीसे वेष्टित एक वृक्ष दिखाया गया है, जो सभवत आनदवोधि ही है। यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणसे यह नही मालूम होता कि यह पीपलका वृक्ष द्वारकोष्ठकके वाहर था या भीतर, किंतु अधिकतर इसका भीतर ही होना सम्भव है, क्योकि ऐसा पूजनीय वृक्ष जेतवन खासके भीतर होना चाहिए। पट्टिकामें भी भीतर ही दिखलाया गया है, क्योकि उसमें द्वारकोष्ठक छोड दिया गया है।

वड्ढमान—जेतवनके भीतर यह एक और प्रसिद्ध वृक्ष था। धम्मपदट्ठ-कथामें—"आनद, आज बर्द्धमानकी छायामें चित्त . मुझे वदना करेगा। वदनाके समय राज-मानसे आठ करीस प्रमाण प्रदेशमें दिव्य पुष्पोकी घनी वर्पा होगी।" (ध० प० ५ १४, अ० क० २५०)। यह चित्त गृहपति तथागतके सर्वश्रेष्ठ गृहस्थ शिष्योमें था। तथागतने इसके बारेमें स्वय कहा है—"भिक्षुओ, श्रद्धालु उपासक अच्छी प्रार्थना करते हुए यह प्रार्थना करे, वैसा होऊँ जैसा कि चित्त गहपति।" (अ० नि० ३-२-२-५३)।

सुदरी—जेतवनके सबधमें एक और प्रसिद्ध घटना (जो अट्ठकथा और चीनी परिव्राजकोंके विवरणमें ही नही, वरन् त्रिपिटकके मूलभाग उदानमें भी, मिलती है) सुदरी परिव्राजिकाकी है। उदानमें इसका उल्लेख इस प्रकार है—

"भगवान् जेतवन[2] में विहरते थे। उस समय भगवान् और भिक्षुसघ सत्कृत

---

१ जातक, २६१

२ उदान, ४:८ (मेघियवग्ग)

पूजित, पिंडपात, शयनासन, ग्लानप्रत्य भैपज्योंके लोभी थे, लेकिन अन्य तीर्थिक परिव्राजक असत्कृत थे। तव वे तीर्थिक, भगवान् और भिक्षु सघके सत्कारको न सहते हुए, सुदरी परिव्राजिकाके पास जाकर बोले—

'भगिनी! ज्ञातिकी भलाई करनेका उत्साह रखती हो?—मैं क्या करूँ आर्यो! मेरा क्या नही कर सकती? जीवन भी मैंने ज्ञातिके लिए अर्पित कर दिया है।—तो भगिनी वार-वार जेतवन जाया कर।—बहुत अच्छा आर्यो! यह कह ,सुदरी परिव्राजिका वरावर जेतवन जाने लगी। जब अन्य तीर्थिक परिव्राजकोंने जाना, कि बहुत लोगोने सुदरी . को वरावर जेतवन जाते देख लिया, तो उन्होने उसे जानसे मारकर वही जेतवनकी खाईमे कुआँ खोदकर डाल दिया और राजा प्रसेनजित् कोसलके पास जाकर कहा—महाराज! जो वह सुदरी परिव्राजिका थी, सो नही दिखलाई पडती।—तुम्हे कहाँ सन्देह है?—जेतवनमें महाराज—तो जाकर जेतवनको ढूँढो। तव (उन्होंने) जेतवनमें ढूँढकर अपने खोदे हुए, परिखाके कुएँ, से निकालकर खाटपर डाल श्रावस्तीमें प्रवेश कर, एक सडकसे दूसरी सडक, एक चौराहेसे दूसरे चौराहेपर जाकर आदमियोको शकित कर दिया—"देखो आर्यो! शाक्यपुत्रीय श्रमणोका कर्म, ये अलज्जी, दु शील, पापधर्म, मृपावादी, अब्रह्मचारी हैं। इनको श्रामण्य नही, इनको ब्रह्मचर्य नही। इनका श्रामण्य, ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया है। कैसे पुरुष पुरुपकर्म करके स्त्रीको जानसे मार देगा?"

उस समय सावत्थीमें लोग भिक्षुओको देखकर (उन्हे) असभ्य और कडे शब्दोंसे फटकारते थे, परिहास करते थे । तव बहुतसे भिक्षु श्रावस्तीसे पिंडपात करके भगवान्के पास जाकर बोले —इस समय भगवान्! श्रावस्तीमें लोग भिक्षुओको देखकर असभ्य और कडे शब्दोंसे फटकारते हैं । यह शब्द भिक्षुओ! चिरकाल तक नही रहेगा, एक सप्ताहमें समाप्त हो, लुप्त हो जायगा । (और) वह, शब्द चिरकाल तक नही रहा, सप्ताह भर ही रहा ।"

धम्मपदअट्ठकथामें भी यह कथा आई है, वहाँ यह विशेपता है— तव तीर्थिकोंने[1] कुछ दिनोंके वाद गुडोको कहापण देकर कहा—जाओ सुदरीको

१ ध० प०, २२-१, अ० क०, ५७१

मारकर श्रमण गोतमकी गंधकुटीके पास मालोंके कूडेमें डाल आओ । राजाने कहा—तो (मुर्दा लेकर) नगरमें घूमो। (फिर) राजाने सुदरीके शरीरको कच्चे श्मशानमें मचान बाँधकर रखवा दिया।. गुडोने उस कहापणसे शराब पीते ही झगडा किया (और रहस्य खोल दिया) । राजाने फिर तीर्थिकोको कहा—जाओ, यह कहते हुए नगरमें घूमो कि यह सुदरी हमने मरवाई । (फिर) तीर्थिकोने भी मनुष्य-वधका दड पाया।

उदानमें कहा है—(१) तीर्थिकोने खुद मारा। (२) जेतवनकी परिखामें कुआँ खोदकर सुदरीके शरीरको दबा दिया। (३) सप्ताह बाद अपनी ही बदनामी रह गई। लेकिन धम्मपदअट्ठकथामें—(१) तीर्थिकोने गुडोंसे मरवाया। (२) जेतवनकी गधकुटीके पास मालाके कूडेमें सुदरीके शरीरको डाल दिया। (३) धूर्तोंने शराबके नशेमें भडा फोड दिया। (४) तीर्थिकोको भी मनुष्य-वधका दड मिला। यहाँ यद्यपि अन्य अशोका समाधान हो सकता है, तथापि उदानका 'परिखामें गाडना' और अट्ठकथाका गधकुटीके पास कूडेमें डालना, परस्पर विरुद्ध दिखाई पडते हैं। आरामोंके चारो ओर परिखा होती थी, इसके लिए विनयपिटकमें यह वचन है—"उस[1] समय आराममें घेरा नही था, बकरी आदि पशु भी पौधोका नुकसान करते थे। भगवान्से यह बात कही। (भगवान्ने कहा)—बाँस-बाट, कटकी-बाट, परिखा-बाट इन तीन बाटो(=रुँधान)से घेरनेकी अनुज्ञा देता हूँ।" यह परिखा आरामके चारो ओर होनेसे गधकुटीके समीप नही हो सकती। दोनोका विरोध स्पष्टही है। ऐसे भी उदान मूल सूत्रोंसे सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसकी, अट्ठकथासे अधिक प्रामाणिकता है। दूसरे उसका कथन अधिक सभव प्रतीत होता है। परिखा दूर होनेसे वहाँ आदमियोंके आने-जानेका उतना भय न था, इसलिए खून करनेका वही स्थान हत्यारोंके अधिक अनुकूल था। गधकुटी जो मुख्य दर्वाजेके पास थी। वहाँ लोगोका बराबर आना-जाना रहता था। शरीर ढाँकने भरके लिए मालाओंके ढेरका गधकुटीके पास जमा करके रखना भी अस्वाभाविक है।

युन्-च्वेड्ने लिखा है—

Behind the convent, not far, is where the Brahmachari

---

१ विनयपिटक चुल्लवग्ग, सेनासन० ६, पृ० २५०

heretics killed women and accused Buddha of the murder, (*The Life of Hiuen-Tsang*, p 93)

फाहियानने इसके लिए कोई विशेष स्थान निर्दिष्ट नही किया है।

परिखा—सुदरीके इस वर्णनसे यहभी पता लगता है, कि जेतवनके चारो ओर परिखा खुदी हुई थी। इसलिए बाँस या काँटेकी बाड नही रही होगी।

इन इमारतोंके अतिरिक्त जेतवनके अदर पेशावखानें, पाखानें, चक्रमण-शालाएँ भी थी, किन्तु इनका कोई विशेष उद्धरण नहीं मिलता।

जेतवन बननेका समय—जेतवन-निर्माणमें दिये विनयके प्रमाणसे पता लगता है कि बुद्धको राजगृहमें अनाथपिडकने वर्षावासके लिए निमन्त्रित किया था। फिर वर्षा भर रहनेके लिए स्थान खोजते हुए उसे जेतवन दिखलाई पडा। फिर उसने बहुत धन लगाकर वहाँ अनेक सुदर इमारतें बनवाई। यद्यपि सूत्र और विनय-में हमें बुद्धके वर्षावासोकी सूची नही मिलती तो भी अट्ठकाएँ इसकी पूरी सूचना देती हैं। अगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा (८।४।५) में यह इस प्रकार है—

वर्षा०	ई० पू०	
१	(५२७)	ऋषिपतन (सारनाथ)
२	(५२६)	राजगृह (वेलुवन)
३	(५२५)	राजगृह (वेलुवन)
४	(५२४)	,, ,,
५	(५२३)	वैसाली (महावन)
६	(५२२)	मकुल पर्वत
७	(५२१)	तावतिसभवन (त्रायस्त्रिश लोक)
८	(५२०)	भर्ग (सुसुमारगिरि = चुनार)
९	(५१९)	कौशाबी
१०	(५१८)	पारिलेय्यकवनसड
११	(५१७)	नाला
१२	(५१६)	वेरजा
१३	(५१५)	चालिय पर्वत
१४	(५१४)	जेतवन

वर्षा०	ई० पू०	
१५	(५१३)	कपिलवस्तु
१६	(५१२)	आलवी
१७	(५११)	राजगृह
१८	(५१०)	चालिय पर्वत
१९	(५०९)	चालिय पर्वत
२०	(५०८)	राजगृह
२१	(५०७)	श्रावस्ती
२२	(५०६)	"
२३	(५०५)	"
२४	(५०४)	"
२५	(५०३)	"
२६	(५०२)	"
२७	(५०१)	"
२८	(५००)	"
२९	(४९९)	"
३०	(४९८)	"
३१	(४९७)	"
३२	(४९६)	"
३३	(४९५)	"
३४	(४९४)	"
३५	(४९३)	"
३६	(४९२)	"
३७	(४९१)	"
३८	(४९०)	"
३९	(४८९)	"
४०	(४८८)	"
४१	(४८७)	"

वर्षा	ई० पू०	
४२	(४८६)	श्रावस्ती
४३	(४८५)	"
४४	(४८४)	"
४५	(४८३)	वैशाली (वेलुवगाम)

इसके देखनेसे मालूम होता है कि तथागतने जेतवनमें सर्वप्रथम वर्षावास बोधिके चौदहवें वर्षमें किया था। इसका अर्थ यहभी है, कि जेतवन बना भी इसी वर्ष (५१४-५१३ ई० पू०)में था, क्योंकि विनयका कहना साफ है कि अनाथपिंडकने वर्षावासके लिए निमन्त्रित किया था और विनयके सामने अट्ठ-कथाका प्रमाण नहीं। यहाँ इसपर विचार करनेके लिए कुछ और प्रमाणोपर विचार करना होगा।

वर्षावासके लिए जेतवनमें निमन्त्रित होना इसलिए जब जेतवनको पहले गये, तो वर्षावास भी वहीं किया।

(क) कौशाबी में[1] भिक्षुओंके कलहके बाद पारिलेय्यकमें जाकर रहना, वहाँसे फिर जेतवनमें।

(ख) उदान[2]में एकात विहारके लिए पारिलेय्यकमें जाना लिखा है, झगडेका जिक्र नहीं।

---

१ "कोसबियं पिंडाय चरित्वा...सघमज्झे ठितको'व...गाथाय भासि-त्वा ...बालककोणकारगामे...। अथ...पाचीनवसदाये...। अथ . पारिलेय्यके.. यथाभिरत्त विहरित्वा...अनुपुब्बेन चारिक चरमानो ..सावत्थिय ..जेतवने .।"

—महावग्ग, कोसबक्खन्धक १०, ४०४-४०८, पृष्ठ।

२ "भगवा कोसवियं विहरति घोसितारामे। तेन खो पन समयेन भगवा आकिण्णो विहरति भिक्खूहि, भिक्खुनीहि उपासकेहि उपासिकाहि राजूहि राज-महामत्तेहि तित्थियेहि तित्थियसावकेहि आकिण्णो दुक्ख न फासु विहरति।... अथ खो भगवा...अनामतेत्वा उपट्ठाके अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघ एको अदुतीयो येन परिलेय्यक तेन चारिकं पक्कामि। अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारि-

(ग) संयुत्तनिकाय[1] में एकांत विहारका भी जिक्र नही। बिल्कुल चुपचाप पारिलेय्यकका चला जाना लिखा है। पीछे चिरकालके बाद आनन्दका भिक्षुओंके साथ जाना, किन्तु हाथी आदिका वर्णन नही।

(घ) धम्मपदअट्ठकथा[2] में झगडेके विस्तारका वर्णन है, और महावग्गकी तरह यात्रा करके पारिलेय्यकमें जाना तथा वहाँ वर्षावास करना। वर्षावासके बाद फिर वहाँसे जेतवन जाना भी लिखा है।

यद्यपि चारो जगहोकी कथाओमें परस्पर कितनाही भेद है, किन्तु संयुत्तनिकाय-से भी, जो नि सन्देह सबसे पुरातन प्रमाण है, चिरकाल तक पारिलेय्यकमें वास करना मालूम होता है, क्योंकि वहाँ भिक्षु आनंदसे कहते हैं—'आयुष्मान् आनंद! भगवान्के मुखसे धर्मोपदेश सुने बहुत दिन हुए।' संयुत्तनिकायके बाद उदानका नंबर है। वहाँ झगडेका जिक्र नही, तोभी चिरकाल तक वहाँ रहना लिखा है। यद्यपि इन दोनों पुराने प्रमाणोमें पारिलेय्यकसे श्रावस्ती जाना नही लिखा है, तो भी पारिलेय्यकमें अधिक समयका वास वर्षावासके विरुद्ध नही

लेय्यक तदवसरि। तत्रसुद भगवा पारिलेय्यके विहरति रक्खितवनसडे भद्दसाल-मूले। अञ्ञातरोपि खो हत्थिनागो येन भगवा तेनुपसकमि।"

—उदान, ४।५

१ "एक समयं भगवा कोसम्बियं विहरति घोसितारामे। .कोसम्बियं पिंडाय चरित्वा ..अनामंतेत्वा उपट्ठाके, अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघ, एको अदुतीयो चारिक पक्कामि।. .एकको भगवा तस्मि समये विहरितुकामो होति। .अथ खो भगवा अनुपुब्बेन चारिक चरमानो येन पारिलेय्यक तदवसरि। तत्र सुदं पारिलेय्यके विहरति भद्दसालमूले। अथ खो सबहुला भिक्खू...आनंद उप-संकमित्वा .चिरस्स सुता खो नो आवुसो आनंद भगवतो सम्मुखा धम्मिकथा।. . अथ खो. .आनदो तेहि भिक्खूहि सद्धि येन पारिलेय्यकं भद्दसालमूल येन भगवा तेनुपसकामि। . भगवा धम्मिया कथाय सदस्सेसि।" —स० नि०,२१।८।९

२ कोसंबियं पिंडाय चरित्वा अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघ एककोव...बालक-लोणकारगाम गत्वा . पाचीनवंसदाये ..येन पारिलेय्यक तदवसरि ...भद्दसाल-मूले पारिलेय्यके एकेन हत्थिना उपट्ठहियमानो फासुक वस्सावास वसि। . अनुपुब्बेन जेतवन अगमासि। ." (ध० प०, १।५, अ० क०)

जाता। विनय और पीछेके दूसरे ग्रन्थोमें वर्णित जेतवन-गमनसे कोई विरोध नही है। यहाँ, हाथीकी सेवाकी कथा सयुत्तनिकायके बाद उदानके समयमें गढी गई मालूम होती है। पारिलेय्यकसे वर्षाके बाद जेतवनमें जाना निश्चित मालूम होता है। पारिलेय्यकका वर्षावास ऊपरकी सूचीमें बोधिसे दसवें वर्ष (५१८ ई० पू०) में है। अत इससे पूर्वही जेतवन बना था। बोधि-प्राप्तिके समय तथागतकी आयु ३५ वर्षकी थी। सयुत्तनिकायमें राजा प्रसेनजित्से, सभवत पहली, मुलाकात होनेका इस प्रकार वर्णन आया है—

"भगवान् जेतवनमें विहरते थे। राजा प्रसेनजित् कोसल भगवान्‌के पास जा सम्मोदन करके एक तरफ बैठ गया। फिर भगवान्‌से कहा। आप गोतम भी—'हमने अनुत्तर सम्यक् सबोधिको प्राप्त कर लिया'—यह प्रतिज्ञा करते हैं?—जिसको महाराज! अनुत्तर सम्यक्-सबुद्ध हुआ कहे, ठीक कहते हुए वह मुझे ही कहे। हे गोतम! जो भी सघी, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी तीर्थंकर, बहुत जनो द्वारा साधु-सम्मत हैं जैसे—पूर्ण काश्यप, मखलि, गोसाल, निगठ नाथपुत्त, सजय वेलट्ठिपुत्त, पकुध कच्चायन, अजित केसकबल, वह भी पूछनेपर 'अनुत्तर सम्यक् सबोधिको जान गये', यह दावा नही करते। फिर क्या कहना है, आप गोतम तो जन्मसे दहर (=तरुण) हैं, प्रव्रज्यामे भी नये हैं। ..भगवान् आजसे मुझे अपना शरणागत उपासक धारण करें[1]।"

यहाँ राजा प्रसेनजित् जेतवनमें जाकर, निर्ग्रंथ ज्ञातृ-पुत्र (महावीर) आदिका यश वर्णन करके, तथागतको उमरमें कम और नया साधु हुआ कहता है। इससे मालूम होता है कि तथागत अभिसबोधि (३५ वर्षकी आयु) के बहुत देर बाद श्रावस्ती नही गये थे। उस समय जेतवन बन चुका था। 'दहर' कहनेकेलिए हम ४५ वर्षकी उम्र तककी सीमा मान सकते हैं। इस प्रकार पुराने सुत्तके अनुसार भी अभिसबोधिसे दसवें वर्ष (५१९ ई० पू०)से पूर्वही जेतवन बन चुका था।

महावग्गमें राजगृहसे कपिलवस्तु, फिर वहाँसे श्रावस्ती जेतवन जानेका वर्णन आया है—

"भगवान्[2] राजगृहमें विहार करके चारिका चरण करते हुए

---

१ सयुत्तनिकाय, पृ० २३

२ महावग्ग (सिंहललिपि), ३९१-९३

शाक्य देशमें कपिलवस्तुके न्यग्रोधारामर्में विहार करते थे। फिर भगवान् पूर्वाह्ण समय पात्र चीवर लेकर जहाँ शुद्धोधन शाक्यका घर था वहाँ गये, और रखे हुए आसनपर बैठे। तब राहुलमाता देवीने राहुल कुमारसे कहा। राहुल! यह तेरा पिता है, जा दाय्यज माँग। राहुल कुमार यह कहते हुए भगवान्के पीछे-पीछे हो लिया—'श्रमण, मुझे दायज्ज दो', 'श्रमण, मुझे दायज्ज दो'। तब भगवान्ने आयुष्मान् सारिपुत्र से कहा—तो सारिपुत्त तू राहुल कुमारको प्रव्रजित कर...। फिर भगवान् कपिलवस्तुमें इच्छानुसार विहार कर श्रावस्तीकी ओर चारिकाके लिए चल दिये। वहाँ अनाथपिंडक के आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् सारिपुत्तके उपस्थापककुलने एक लडकेको आयुष्मान् सारिपुत्रके पास प्रव्रज्या देनेकेलिए भेजा। आयुष्मान् सारिपुत्रके चित्तमें हुआ, भगवान्ने प्रज्ञप्त किया है, एकको, दो सामणेर अपनी सेवामें न रखना चाहिए। और यह मेरा राहुल सामणेर है ही " अट्ठकथासे स्पष्ट है कि यह यात्रा बोधिके दूसरे वर्षमें अर्थात् गयासे वाराणसी ऋषि-पतन, वहाँसे राजगृह आकर फिर कपिलवस्तु जाना। इस प्रकार ५२६ ई० पू०में जेतवन मौजूद मालूम होता है।

जातकट्ठकथामें इसे इस तरह संक्षिप्त किया है—शास्ता बुद्ध होकर प्रथम वर्षा० ऋषिपतनमें बसकर,·· उरुवेलाको जा वहाँ तीन मास बसे, भिक्षु संघ-सहित पौषकी पूर्णिमाको राजगृहमें पहुँच दो मास ठहरे। इतनेमें[1] वाराणसीसे निकले पाँच मास हो गये। फाल्गुन पूर्णिमाको उस (=उदायि) ने सोचा अब यह (यात्राका) समय है। राजगृहसे निकलकर प्रतिदिन एक योजन चलते थे। (इस प्रकार) राजगृहसे ६० योजन कपिलवस्तु दो मासमें पहुँचे। (वहाँसे) भगवान् फिर लौटकर राजगृह जा, सीतवनमें ठहरे। उस समय अनाथपिंडक गृहपति अपने प्रिय मित्र राजगृहके सेठके घर जा, बुद्धोत्पत्ति सुन, शास्ताके पास जा धर्मोपदेश सुन, द्वितीय दिन बुद्ध संघको महादान दे, श्रावस्ती आनेकेलिए शास्ताकी प्रतिज्ञा ले .।

यहाँ विनयसे जातकट्ठकथाका, कपिलवस्तुसे आगे जानेके स्थानमें विरोध

---

१ जातक, निदान।

है। जातकटठकथाके अनुसार वुद्ध वहाँसे लौटकर फिर राजगृह आये। लेकिन विनयके अनुसार राहुलको प्रव्रजित कर वे श्रावस्ती जेतवन पहुँचे। जातकके अनुसार वुद्धकी कपिलवस्तुकी यात्रा वोधिसे दूसरे वर्ष (५२६ ई० पू०) की फाल्गुन-पूर्णिमाको आरम्भ हुई, और वे दो मास वाद वैशाखपूर्णिमाको वहाँ पहुँचे। वहाँसे फिर लौटकर राजगृह आकर वही उन्होंने वर्षावास किया जो ऊपरकी सूची से स्पष्ट है। वहीं सीतवनमें अनाथपिडकका जातक-अट्ठकथा-के अनुसार श्रावस्ती आनेकी प्रतिज्ञा लेना, विनयके अनुसार वर्षावासके लिए निमत्रण स्वीकार कराना होता है। इस प्रकार तथागतका जाना द्वितीय वर्षावासके वाद (५२६-५२५ ई० पू०) हो सकता है।

अव यहाँ दो वातोपर ही हमें विशेष विचार करना है—(१) विनयके अनुसार कपिलवस्तुसे श्रावस्ती जाना और वहाँ जेतवनमें ठहरना। (२) जातक अ० के अनुसार कपिलवस्तुसे राजगृह लौट आना, और सभवत वर्षावासके वाद दूसरे वर्ष जेतवनमें विहार तैयार हो जानेपर वहाँ जाना। यद्यपि विनय ग्रथकी प्रामाणिकता अट्ठकथासे अधिक है, तथापि इसमें कोई सन्देह नही कि कपिल-वस्तुके जानेसे पहले अनाथपिडक तथागतसे मिलने नही आता, इसीलिये कपिलवस्तुसे श्रावस्ती जाकर जेतवनमें ठहरना विल्कुल ही संभव नही मालूम पडता। इनके विरुद्ध जातकका वर्णन सीतवनके दर्शनके (द्वितीय वर्षा० के) वाद जाना अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है। विनयने स्पष्ट कहा है कि अनाथपिडकने वर्षावासके लिए निमत्रण दिया, और इसीलिए तीन मासके निवासके लिए जेतवनके झटपट वनवानेकी भी अधिक जरूरत पडी, इस प्रकार तथागत जेतवन गये और साथ ही वही उन्होंने वर्षावास भी किया—यह अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि वर्षावासोकी सूचीमें तीसरा वर्षावास राज-गृहमें लिखा है, तो भी जेतवन वोधिके दूसरे और तीसरे वर्षके वीच (५२६-५२५ ई० पू०) में वना जान पडता है।

पहिले दिये अट्ठकथाके उद्धरणसे मालूम होता है कि तीर्थिकोने जेतवन-के पास तीर्थिकाराम प्रथम वोधि अर्थात् वोधिके वाद प्रथम पद्रह वर्षो (५२७-५१३ ई० पू०) में वनाना आरभ किया था। इससे निश्चित ही है कि उस (२१३ ई० पू०) से पूर्व जेतवन वन चुका होगा।

ऊपर दी गई वर्षावासकी सूचीके अनुसार प्रथमवर्षावास श्रावस्तीमें बोधिसे चौदहवें साल (५१४ ई० पू०) में किया। चूँकि अनाथपिंडक का निमंत्रण वर्षावासके लिये था, इसलिए यह भी जेतवन बननेका साल हो सकता है।

सातवाँ वर्षावास त्रयस्त्रिंस-लोकमें बतलाया जाता है। उस वर्ष आषाढ़ पूर्णिमा (बुद्धचर्या पृष्ठ ८५) के दिन तथागत श्रावस्ती जेतवनमें थे। इस प्रकार इस समय (५२१ ई० पू०) जेतवन बन चुका था।

साराश यह कि जेतवन बननेके सात समय हमें मिलते हैं—

(१) सोलहवें वर्ष (५१२ ई० पू०) से पूर्व, (अट्ठकथा) पृ० २५९।
(२) पंद्रहवें „ (५१३ ई० पू०) " पूर्व, (अट्ठकथा) पृ० २९४।
(३) दसवें „ (५१८ ई० पू०) " पूर्व, (विनय सूत्र) पृ० २९६।
(४) „ „ „ " " (सूत्र) पृ० २९८।
(५) सातवें " (५२१ ई० पू०) " पूर्व, (अट्ठकथा) पृ० २९९।
(६) द्वितीय " (५२० ई० पू०) " " (विनय) पृ० २९९।
(७) तृतीय " (५२५ ई० पू०) " " (अट्ठकथा) पृ०, ३००।

इनमें पहले पाँचसे हमें यही मालूम होता है, कि उक्त समयसे पूर्व किसी समय जेतवन तैयार हुआ, इसलिये उनका किसीसे विरोध नहीं है।

पूर्वाराम

जेतवनके बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान पूर्वाराम था। पहले हम पूर्वारामकी स्थितिके बारेमें संक्षेपसे विचार कर चुके हैं। पूर्वाराम और पूर्वद्वारके सम्बन्धमें संयुक्तनिकाय[1] और उदान[2] के इस उद्धरणसे कुछ प्रकाश पड़ता है।

"भगवान् पूर्व्वाराममें सायंकाल ध्यानसे उठकर बाहरी द्वारके कोठेके बाहर बैठे थे। (उस समय) राजा प्रसेनजित् भगवान्‌के पास पहुँचा। उस समय सात जटिल, सात निगंठ, सात अचेलक, सात एकसाटक और सात परिव्राजक, नख, लोम बढ़ाए अनेक प्रकारकी खारिया लेकर भगवान्‌के अविदूरसे जाते थे। तब राजा आसनसे उठकर, उत्तरासंगको एक कंधेपर कर, दाहिने घुटनेको भूमिपर रख, उन सातों को ओर अंजलि जोड़ तीन बार नाम सुनाने लगा—भंते! मैं राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ।"

---

१ ३।२।१, पृ० २४, अ० क० २१६ २ ६।२

इससे—

(२१) वह सोने-चाँदीसे शून्य था। अट्ठकथाकी इसपरकी लीपापोती सिर्फ यही वतलाती है कि कैसे पीछे भिक्षुवर्ग चमक-दमकके पीछे पडकर व्याख्या किया करता था।

दीघनिकायकी अट्ठकथामें—

"(विशाखा)[1] दशवलकी प्रधान उपस्थायिकाने उस आभूषणको देकर नव करोडसे. करीस भर भूमिपर प्रासाद वनवाया। उसके ऊपरी भागमें ५०० गर्भ, निचले भागमें ५०० गर्भ, १००० गर्भोंसे सुशोभित। वह प्रासाद खाली नहीं शोभा देता था, इसलिये उसको घेरकर, साढे पाँच सौ घर, ५०० छोटे प्रासाद और ५०० दीर्घशालाएँ वनवाईं । अनाथपिंडक ने श्रावस्तीके दक्षिण भागमें अनुराधपुरके महाविहारसदृश स्थानपर जेतवन महाविहारको वनवाया। विशाखाने श्रावस्तीके पूर्व भागमें उत्तमदेवी विहारके समान स्थानपर पूर्वारामको वनवाया। भगवान्‌ने इन दो विहारोमें नियमित रूपसे निवास किया। (वह) एक वर्षा जेतवन में व्यतीत करते थे, एक पूर्वाराममें।"

(२२) विहार-एक करीस अर्थात् प्राय ३ एकड भूमिमें वना था।

(२३) चारो ओर हजारो घरो, छोटे प्रासादो, दीर्घशालाओ का लिखना अट्ठकथाकारोका अपना काम मालूम होता है।

(२४) अनुराधपुरमें भी जेतवन और पूर्वारामका अनुकरण किया गया था। पूर्वाराम श्रावस्तीके उसी प्रकार पूर्व तरफ था, जैसे अनुराधपुर (सिंहल) में उत्तरदेवी विहार।

जिस प्रकार सुदत्तसेठका नाम अनाथपिंडक प्रसिद्ध है, उसी प्रकार विशाखा मिगारमाताके नामसे प्रसिद्ध है। नामसे, मिगार विशाखा का पुत्र मालूम होगा, किन्तु वात ऐसी नही है, मिगारसेठ विशाखाका ससुर था। इस नामके पडनेकी कथा इस प्रकार है—

"विशाखा[2] अगराष्ट्र (भागलपुर, मुंगेर जिले) के भद्दिय (=मुगेर)

---

१ दी० नि०, आनञ्ञासुत्त २०, अ० क० पृ० १४। अ० नि० अ० क० १।७।२ भी।

२ अं० नि०, १।७।२, अ० क० २१९

मज्झिमनिकाय में—

'हे गौतम, जिस[1] प्रकार इस मिगारमाताके प्रासादमें अतिम मे कलेवर तक अनुपूर्व क्रिया देखी जाती है . ।"

अट्ठकथामें—

"प्रथम सोपानफलक[2] तक, एकही दिनमें सात महलका प्रासाद नही ब जा सकता। वस्तु शोधनकर स्तभ खडा करनेसे लेकर चित्रकर्म करने अनुपूर्व क्रिया।"

इससे भी—

(१९) वह प्रासाद सात महलका था, जो (१२) से बिल्कुल f है, और बतलाता है कि किस प्रकार बातोमें अतिशयोक्ति होती है।

(२०) मकान बनानेमे पहले भूमिको बराबर किया जाता था, खभे गाडे जाते थे, अतमें चित्रकर्म होता था।

मज्झिमनिकायमें ही—

"जिस[3] प्रकार आनद ! यह मिगारमाताका प्रासाद हाथी, गाय, घ घोडीसे शून्य है, सोना-चाँदीसे शून्य है, स्त्री-पुरुष-सन्निपातसे शून्य इसकी अट्ठकथामें लिखा है—

"वहाँ काष्ठ-रूप[4], पुस्त-रूप, चित्र-रूपमें बने हाथी आदि है। वै मावाता आदिके स्थित स्थान पर चित्रकर्म भी किये गये हैं। रत्नपरिं जँगले, द्वारबध, मच, पीठ आदि रूपसे स्थित, तथा जीर्ण प्रतिसस्का रखा हुआ सोना-चाँदी है। काष्ठरूपादिके रूपमें, तथा प्रश्न पूछन अ लिये आने वाले स्त्री-पुरुष हैं। इसलिये वह (मिगारमातुपासाद) उनसे है, का अर्थ है—इद्रिययुक्त जीवित हाथी आदिका, तथा इच्छानुसार उ योग्य सोने-चाँदीका, नियमपूर्वक बसने वाले स्त्री-पुरुषोका अभाव"।

---

१ म० नि०, ३।१।७, गणक-मोग्गलानसुत्त, १०७

२ अ० क०, ८५५

३ म० नि०, ३।२।७, चूल सुञ्ञतासुत्त, ११९

४ अ० क०। रूप-मूर्त्ति।

इससे—

(२१) वह सोने-चाँदीसे शून्य था। अट्ठकथाकी इसपरकी लीपापोती सिर्फ यही बतलाती हैं कि कैसे पीछे भिक्षुवर्ग चमक-दमकके पीछे पडकर व्याख्या किया करता था।

दीघनिकायकी अट्ठकथामें—

"(विशाखा)[1] दशबलकी प्रधान उपस्थायिकाने उस आभूषणको देकर नव करोडसे. करीस भर भूमिपर प्रासाद बनवाया। उसके ऊपरी भागमें ५०० गर्भ, निचले भागमें ५०० गर्भ, १००० गर्भोंसे सुशोभित। वह प्रासाद खाली नही शोभा देता था, इसलिये उसको घेरकर, साढे पाँच सौ घर, ५०० छोटे प्रासाद और ५०० दीर्घशालाएँ बनवाईं। अनाथपिंडक ने श्रावस्तीके दक्षिण भागमें अनुराधपुरके महाविहारसदृश स्थानपर जेतवन महाविहारको बनवाया। विशाखाने श्रावस्तीके पूर्व भागमें उत्तमदेवी विहारके समान स्थानपर पूर्वारामको बनवाया। भगवान्ने इन दो विहारोमें नियमित रूपसे निवास किया। (वह) एक वर्षा जेतवन में व्यतीत करते थे, एक पूर्वाराममें।"

(२२) विहार-एक करीस अर्थात् प्राय ३ एकड भूमिमें बना था।

(२३) चारो ओर हजारो घरो, छोटे प्रासादो, दीर्घशालाओ का लिखना अट्ठकथाकारोका अपना काम मालूम होता है।

(२४) अनुराधपुरमें भी जेतवन और पूर्वारामका अनुकरण किया गया था। पूर्वाराम श्रावस्तीके उसी प्रकार पूर्व तरफ था, जैसे अनुराधपुर (सिंहल) में उत्तरदेवी विहार।

जिस प्रकार सुदत्तसेठका नाम अनाथपिंडक प्रसिद्ध है, उसी प्रकार विशाखा मिगारमाताके नामसे प्रसिद्ध है। नामसे, मिगार विशाखा का पुत्र मालूम होगा, किन्तु बात ऐसी नही है, मिगारसेठ विशाखाका ससुर था। इस नामके पडनेकी कथा इस प्रकार है—

"विशाखा[2] · अंगराष्ट्र (भागलपुर, मुंगेर जिले) के भद्दिय (=मुंगेर)

---

१ दी० नि०, आनञ्जसुत्त २०, अ० क० पृ० १४। अं० नि० अ० क० १।७।२ भी।

२ अं० नि०, १।७।२, अ० क० २१९

नगरमें मेंडक सेठके पुत्र धनजय सेठकी अग्रमहिषी सुमना देवीके कोखसे पैदा हुई । बिंबिसार राजाके आज्ञा-प्रवर्तित स्थान (अग-मगध) में पाँच अतिभोग व्यक्ति जोतिय, जटिल, मेंडक, पुण्णक और काकवलिय थे . । श्रावस्ती में कोसल राजाने बिंबिसारके पास सदेश भेजा हमको एक महाधनी कुल भेजो। राजाने धनजयको भेजा। तब कोसल राजाने श्रावस्तीसे सात योजनके ऊपर साकेत (अयोध्या) नगरमें श्रेष्ठीका पद देकर (उसे) बसा दिया। श्रावस्तीमें मिगारसेठका पुत्र पूर्णवर्द्धनकुमार वय प्राप्त था। . मिगार सेठ (बारात के साथ) कोसल राजाको लेकर गया। चार मास (उन्होने वही) पूरे किये। (धनजय सेठने विशाखाको) उपदेश देकर दूसरे दिन सभी श्रेणियोको इकट्ठा करके राजसेनाके बीचमें आठ कुटुबियोको जामिन देकर— 'यदि गए हुए स्थानपर मेरी कन्याका कोई दोष उत्पन्न हो, तो तुम उसे शोधन करना'—कहकर नौ करोड मूल्यके 'महालता' आभूषणसे कन्याको आभूषित कर, स्नान चूर्णके मूल्यमें ५४ सौ गाडी धन दे . । मिगारसेठीने . सातवें दिन नगे श्रमणकोको बैठाकर, (कहा)—मेरी बेटी आवे, अर्हतोकी वदना करे । वह उन्हे देख . 'धिक्, धिक' निंदा करती चली गई। नगे श्रमणोने सेठकी निंदा की— क्यों गृहपति ! दूसरी नहीं मिली ? श्रमण गौतमकी श्राविका (शिष्या) महाकालकर्णीको किसलिये इस घरमें प्रवेश कराया ? (सेठ) आचार्यो ! बच्ची है आप चुप रहें—यह कह नगोको बिदाकर ।

आसनपर बैठ सोनेकी कर्छुल लेकर विशाखा द्वारा परोसे (खाद्य को) भोजन करता था। उसी समय एक मधूकरीवाला भिक्षु घरके द्वारपर पहुँचा । वह स्थविरको देखकर भी नीचे मुँहकर पायसको खाता ही रहा। विशाखाने स्थविरसे (कहा)—माफ करें भते ! मेरा ससुर पुराना खाता है। उस (सेठ)ने अपने आदमियोसे कहा, इस पायसको हटाओ, इसे (= विशाखाको) भी इस घरसे निकालो। यह ऐसे मगल घरमें मुझे अशुचिखादक बना रही है .. । विशाखाने कहा—तात ! इतने वचन मात्रसे मैं नही निकलती। मैं कुभदासीकी भाँति पनघटसे तुम्हारे द्वारा नही लाई गई हूँ। जीते माँ-बापकी लडकियाँ इतने मात्रसे नही निकला करतीं,. आठो कुटुबिकोको बुलाकर मेरे दोषादोषकी शोध कराओ। सेठने आठ कुटुबिको को बुलाकर कहा—यह लडकी

सप्ताह भी न परिपूर्ण होते, मगल घरमें बैठे हुए मुझे अशुचि-खादक बतलाती है। ऐसा है अम्म!—तातो! मेरा ससुर अशुचि खानेकी इच्छावाला होगा, मैंने ऐसा करके नही कहा, एक पिडपातिक स्थविरके घर-द्वार पर स्थित होने-पर, यह निर्जल पायस भोजन करते हुए, उसका ख्याल (मनमें) नही करते थे। मैंने इसी कारणसे—'साफ करो भते! मेरा ससुर इस शरीरसे पुण्य नही करता, पुराने पुण्यको खाता है', कहा—आर्य, दोप नही है, हमारी वेटी तो कारण कहती है, तुम क्यो क्रुद्ध होते हो। (फिर कुछ और इलजामोंके जाँच करने-पर)—वह और उत्तर न दे, अधोमुख हो बैठ गया। फिर कुटुविकोने उससे पूछा— क्यो सेठ, और भी दोप हमारी वेटीका है?—नही आर्यो!—क्यो फिर निर्दोपको अकारण घरसे निकलवाते हो? उस समय विशाखाने कहा—पहले मेरे ससुरके वचनसे मेरा जाना ठीक न था। मेरे आनेके दिन मेरे पिताने दोप-शोधनकेलिये तुम्हारे हाथमें रखकर (मुझे) दिया था। अव मेरा जाना ठीक है। यह कह, दासी दासोको यान तैयार करनेकेलिये आज्ञा दी। तव सेठने उन कुटुविकोको लेकर कहा—अम्म! अनजाने मेरे कहनेको क्षमा कर।—तात, तुम्हारे ज्ञतव्यको क्षमा करती हूँ, किन्तु मैं बुद्धशासनमें अनुरक्त कुलकी वेटी हूँ, हम विना भिक्षुसघ नही रह सकते। यदि अपनी रुचिके अनुसार भिक्षु-सघकी सेवा करने पाऊँ, तो रहूँगी।—अम्म! तू अपनी रुचिके अनुसार अपने श्रमणोकी सेवा कर।

तव विशाखाने निमन्त्रित कर दूसरे दिन बुद्धप्रमुख भिक्षुसघ को बैठाया। मेरा ससुर आकर दशवलको परोसे (यह खवर भेजी)। (मिगार सेठने वहाना कर दिया)। आकर दशवलकी धर्मकथाको सुने। मिगारसेठ जाकर कनातसे वाहर ही बैठा। देशनाके अतमें सेठने सोतापत्ति-फलमें प्रतिष्ठित हो कनातको हटा 'पचागसे वदनाकर, शास्ताके सामने ही—'अम्म! तू आजसे मेरी माता है'—यह कह विशाखाको अपनी माताके स्थानपर प्रतिष्ठित किया। तभीसे विशाखा 'मिगारमाता' प्रसिद्ध हुई।"

स्थानको देखनेपर हनुमनवाँ पूर्वाराम मालूम होता है।

तीर्थिकाराम

सम्मयप्पवादक-परिव्याजकाराम—पहिले[1] पाँच प्रकारके अन्य तीर्थिक

---
[1] ध० प० २२।८, अ० क० ५७८

फाहियान[1]ने इसपर लिखा है—

"विहारसे चार 'ली' दूर उत्तर-पश्चिम तरफ एक कुंज है। . पहले ५०० अन्धे भिक्षु इस वनमें वास करते थे। एकदिन उनके मंगलकेलिये बुद्धदेवने धर्मव्याख्या की, उसी समय उन्होंने दृष्टिशक्ति पाली। प्रसन्नहो उन्होने अपनी अपनी लकडियोको मिट्टीमें दबाकर प्रणाम किया। उसी दम वे लकडियाँ वृक्षके रूपमें, और शीघ्रही वनके रूपमें परिणत हो गईं। इस प्रकार इसका यह नाम (अंधवन) पडा। जेतवनवासी अनेक भिक्षु मध्याह्न भोजन करके (इस)वनमें जाकर ध्यानावस्थ होते हैं।"

इससे मालूम होता है—

(१) काश्यप बुद्धके स्तूपसे श्रावस्तीकी ओर लौटते समय यह स्थान रास्तेमें पडता था।

(२) श्रावस्तीसे दक्षिण एक गव्यूति या प्राय २ मीलपर था।

(३) जेतवनसे उत्तर-पश्चिम ४ 'ली' (= १ मीलसे कम) था। दूरी और दिशाएँ इन पुरानी लिखतोमें शब्दश नही ली जा सकती। इसलिये पुरैनाका ध्वस अंधवन मालूम होता है। यह ओंटीसे श्रावस्तीके आनेके रास्तेमें भी है। भीटीको सर जान मार्शल[2] ने काश्यप-स्तूप निश्चित किया है।

पांडुपुर—श्रावस्तीके पास पांडुपुर नामक गांव था। धम्मपदअट्ठकथा में "श्रावस्तीके अविदूर पांडुपुर नामक एक गांव था। वहाँ एक केवट वास करता था।"

इस गांवके बारेमें इसके अतिरिक्त और कुछ मालूम नही है।

मैंने इन थोडेसे पृष्ठोमें श्रावस्ती और उसके पासके बुद्धकालीन स्थानो-पर विचार किया है। सुत्त, विनय और उसकी अट्ठकथाओकी सामग्री शायद ही कोई छूटी हो। यहाँ मुझे सिर्फ भौगोलिक दृष्टिसे ही विचार करना था, यद्यपि कही-कही और बातें भी आ गई है[3]।"[4]

---

१ ch XX २ A.S R., 1910-11, p. 4 ३ जेतवनके नकशोंकेलिये देखो Arch. Survey of India की १९०७–०८ और १९१०–११ की रिपोर्टें।

४ पालि त्रिपिटक और अट्ठकथाओंमें बिखरी भौगोलिक सामग्रीका सुंदर विवेचन प्रो० भरतसिंह उपाध्यायने अपने ग्रंथमें किया है।

६. ज्ञातृ=जथरिया

पण्डित प्रोफेसर जगन्नाथ शर्मा एम० ए०ने मेरे बसाढकी खुदाई नामक लेखमें आये कुछ वाक्योंके खण्डनमें, एक लेख लिखा। सभवत कुछ और भी भूमिहार-वन्धुओको दु ख हुआ हो। अपने उक्त कथनको सत्यके समीपतम समझते हुए भी वस्तुत मुझे दु ख है कि, उससे इन भाइयो को मानसिक कष्ट पहुँचा। उन चन्द पक्तियोमें अपने भावोको सक्षेपसे भी नही प्रकट कर सका था (और, इस छोटे लेखमें भी शायद न कर सकूँगा), तोभी कुछ गलतफहमियोको हटा देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

शर्माजीके लेखको दो भागोमें विभक्त किया जा सकता है—(१) उन्होने युक्तिसे मेरी वातोका खण्डन करना चाहा है, (२) मुझे भूमिहार ब्राह्मणोका विरोधी समझा है।

जथरिया वशके लिच्छवि (ज्ञातृ) न होनेके वारेमें आपने कहा है—

(१) "जेथरियावश या वेतिया-राजवशसे लिच्छवि क्षत्रियोकी ज्ञातृ अथवा किसी भी शाखा से कोई भी सम्पर्क नही। वे इतने कालसे विहारके निवासी भी नही कि, उनका कोई भी सम्वन्ध लिच्छवि जातिसे ठहराया जा सके। वे विशुद्ध ब्राह्मण हैं तथा महाकवि वाणभट्टके वशज सोनभदरियो और अयर्वोको छोडकर अन्यान्य भूमिहार ब्राह्मणोकी तरह पश्चिमके जिलोंसे मुसलमानी शासनकालमें या उसके कुछ पूर्व विहारमें आकर वस गये हैं।"

(२) "जयस्थल" से ही जैथरकी उत्पत्ति सर्वथा भाषा-विज्ञानके अनुकूल है, 'ज्ञातृ' से नही। ज्ञातृ शव्दका अपभ्रश "जैथरिया" मान लेना' अनुचित और अपने भाषाविज्ञान-सम्वन्धी ज्ञानकी अल्पज्ञता दिखाना है।' "भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे ज्ञातृ-शव्द का "जैथरिया" वन जाना कदापि सम्भव नही।"

(३) "केवल ज्ञातृ शब्दके आधारपर जैथरिया लोगोको ज्ञातृवशीय लिच्छवि क्षत्रिय मान लेना तो लाल बुझक्कडकी बूझको भी मात कर देना है।"

(४) "सम्भव है, लिच्छवि-वश (जो बुद्धके समयमें ही व्रात्य हो चुका था)

पतित होकर नीच जातियोंमें मिल चुका हो, अथवा यदि, तिर्हुतके अहीर ही उनके वंशज हो, तो क्या आश्चर्य ?"

मैं आरम्भमें यह कह देना चाहता हूँ कि, ज्ञातृ और जेथरियाके एक होनेकी खोजका श्रेय मुझे नही है, बल्कि हमारे देशके गौरवस्वरूप और भारतके प्राचीन इतिहासके अद्वितीय विद्वान् श्रद्धेय डा० काशीप्रसाद जायसवालने पहले-पहल इसका पता लगाया था। मैंने प्रमाणकी कुछ कडियाँ भर और जोड दी है। ज्ञातृ और जथरिया क्यो एक हैं —

(१) "भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान की अल्पज्ञता" क्या, अज्ञताको स्वीकार करते हुए भी ज्ञातृसे ज्ञातर, जथर या जेथर, फिर 'इया' लगा कर जथरिया स्वीकार करनेमें मैं गलती पर नही हूँ, और न "लाल वुझक्कडकी वूझको" मात कर रहा हूँ। ज्ञातृ (=ञातर=जतर=जथर), इका (=इया) = जथरिया, जेथरिया।

(२) जैन धर्म के संस्थापक वर्द्धमान महावीरको नात-पुत्त और ज्ञातृ पुत्र कहा जाता है, क्योंकि वह ज्ञातृकुलमें उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र काश्यप था, यह सभी जैन ग्रन्थोंमें मिलता है। जेथरियोंका भी गोत्र काश्यप है। यह आकस्मिक नही हो सकता।

(३) बसाढ (=वैशाली) जिस परगनेमें है, वह रत्ती कहा जाता है। यह परगना आजकल भी जेथरियोंका केन्द्र है। रत्ती = लत्ती-नत्ती = नाती = नादि (पाली) है। बुद्धके समय वज्जीदेशमें नादिका नामक ज्ञातृवंशियोंका एक बडा गाँव था, जिसका संस्कृत रूप ज्ञातृका होता है।

(४) ज्ञातृ लोग जिन लिच्छवियोंके[1] ९ विभागोंके एक प्रमुख विभागमें थे, ई० पू० छठी-पाँचवी शताब्दियोंमें उनकी शक्ति इतनी प्रबल थी कि, मगध-राजको भी डरके मारे गंगातटपर पाटलिग्राममें एक किला बनाना पडा, और आगे चलकर पाटलिपुत्र (= पटना)नगरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मगध-साम्राज्यमें सम्मिलित होनेपर भी लिच्छवि प्रभावहीन नही हो गये, यह तो इसीसे प्रकट

---

१ लिच्छवियोंके नौ वर्गोंमें जेथरियोंके अतिरिक्त दिघवइत भी मालूम होते हैं। यदि मुजफ्फरपुर–चम्पारन जिलोंके पर्गनों और प्रधान जातियोंको मिलाकर खोज की जाये, तो शायद और भी कुछ वर्गों का पता लग जाये।

है कि, चौथी शताब्दीमें उनकी सहायतासे गुप्तोको अपना साम्राज्य कायम करनेमें सफलता मिली। ईसाकी चौथी-पाँचवी शताब्दियोमें लिच्छवियोकी शक्तिको ही प्रकट करनेके लिये लिच्छविकुमारी कुमारदेवीका पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त अपनेको "लिच्छवि-दौहित्र" कहकर अभिमान करता है। ईसाकी पाँचवी शताब्दीतक जो लिच्छवि जाति अपने अस्तित्वको ही कायम नही रख सकी थी, वल्कि पूरी पराक्रमशालिनी थी, वह इसके वाद विलकुल नष्ट हो गयी या "पतित होकर नीच जातियोमें मिल" गई, यह विश्वास करनेके लिये कोई कारण नही। विशेप कर जव कि, उक्त लक्षणोवाली एक जातिको हम उसी स्थानपर पाते हैं।

(५) ज्ञातृ (लिच्छवि) वश जिस वैशालीके आसपास ई० पू० छठी शताव्दी-से ईसाकी पाँचवी शताव्दीतक वसता था, वही अव भी जथरिया वशका प्राधान्य है। छपरा जिलेके मसरख थानेके जेथरडीहमें ज्ञातृओका निवास हो सकता है। (छपरा जिलेका वह हिस्सा तो प्राचीन वज्जीदेशका भाग ही है। उस समय गडककी धार घोघाडी और मही नदियोंसे होकर वहती थी।) मेरी तुच्छ रायमें जेथरियो (=ज्ञातृओ) की वजहसे उक्त स्थानका नाम जेथरडीह पडा होगा। जेथरडीहके कारण जातिका नाम जेथरिया नही पडा। एक कहावतको मैंने भी सुना है कि, जेथरिया "ब्राह्मण" लोग नीमसारसे किसी कुष्टि राजाको अच्छा करनेके लिये आये। पीछे भूमिका दान लेकर वही रह गये। नीमसारसे आनेका मतलव यह है कि, वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। फिर वह मगहके ब्राह्मणोंसे ही क्यो सम्वन्ध जोड सके, सरवरियोंसे क्यो नही, जो कि, अपनेको कान्यकुब्ज भी कहते है? मगधके वाभनो (="भूमिहार ब्राह्मणो") को मैं शुद्ध प्राचीन मगध-देशीय ब्राह्मणोकी सन्तान मानता हूँ। इस वशने वाण जैसे महाकविको ही नही पैदा किया, वल्कि भगवान् वुद्धके सवसे प्रधान तीन शिष्यो (सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और महाकाश्यप) को पैदा करनेका गौरव भी इसे ही है। सम्राट् अशोकके गुरु मौद्गलि-पुत्र तिष्य भी इसी कुलके रत्न थे। वौद्ध महापुरुषो और महान् दार्शनिकोको पैदा करनेमें मगध-ब्राह्मण (=वाभन)-कुल सवसे आगे रहा, इसीके लिये वौद्धद्वेपी ब्राह्मणोके प्रभुत्वमें उन्हे और उनके मगध देशको नीच कहना और लिखना शुरू किया गया।

जेथरियोको ज्ञातृओंके साथ सम्वन्ध न जोडने देनेके लिये "पश्चिमके जिलोंमे

७. थारू

हिमालयकी तराईमें यह रहस्यपूर्ण थारू-जाति निवास करती है। पश्चिममें नैनीताल जिलेसे पूर्वमें दरभगा जिलेके उत्तरतक पहाडके किनारे इसी जातिकी प्रधानता है। तराईकी भूमिमें मलेरियाका वडा भय है, और यह जाति वही वसती है। मुँह देखते ही मालूम हो जाता है कि यह अपने आस-पासके रहनेवालोंसे भिन्न—उत्तरी पहाडोमें रहनेवाली (मगोल)—जातिसे सम्वन्ध रखती है। रग इनका गेहुँआँ या पक्का होता है—काले वहुत कम होते हैं। कदमें आसपासके लोगोसे विशेप अन्तर नही है।

यहाँ मुझे विशेषकर चम्पारन और मुजफ्फरपुर जिलोंके उत्तर तरफ वसनेवाले थारुओके बारेमें ही कहना है। इनके भेद और पदवियाँ निम्न प्रकार है —

भेद	पदवी	भेद	पदवी
बाँतर	(महतो)	महाउत	(राउत)
चितवनिया	(")	मझिअउर	(माझी)
गढ़वरिया	(")	गोरत	(महतो)
रववसिया	(दिसवाह)	कनफटा	(नाथ)
रवतार	(महतो)	कुम्हार	(राना)
न(ल)म्पोछा	(महतो, राय)	मर्दनिया	(मार्द)
सेंठा	(महतो)	खउहट	(महतो)
कोचिला	(खाँव)		

थारू लोग बढईका काम अपने आप कर लेते हैं। तेल भी खुद निकालते है। यद्यपि थरुहट(थारुओंके देश)में धोबी नही होता, तोभी अपनेसे दक्षिणके लोगोसे उनके कपडे-लत्ते अधिक साफ रहते हैं। खेती ही थारुओका एकमात्र व्यवसाय है, और इसमें उनकी-सी दूसरी कोई परिश्रमी जाति नही। एक हलपर थारू तीन जोडी बैल रखते हैं। सवेरे ही हल जोतते है और दस बजे दिनको छोड देते है। फिर दूसरी जोडीसे दो बजे तक काम लेते है, इसके वाद फिर

तीसरी जोडी। थरुहटमें धानही की खेती होती है, इसलिये भात ही इनका प्रधान खाद्य है। खानेके लिये मुर्गिया भी ये लोग पालते हैं। थारुओंमें 'भगत' मिलना बहुत कठिन है। मास और शरावके ये बडे प्रेमी हैं।

इनकी पोशाक अपने आस-पासके लोगोकी ही भाँति होती है। हाँ, मिरजई-की जगह ये लोग नैपाली बगलबन्दी पहनते हैं। स्त्रियाँ साडी पहनती हैं और सिर नगा रखना अधिक पसद करती हैं।

विवाह अधिकतर ये लोग अपनी ही उप-जातियोंमें करते हैं। युवक और युवतीमें प्रेम हो जाने पर वे घरसे निकल जाते हैं, और बाहर किसी गाँवमें जाकर वर्षों तक रहते हैं। फिर लौटकर पति-गृहमें रहते हैं। कभी बाँतर और चितवनियोंमें भी इस प्रकार प्रेम हो जाता है, फिर जातिमें मिलने के लिये बिरादरीको भात-भोज देना पडता ह। इस प्रकारके विवाह अन्य उप-जातियोंमें भी होते हैं। प्रौढ विवाह ही इनमें अधिक होते हैं, लेकिन अब अपने पडोसी 'अधिक सभ्य' बाजियोका प्रभाव इनपर भी पड रहा है, और धीरे-धीरे इनमें भी बाल-विवाहकी प्रथा बढ रही है। गढ़वरियोंमें बाल-विवाह अधिक होता है और चितवनियोंमें बहुत कम। गरीब होनेपर लडकीको घर लाकर विवाह किया जाता है, नही तो बरात जाती है। बरात में २०, ३० आदमी साधारणतः जाते हैं। रासधारी, झुमरा, पूर्वी, नाटक इनमेंसे कोई नाच भी होता है, जिनमें पहले दो गीत प्राय थारू-भाषामें होते हैं। ब्राह्मण और नाई विवाह-विधि कराते हैं। पुरोहित नैपाली या बाजी ब्राह्मण होते हैं।

जन्मके वक्त गाना-बजाना कुछ नही करते। छठी, बरही और हिन्दुओंकी भाँति होती है। अन्नप्राशनका कोई नियम नही। नाक-कान वर्षके भीतरही छेद दिया जाता है। मृत्युमें थारू लोग विशेष उत्सव करते हैं। छोटे बच्चेको भी मरने पर जलाते हैं। नाच-बाजा विवाहकी भाँति होता है। थारुओंकी यह विशेषता बर्मी लोगोंसे बहुत मिलती है। मरनेके बाद दस दिनमें दशगात्र और बारह दिनके बाद ब्राह्मण-भोजन और जातिभोजन होता है।

प्राय प्रत्येक थारूके घरमें गृह-देवता है, जिसे 'गन' कहते है। उसके लिये दूध, पाट (रेशम), कबूतर, मुर्गे बलि चढाये जाते है। 'बरम' स्थान हर गाँवका ग्राम-देवता है। इसके अतिरिक्त हलका ऊपरी भाग गाडकर जखिन (यक्षिणी),

कोल्हूकी जाठ गाडकर मसान भी पूजते हैं। मलग, औलियाबाबा आदि कितने ही और भी देवता होते हैं। थरुहटमें मन्त्र-तन्त्र, भूत-प्रेत बहुत चलता है। बाहरके भोले-भाले लोग समझते है, थरुहट जादूगरनियोका स्थान है। थरुहट जादूगरनियोको डाइन कहते है। हर गाँवमें दस-पाँच डाइनें होती है। लोगोका विश्वास है कि डाइनें आदमीको जादूसे मार डालती हैं, हैजा महामारीको बुलाती हैं। इसीलिये लोग डाइनोसे बहुत डरते हैं। इन्ही सबसे बचानेके लिये हर थारू-गाँवका एक गुरु होता है, जिसे गृहस्थ अपने घरके प्रत्येक आदमी पीछे चार पसेरी धान हर साल देता है। बनिहारको दो पसेरी और खोकइता (मजूर) को एक पसेरी देते हैं। गुरुका काम है, भूत-प्रेत, मन्त्र-तन्त्र, हैजा आदिसे आदमियोकी रक्षा करना।

थारुओका प्राचीन कालहीसे एक सगठन चला आता है। कई गाँवोका एक हल्का होता है, इसे 'दह' कहते हैं। हर एक दहमें एक प्रधान होता है, जिसे मघस्त (मध्यस्थ) कहते हैं। उसके नीचे १६ या १७ पच होते है। इन पचोंके नीचे 'हजारिया पच' होते हैं, जिनमें प्राय प्रत्येक घरका मुखिया होता है। जातिसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मामले इसी पचायतके सामने पेश होते हैं। फैसला हमेशा सर्वसम्मतसे हुआ करता है। मघस्त और पचोंके मरनेपर, वह अधिकार उनके बडे लडकोको मिलता है। यह दह सभी थारुओका एक नही है। गढवरिया, चितवनिया सभीकी अपनी-अपनी अलग पचायतें हैं। भिखनाठोरी (जिला चम्पारन)के पास गढवरियोकी प्रधानता है। यहाँ इनके बरहगाँवा और लौरइयाँ दो दह है। बरहगाँवा अग्रेजी इलाकेमें है और इसके मघस्त राजमन महतो हैं। लौरइयाँ नेपाल राज्यमें है, जिसके मघस्त लेखमन महतो हैं।

भिखनाठोरीसे उत्तर-नेपाली तराईमें चितावनका इलाका है। यहाँ चितवनियाँ थारू रहते है। यहाँके थारुओपर नैपालियोका प्रभाव अधिक है। बरहगाँवा आदिके थारू भी चितावनकी भाषाहीको शुद्ध थारू-भाषा कहते हैं। पाठकोको यह सुनकर बहुत ही आश्चर्य होगा कि चितावनके थारुओकी भाषा, स्वर, शब्द आदिमें गया जिलेकी मगही (मागधी) भाषासे बिलकुल एक है। हलई, बोलही, लन्लही आदि सभी शब्द शुद्ध मगहीके है। गेल्सुनमें सिर्फ थकोससे

(गेलयुन) वदल दिया गया है। सम्बोधनमें रे, हे का प्रयोग अधिक होता है, और मागहीका गे भी कम प्रयुक्त नही होता। छोड गे, चल गे साधारण प्रयोग हैं। चितवनिया अपनेको चित्तौरगढसे आया वतलाते हैं, और भापा उन्हे खीचकर मगधमें और चेहरा और आँखें उत्तरकी ओर खीच रही हैं।

ठोरीसे दक्षिण-पूर्व ५ मीलपर पिपरिया गाँव है। यह भी थरुहटके अन्दर ही है। पिपरियाके पास ही रमपुरवाके दो अशोक-स्तम्भ हैं। एक ही स्थानपर दो-दो अशोक-स्तम्भ विशेप महत्त्व रखते हैं। पुरातत्त्वकी खुदाईमें एक स्तम्भ के ऊपरका वैल भी मिला था। जनश्रुति चली आ रही है कि एक खम्भेके ऊपर पहले मोर था। खम्भेकी पेंदीमें तो मोर खुदे अव भी मौजूद हैं। खुदाईमें यद्यपि कोई मोर नही मिला, तोभी इसमें सन्देह नही कि दूसरे खम्भेके शिखरपर जरूर कुछ था। दीघनिकायके महापरिनिर्वाण-सूत्रसे हम जानते हैं, कि पिप्पली वनके मौर्योने भी गौतमवुद्धकी अस्थियोका एक भाग पाया था, जिसपर उन्होने स्तूप वनवाया। इसी मौर्यवशका राजकुमार चन्द्रगुप्त पीछे मगधके मौर्य-साम्राज्यका संस्थापक हुआ। ऐसी अवस्थामें सम्राट् अशोक ने वुद्ध भक्त अपने पूर्वज मौर्योके आदि स्थानपर यदि ये दो स्तम्भ गडवाये हो, तो कोई आश्चर्य नही। जिस प्रकार यह पापाण-स्तम्भ मगध-साम्राज्यसे सम्वद्ध है, वैसे ही शुद्ध थारू-भापाभी आधुनिक मागधी भापासे अपना स्पष्ट सम्वन्ध वतलाती है, लेकिन मगोलायित थारुओमें कैसे मागधी भापाको अपनाया, यह वडे ही रहस्यकी वात है।

हिमालयकी जातियोकी भापाओ और दूसरी वातोंके अध्ययनसे मालूम होता है, कि हिमालय और उसकी तराईमें पजाव-कश्मीरतक वसनेवाली सवने पुरानी जाति किरात थी, जो पूर्वमें आसाम, वर्मा होते कम्वुज तक चली गई है। इस जातिको आधुनिक विद्वान् मोन्‌रकोर नाम देते हैं। मगोलायित जाति होने पर भी यह चीनी, आदि जातियो, से वहुत दूरका सम्वन्ध रखती हैं। पहाडके किरात—लाहुल, मिलाणा (कुल्लू), कनौर, मारछा (गढवाल) मगर-गुरुग-सुनवार-तमग-नेवार-राई-लिम्बू-याखा (नेपाल) लेपचा (शिकम)—अपनी भापा वोलते हैं पर तराईके उसे भूलकर अपने दक्षिणी पडोसियोकी भापा वोलते हैं। यही थारू हैं।

महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति

बुद्ध ने ४५ वर्षों तक ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुस्तकवाद, जातिवाद और कितने ही अन्यवादोंके विरोधी, जडवादकी सीमाके पास तक पहुँचे, अपने बुद्धि-प्रधान एव सदाचार-परायण धर्मका उपदेश कर ४८३ ई० पू० में निर्वाण प्राप्त किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे नाना प्रकृति के लोग बुद्ध धर्ममें सम्मिलित होते गए, वैसे ही वैसे उसमें परिवर्तन होता गया। इस प्रकार बुद्धके निर्वाण के १०० वर्ष बाद, वैशालीकी सगीति के समय, बौद्ध धर्म, स्थविरवाद और महासाघिक नामक दो निकायो (=सम्प्रदायो) में विभक्त हो गया। इससे सवा सौ वर्ष बाद और भी विभाग होकर उसके अठारह निकाय बन गये, जिनका वशवृक्ष, पाली "कथावस्तु" की "अट्ठकथा" के अनुसार, इस प्रकार है—
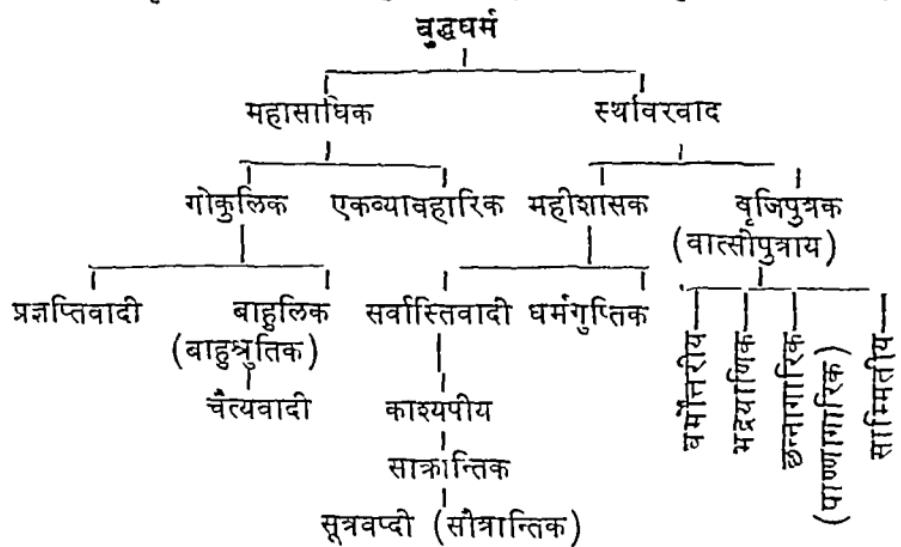
बुद्धके जीवनमें ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात (सूनापरान्त), पैठन (हैदराबाद-राज्य) तक पहुँच चुके थे। धीरे-धीरे भिक्षुओंके उत्साह एव अशोक, मिलिन्द, इन्द्राग्निमित्र आदि सम्राटो की भक्ति और सहायता से इसका प्रसार और भी अधिक हो गया। अशोकका सबसे बड़ा काम यह था कि, उन्होंने भारतकी सीमाके बाहरके देशोंमें धर्म-प्रचारकोंके भेजे जाने में, बहुत सहायता की। अशोक (ई० पूर्व २७२-२३२) के बाद बौद्ध धर्म सभी जगह फैल चुका था। उस समय तक अठारह निकाय पैदा हो गये थे, इसलिये राजाकी सहायता, चाहे एक ही निकायके लिये रही हो लेकिन दूसरे निकायों ने भी अच्छा प्रचार किया। शुगो और काण्वोंके बाद, आन्ध्र या आन्ध्रभृत्य

सम्राट् हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन)[1] महाराष्ट्र में थी। पीछे धान्य कटकभी दूसरी राजधानी बना। शातकर्णी या शातवाहन (शालिवाहन) आन्ध्र राजा, यद्यपि कुछ समय तक, उत्तरीय भारतके भी शासक थे, तो भी पीछे उन्हें दक्षिण पर ही सन्तोष करना पड़ा। बौद्ध धर्म पर इनका विशेष अनुराग था, यह पहाड़ काटकर बने गुहा-विहारो से मालूम पड़ता है। राजधानी धान्यकटक (अमरावती) में उनके बनाये भव्य स्तूप, नाना मूर्तियाँ, लताओ तथा चित्रोंसे अलंकृत संगमरमरकी पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आज भी उनकी श्रद्धाके जीवित नमूने हैं। वस्तुत बौद्धोंकेलिये, शातवाहन राजवंश, ई० पूर्व प्रथम शताब्दीसे ईस्वी तीसरी शताब्दी तक, पुराने मौर्यो या पिछले पाल वंशकी तरह था। पहाड़ खोदकर गुहा बनानेका कार्य यद्यपि मौर्योने आरम्भ किया था, और, वे उसमें कहाँ तक तरक्की कर चुके थे, यह बराबर की चमकती पालिशवाली गुहाओंसे मालूम होता है, तो भी गुहाओंको बहुत अधिक और सुन्दर ढंग से बनवाने का प्रयत्न आन्ध्रोंके ही राज्यमें हुआ। नासिक, कार्ला आदिकी भाँति अजन्ता और एलोराकी गुहाओंका भी श्रीगणेश इन्हींके समयमें हुआ था जो पीछे तक बढ़ता गया।

अन्धक-साम्राज्य में महासांघिकों और धर्मोत्तरीयोंके होनेका काल[2] और नासिकके गुहालेखोंसे पता लगता है। पाली अभिधम्मपिटकके "कथावत्थु" ग्रन्थमें कितने ही निकायोंके सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है। उनका विश्लेषण उनकी अट्ठकथाके अनुसार इस प्रकार है—

---

१ पीछे पैठनके इन शातवाहनोंका शकोंसे भी विवाह-सम्बन्ध हुआ। इन्हें अपने देशके नामपर, रट्ठिक (राष्ट्रिक) या महारट्ठिक भी कहते थे। पीछे नाटकोंमें शक या शकारके लिये "रट्ठिअ-साल" (राष्ट्रिक-श्यल) शब्द प्रयुक्त होनेका भी यही कारण है। वैसे भारतमें अचिरागत शकोंका रंग अधिक गोरा होनेसे, रनिवासोंमें, शक-कन्याओंकी काफी माँग भी थी। इससे भी राजाका साला होना हो सकता है। रट्ठ या महारट्ठ नाम पड़नेसे पूर्व पैठनके आसपासका प्रदेश अन्धक कहा जाता था, और, इसी लिये शातवाहनोंको आन्ध्र भी कहा जाता था। पीछे, राजनीतिक कारणोंसे, उन्हें अपनी राजधानी धान्यकटकमें बनानी पड़ी, जोकि, तेलगू देशमें है; और, उसीसे इस प्रदेशका नाम आन्ध्र हो गया। अन्धक और वृष्णि, दोनों ही पड़ोसी जातियाँ थीं। वृष्णियोंके वासुदेवके आर्य होनेपर अन्धकोंका आर्य होना निर्भर है।

२ *Epigraphia Indica*, Vol VII, pp 54, 64, 71

"कथावत्थु" में खण्डित सिद्धान्तोंकी तुलनात्मक सूची

	कुल सिद्धान्त	अर्वाचीन								प्राचीन								केवल अपने	दूसरों के सम्मिलित
		अन्धक								महासांघिक		स्थविरवाद							
		अन्धक	अपरशैल	पूर्वशैल	राजगिरिक	सिद्धार्थिक	वैपुल्य	उत्तरापथ	हेतुवाद	महासांघिक	गोकुलिक	काश्यपीय	भद्रयाणिक	महीशासक	वात्सीपुत्रीय	सर्वास्तिवाद	सांमितीय		
(अर्वाचीन)	..	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१७	००	१०
१. अन्धक	७२	.	..	.		..		..		.	.	..	..	२	..	१	८	६२	७
२ अपरशैलीय	७	१	..	६	..	.	..		.	.	..	..	.	..	..	.	.	..	११
३ पूर्वशैलीय	३९	१	६	..	.	.	.	.	..	.	..	v		१	.	.	३	१८	९
४ राजगिरिक	११	१	.	..	.		.	.		.	..	..	.	.	..		१	२	९
५. सिद्धार्थिक	९	१	..	.	..			..	.	.	..	..	.	..	.	..	१	..	१
६ वैपु० (वेतुल्ल)	८	१	..	.	.		.	..	..	.	..	..	..	.	..	.		७	१०
७ उत्तरापथक	४४	७	..	..	.	.	.	..	१	..	..	..	..	१	..	१	..	३४	१
८. हेतुवाद	८	.	.	.				१			..			.	.	.	..	७	
																		१३०	

"कथावत्थु" में खण्डित सिद्धान्तोंकी तुलनात्मक सूची

	कुल सिद्धान्त	अर्वाचीन								प्राचीन								केवल अपने	दूसरों के सम्मिलित
		अन्धक								महा-साधिक		स्थविरवाद							
		अन्धक	अपरशैल	पूर्वशैल	राजगिरिक	सिद्धार्थिक	वैपुल्य	उत्तरापथ	हेतुवाद	महासांघिक	गोकुलिक	काश्यपीय	भद्रयाणिक	महीशासक	वात्सीपुत्रीय	सर्वास्तिवाद	साम्मितीय		
(अर्वाचीन)	.	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१७	००	१०
१. अन्धक	७२	.	..	.	.	..	.	.		..	..	..	.	२	..	१	८	६२	७
२ अपरशैलीय	७	१	..	६	...	.	.	..	.	.	..	.	..	.	..	.	.	..	११
३ पूर्वशैलीय	३९	१	६	..	..	..	..	..		.	..	v	.	१	.	.	३	१८	९
४ राजगिरिक	११	१	.	..	..		..	.	..	..	..	.	..	..	.	..	१	२	९
५. सिद्धार्थिक	९	१	..	..	..		.	..	.	.	..	..	.	.	.	..	१	..	१
६ वैपु० (वेतुल्ल)	८	१	..	.			.	..	..	..	..	..	.	..	.	.	..	७	१०
७ उत्तरापथक	४४	७	.	..	..	.	..	..	१	..	..	.	..	१	..	१	..	३४	१
८. हेतुवाद	८	.		..			.	१	..	.	..	.	..	.	.	.	..	७	
																		१३०	

इस सारणीसे मालूम होगा कि, कुल २१४ (२१६) सिद्धान्त है, जिनपर "कथावत्थु" ने वहस की है। उनमें १३० अन्धक आदि अर्वाचीन निकायोंके हैं, ४० सिद्धान्त वहुतोके सम्मिलित है, १७[1] सिद्धान्तोंके विपयमें अट्ठकथा चुप है, और २७ ही ऐसे है, जो पुराने १८ निकायोंसे सम्वन्ध रखते है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, कथावत्थु मुख्यत अर्वाचीन निकायोंके ही विरुद्ध लिखी गई है। इन अर्वाचीन आठ निकायोमें अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थिक अन्धकोंके ही भेद हैं। इनमें अन्धकोके ८२ सिद्धान्तो का खण्डन हुआ है। वैपुल्यवादियो और हेतुवादियोंके रहनेका स्थान यद्यपि नही लिखा है, तो भी आगे चलकर वैपुल्यवादियोको हम आन्ध्रदेशका वतलायेंगे। उत्तरापथक पजाव या हिमालयके मालूम होते है, किन्तु हेतुवादियोंके वारेमें कुछ नही कहा जा सकता। महासाघिकोंसे ही पिछले अन्धक-निकायोका जन्म हुआ मालूम होता है। ऐसा माननेके लिए दो कारण हैं, एक तो कितनेही विवादग्रस्त विषय इनके सम्मिलित हैं, दूसरे आन्ध्र-साम्राज्यमें महासाघिकोका[2] वहुत अधिक प्रचार और प्रभाव था। इस प्रकार इन्हींसे आगे चलकर अन्धकोकी उत्पत्ति हुई।

---

[1] मिलाकर देखनेसे अनिश्चित सत्रह सिद्धान्तोंवाले निकाय इस प्रकार मालूम होते है—

अन्धक ४+१, पूर्वशैलीय १, उत्तरपथक ५, महासाधिक ५, साम्मितीय अन्धक १।

भूत भविष्य-कालोंके अस्तित्वका सिद्धान्त (कथा० १।७) किसका है यद्यपि यह यहाँ नहीं दिया है, तो भी युन्-च्वेङ (हुएन्-साङ) द्वारा अनुवादित "विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि"की टीकामें यह सिद्धान्त सर्वास्तिवादियों और साम्मितियोंका वतलाया गया है। (देखिये "विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि", डाक्टर पूसिनका फ्रेंच अनुवाद, पृ० १५७)।

२ महासाघिकोंके भीतर चैत्यवाद-निकाय भी था। धान्यकटकमें इसकी प्रधानता थी, यह अमरावतीमें मिले शिलालेखोंसे मालूम होती है। धान्यकटकके स्तूपका नाम ही "महाचैत्य" था। मजुश्रीमूलकल्प, १० पटलमें है—

हैं। तो भी धान्यकटक चैत्यकी प्रसिद्धि, शुगोंके बाद, आन्ध्रोंके प्रतापी कालमें हुई होगी। अत यहाँके विहारके भिक्षुओका पृथक् व्यक्तित्व खारवेल और शुगोंके बादही स्थापित होना चाहिये। यदि यह ठीक हो, तो चैत्यवादको हम ई० पूर्व द्वितीय शताब्दीके अन्तिम भागमें मान सकते हैं, और, तब पूर्वशैलीय आदि चारो अन्धकनिकायोकी उत्पत्ति ई० पू० प्रथम शताब्दीमें माननी होगी। भोटिया-ग्रन्थोंसे[1] मालूम होता है कि, पूर्वशैल और अपरशैल धान्यकटकके पूर्व और पश्चिमकी ओर दो पर्वत थे। इन्हीके ऊपरके विहार पूर्वशैलीय और अपर शैलीय कहे जाते थे। धान्यकटक आन्ध्रदेशमें वर्तमान धरनीकोट (जि० गुटूर) है। चौदहवी शताब्दीके लिखे सिहली-ग्रन्थ "निकायसग्रह" से यह भी मालूम होता है कि, इन्होने "राष्ट्रपालगर्जित"[2] ग्रन्थको वुद्धके नामसे प्रसिद्ध किया था। भोट (तिब्बत) में शर्-री (पूर्वशैल) कही जानेवाली पीतलकी मूर्तियोका दाम कई गुना अधिक होता है।

अपरशैलीय—धान्यकटकके पश्चिमकी पहाडीपर वसनेवाला यह निकाय भी चैत्यवादियोंसे निकला मालूम होता है। शेष पूर्वशैलीयकी भाँति, इसके वारेमें, जानना चाहिये। भोटिया-ग्रन्थोमें इसका भी जिक्र आता है। इसके सिद्धान्तों-पर पहले कुछ कहा जा चुका है। "निकायसग्रह" के अनुसार इन्होने "आलवक-गर्जित" सूत्रको वनाकर वुद्धके नामसे प्रकाशित किया।

राजगिरिक—अन्धक थे, किन्तु आन्ध्रमें राजगिरि कहाँ है (जहाँपर कि इनका केन्द्र था), नही कहा जा सकता। "कथावत्थु" में इनके ११ सिद्धान्तोका खण्डन किया गया है, जिनमेंसे आठ इनके तथा "सिद्धार्थको" के एक हैं। इससे ज्ञात होता है, इन दोनोका आपसमें कुछ सम्वन्ध था। निकायसग्रहमें इन्हे "अगुलिमालपिटक" का[3] कर्ता कहा गया है।

सिद्धार्थक—राजगिरिक की भाँति इनके वारेमें भी नही कहा जा सकता कि, इनका केन्द्र आन्ध्र-देशमें किस स्थान पर था इनके और राजगिरिकोके

१ क्लोङ्-र्दल्-वुम् (ल्हासा) ग, पृ० ८ ख।
२ सम्भवत. चीनी त्रिपिटकका "राष्ट्रपालपरिपृच्छा"। (*Nanjio's 873* स्कन्-जुर ४९।९)।
३ सम्भवत. "अङ्गुलिमाल-सूत्र" (*Nanjio's 484* स्कन्-जुर ६२।१३)।

अनुज्ञा। पहलेमें हम महायानके आखिरी विकास तक का स्पष्ट पूर्व-रूप पाते हैं, और दूसरेमें वज्रयान या तान्त्रिक बौद्ध धर्मका स्फुट बीज। दूसरी बात है, "वेतुल्लवाद" के सभी मत "कथा-वत्थु" के अन्तिम भाग १७वें, १८वें और २३वें वर्गोमें है। यह पहले ही कह चुके हैं कि, "कथावत्थु" का आरम्भ चाहे अशोककी तीसरी सगीतिसे ही हुआ हो, किन्तु उसमें पीछेके वादभी जुटते गये। इस प्रकार यह मान लेनेमें कोई कठिनाई नही मालूम होती कि कथावत्थुका "वेतुल्लवाद" वाला भाग सबसे पीछेका है। कितना पीछेका है? इसके लिए इतना कहा जा सकता है कि, वह बुद्धघोषसे ही पहले का नही, बल्कि नागार्जुनसे भी पहले का है, क्योकि उसमें वेतुल्लवादियोंके शून्यवादका खण्डन नही है। हम इसे यदि ईसा की पहली शताब्दी मान लें, तो वास्तविक समयसे बहुत थोडा ही आगे-पीछे रहेगे। इस बातमें हम और कुछ निश्चित तौरसे तभी कह सकेंगे, जब हम शक-शालिवाहन सवत् एव नागार्जुनके समयको अन्तिम तौरपर निश्चित कर सकेंगे। सिहलके इतिहाससे पता लगता है कि, सर्वप्रथम राजा वल्गमबाहु (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के समयमें वेतुल्लवाद सिहलमें पहुँचा, किन्तु हो सकता है पिछले समयमें, जब चारो अन्धक-सम्प्रदाय एवम् उन्हीकी एक शाखा "वेतुल्लवाद" एक हो गये, तब सबको ही "वेतुल्ल" कहा जाने लगा हो।

महायान सूत्रोको हम चीन में[१] प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, अवतसक और निर्वाण तथा तिब्बती कन्-जूरमें प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, सूत्र (प्रकीर्ण) और निर्वाणके क्रमसे विभक्त पाते हैं। अवतसक-सूत्रो को वैपुल्यसे पृथक् गिना गया है, किन्तु वैपुल्य और अवतसक एक ही प्रकारके सूत्र हैं।[२] "मजुश्री मूलकल्प" में हर एक पटलके अन्तमें आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकादवतसकात् महायानवैपुल्य-सूत्रात्।" भोटियामें भी वैपुल्य सूत्रोंके नामके साथ आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकात् अवतसकात् महावैपुल्य सूत्रम्।" स्वय नान्ज्योके सूचीपत्रके ही ८७, ८९, ९४, ९६, १०१ ग्रन्थोमें अवतसक और वैपुल्य साथ-साथ विशेषण विशेष्य-रूपसे

---

१ देखिये *A Catalogue of the Buddhist Tripitaka by Bunjiu Nanjio.*

२ *Trivendrum Sanskrit Series LXX LXXXIV*

(३) इसके प्रचारकोंमें सबसे ऊँचा स्थान आचार्य नागार्जुनका है।

(४) नागार्जुनका वास-स्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक था।[१]

(५) (आन्ध्र-राजा) शातवाहन नागार्जुनका घनिष्ट मित्र था।[२]

(६) कुछ[३] क्रान्तिकारी सिद्धान्त इनके और अन्धकोंके आपसमें मिलते थे।

इससे अनुमान होता है कि, वैपुल्यवादका केन्द्र[४] भी श्रीधान्यकटकके पास ही था। इस बातकी पुष्टि मंजुश्रीमूलकल्पका यह श्लोकभी करता है—

गच्छेद् विदिशं तन्त्रज्ञ सिद्धिकामफलोद्भवाम्।

पश्चिमोत्तरयोर्मध्य स देश परिकीर्तित ॥ (पृ० १७५, पटल १८)

इसमें "पश्चिम-उत्तरके बीचमें" विदिशाको बतलाया गया है, और, विदिशा वर्तमान भिलसा (ग्वालियर-राज्य) का ही प्राचीन नाम है। यह स्पष्ट है कि, लेखक दक्षिण भारतमें बैठकर ही ऐसा लिख सकता है। "मंजुश्रीमूलकल्प" महावैपुल्य-सूत्रोंमें से है, यह पहले कहा जा चुका है। हमारी समझमें यह स्थान श्रीपर्वत धान्यकटकही हो सकता है।

---

१ क्लोङ्-दॅल-ग्सुङ्-बुम् (ल्हासा) च, पृष्ठ ९क-"नागार्जुनका निवासस्थान दक्षिण भारतमें, श्रीपर्वतके समीप श्रीधान्यकटकमें था।"

२ हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास—(निर्णयसागर, तृतीय संस्करण, पृ० २५०)—"समतिक्रामति च कियत्यपि काले कदाचित् तामेकावलीं तस्मान्नाग-राजात् नागार्जुनो नाम नागैरेवानीत पातालतल भिक्षुरभिक्षत् लेभे च। निर्गत्य रसातलात् त्रिसमुद्राधिपते शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सु हृ दे स ददौ ताम्।" नागार्जुनने शातवाहन राजाके नाम "सुहृल्लेख" नामक पत्र लिखा था, जो चीनी और भोटिया-भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है।

३ जैसे खास अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा (कथावत्थु २३।१), यह अन्धको और इनकी एक-सी है। अन्धक बुद्धके व्यवहारको लोकोत्तर मानते थे (क० व० २।८), और, यह बुद्धकी ऐतिहासिकतासे ही इन्कार करते हैं—"बुद्ध मनुष्य लोकमें (आकर) नहीं ठहरे" (१८।१)। "बुद्धने धर्मका उपदेश नहीं किया" (१८।२)। ४ नहरल्लबड्डु (नागार्जुनी-कोंडा, जिला गुंटूर)।

माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्रसे रोग, भय आदिका नाश समझा जाने लगा। उस समय भूत-प्रेत आजसे बहुत अधिक थे। इतने अधिक थे कि, अभी उस परिणाम पर पहुँचनेके लिये थियासोफी और स्पिरिचुअलिज्मको शताब्दियो मेहनत करनी पडेगी। कुछ लोगोको इन भूतोकी बहुत फिक्र रहती थी। इसलिये उन्हे वशमें करनेके लिये भी कुछ सूत्रोकी रचना होने लगी। स्थविरवादियोने (जोकि, मानुष बुद्धके बहुत पक्षपातीथे) ही "आटानाटीयसुत्त"[1]से इसका आरम्भ किया। फिर क्या था, रास्ता खुल निकला। तब स्थविरोने देखा, वे इस घुडदौडमें तब तक बाजी नही मार सकते, जब तक वे ऐतिहासिक बुद्धसे पिण्ड न छुडालें, किन्तु वह इनके लिए बहुत कडवी गोली थी। उधर दूसरे सम्प्रदाय इसमे विशेष तरक्की करने लगे। जब देखा, दुनिया भी उन्हीकी ओर खिचती जा रही है तब उन्होने उसमें और भी उत्साह दिखाना शुरू किया। इसका, फल, हम देखते हैं कि, बुद्धके निर्वाणसे चार ही पांच सौ वर्षो बाद वैपुल्यवादियोने बुद्धके लोकमें आनेसेभी इनकार कर दिया। आखिर लौकिक पुरुप उन अभिलपित अद्भुत शक्तियोका कैसे धनी हो सकता है?

उक्त क्रमसे पहले अठारह प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदायोने सूत्रोमेंही अद्भुत शक्तियाँ माननी शुरूकी, और कुछ खास सूत्र भी इसके लिए बनाये। फिर वैपुल्य-वादियोने, लम्बे-लम्बे सूत्रोंके पाठमें विलम्ब देखकर कुछ पक्तियो की छोटी-छोटी धारणियाँ बनायी। लेकिन मनुष्य बैलगाडीसे रेल तक पहुँच कर क्या हवाई जहाजसे इन्कार कर सकता है? अन्तमें दूसरे लोग पैदा हुए, जिन्होने लम्बी धारणियोको रटनेमें तकलीफ उठाती जनता पर अपार कृपा करते हुए, "ओ मुने मुने महामुने स्वाहा," "ओ आ हु", "ओ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा" आदि मन्त्रोकी सृष्टि की। अब अक्षरोका मूल्य बढ चला। फिर लोगो को, एक-एक मन्त्राक्षरकी खोजमें भटकते देख, उन्होने "मजुश्रीनामसगीति" के कहे अनुसार

---

१ "दीघ-निकाय" ३२ सुत्त, जिसमें यक्षों और देवताओका बुद्धसे सवाद वर्णित है। इसमें यक्षों और देवताओंके प्रतिनिधियोंने प्रतिज्ञाएँ की है, जिनके दोहरानेने आजभी उनके वशज देवताओको, अपने पूर्वजोकी प्रतिज्ञा याद आ जाती है; और, वे सतानेसे बाज रहते है।

मनुष्य थे, एक तो वे, जो वस्तुत अत्यन्त श्रद्धामे मुग्ध हो इन क्रियाओको "स्वान्त सुखाय" या "परहिताय" करते थे। उनमें उनका अपना स्वार्थ उतना न था। व न क्रियाओ द्वारा उस समयके मानसिक वातावरणमें तत्काल लोगोको लाभ होते देखते थे, इसलिये, अपार श्रद्धासे उस काममें प्रवृत्त थे। दूसरे वे चालाक लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि, इन मन्त्र-तन्त्र क्रियाओकी सफलताका अधिक दारोमदार उनकी अपनी अद्‌भुत शक्तियो पर उतना नही है, जितना कि श्रद्धालुकी उत्कट श्रद्धा पर। इसीलिए श्रद्धालुकी श्रद्धा को पराकाष्ठा तक पहुँचानेके लिए या उसे पूर्ण-रूपेण "हिप्नोटाइज्ड" करने के लिए वे नित्य नये आविष्कार करते थे। वस्तुत फर्स्ट क्लासके आविष्कारक इसी दूसरी श्रेणीके लोग थे। इसी युग में चढावे से अपार धनराशि मठो में जमा हो गयी। जब इन्होने देखा कि आखिर बुद्धकी शिक्षासे भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—लोग श्रद्धासे अन्धे हैं ही और सभी भोग हमारे लिये सुलभ हैं, तब उन्होंने विषय-भोगोंके सग्रहकी ठानी, और इस प्रकार मद्य और स्त्री-सम्भोगका श्रीगणेश हुआ। यहाँ यह न समझना चाहिये कि, भैरवीचक्रके ये ही आविष्कारक थे, क्योकि इनसे सहस्रो वर्ष पूर्व मिस्र, असुर, यवन आदि देशोंमें भी ऐसे चक्रोका हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्धके नाम पर और नये साधनोंके साथ इन बातोको पेश किया।

इस प्रकार मन्त्र, हठयोग और मैथुन—ये तीनो तत्त्व क्रमश बौद्ध-धर्ममें प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्मको मन्त्रयान कहते हैं, जिसे हम निम्न भागोमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) मन्त्रयान (नरम) ई० ४००—७००,

(२) वज्रयान (गरम) ई० ८००—१२००।

वैसे तो वैपुल्यवाद तथा उससे पूर्वके अन्धक निकायोमें विशेष अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा हो चुकी थी (कथावत्थु २३।१), तोभी वह भैरवी चक्रके रूपमें तब तक न प्रकट हो सकी, जब तक कि, वज्रयान न बना। इस पुराने मन्त्र-यानकी पुस्तकोमें "मंजुश्रीमूलकल्प" एक है। "मंजुश्रीमूलकल्प" वैपुल्य सूत्रोमेंसे भी है। इसका मतलब यह हुआ कि, मन्त्रयान वैपुल्यवाद या महायानसे ही विकसित हुआ है (वस्तुत अलौकिक बुद्ध और अद्‌भुतशक्तिसम्पन्न धारणियोसे

वैसा होना सम्भव ही था)। "मंजुश्रीमूलकल्प" में यद्यपि हम नाना मन्त्र-तन्त्रोंका विधान देखते हैं, तथापि उसमें भैरवी-चक्रका अभाव है; वहाँ सदाचारके नियमोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। इस युगको यद्यपि हम गुप्त-साम्राज्यकी स्थापनासे आरम्भकर हर्षवर्द्धनके शासनके साथ समाप्त करते हैं, तथापि इसके अंकुरित और विकसित होनेका स्थान उत्तर भारत न था। "मंजुश्रीमूलकल्प" के वैपुल्य-वादी होनेकी बात हम कह चुके हैं। हम अपने एक लेख में[1] यहभी बतला चुके हैं कि, "मंजुश्रीमूल-कल्प" उत्तर भारतमें न लिखा जाकर दक्षिण भारतमें, विशेषतः धान्यकटक या श्रीपर्वत में लिखा गया है; उसमें इन दोनो स्थानोंको, मन्त्र-सिद्धिके लिए, बहुत ही उपयोगी बतलाया गया है।[2]

इससे यह भी मालूम होता है कि, मन्त्रयानके जन्मस्थान श्रीधान्यकटक और श्रीपर्वत हैं। तिब्बती ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट कहा गया है कि, बुद्धने बोधि के प्रथम वर्षमें, ऋषिपतनमें श्रावक-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया, १३वें वर्ष राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर महायान-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया, और, १६वें वर्षमें मन्त्रयानका तृतीय धर्म-चक्र-प्रवर्तन श्रीधान्यकटक में[3] किया। श्रीपर्वत[4] मन्त्रशास्त्रके लिए बहुत ही प्रसिद्ध था। मालतीमाधवमें भवभूतिने श्रीपर्वत का जिक्र कई बार किया है—

(१) "दाणिं सोदामिनि समासादिअ अच्चरिअमन्तसिद्धिप्पहावा सिरिपव्वदे कावालिअव्वद धारेदि।" (अंक १)।

(२) "यावच्छ्री पर्वतमुपनीय प्रतिपर्व तिलश एनां निकृत्य दुःखमारिणीं करोमि।" (अंक ८)।

(३) "श्रीपर्वतादिहाहं सत्वरमपत तथैव सह सद्यः।" (अंक १०)।

---

१ देखिये "महायानकी उत्पत्ति"।

२ पृष्ठ ८८—"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि॥
सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु॥"

३ "ग्रुब-म्थ-पद्म-द्कर-पो" का "छोस्-ब्युङ्" पृष्ठ १४ क-१५ क।

४ नहरल्ल-बड्ड (नागार्जुनी-कोंडा, जि० गुंटूर)।

वाण भी श्रीपर्वत के माहात्म्य से खूब परिचित था, और, द्रविड-पुरुष के साथ उसका सम्वन्ध जोडने से उसका दक्षिण में होना भी सिद्ध होता है—

"श्रीपर्वताश्चार्यवार्तासहस्राभिज्ञेन जरद्द्रविडधार्मिकेन"[१]

और "सकल-प्रणयि-मनोरथ-सिद्धि श्रीपर्वतो हर्ष ।" (हर्षचरित, १ उच्छ्वास)।

इन उदाहरणोंसे अच्छी तरह मालूम होता है कि, छठी-सातवी शताब्दियोमें श्रीपर्वत मन्त्र-तन्त्रके लिए प्रसिद्ध था। वस्तुत मुसलमानोंके आनेके वक्त (वल्कि हाल तक) जैसे वगाल जादूके लिए मशहूर था, वैसेही उस समय श्रीपर्वत था। ऊपरके मालतीमाधवके उद्धरणमें एक विशेप वात यह है कि, सौदामिनी एक वौद्ध-भिक्षुणी थी, जो पद्मावती (मालवा) से श्रीपर्वत पर मन्त्र-तन्त्र सीखने गयी थी।

श्रीपर्वतके साथ यहाँ सिद्धोंके वारेमें कुछ कहना जरूरी है। वस्तुत: श्रीपर्वत सिद्धोका स्थान था, और, जहाँ कही भी पुराने सस्कृत-काव्योमें सिद्ध या सिद्धाचार्य-शब्द मिलता है, वहाँ प्राय कविका अभिप्राय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे, श्रीपर्वतके साथ रहता है। सिद्धो और उनकी भविष्यद्वाणियो (=सिद्धादेशो) की हम सस्कृत-साहित्यमें भरमार पाते हैं। मृच्छकटिक (ईस्वी पाँचवी शताब्दी) में भी—"आर्यकनामा गोपालदारक सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति" (अक २) और "चन्दन भो स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि" देखनेमें आता है। नागार्जुनको सिद्धनागार्जुन कहा जाता है। नागार्जुनने श्रीपर्वत-को अपना वासस्थान वनाया था। वज्रयानके साथ नागार्जुनको नही जोडा जा सकता। यद्यपि तिव्वती ग्रन्थकार इसके लिए नागार्जुनको ६०० वर्षकी लम्बी आयु देनेके लिए तैयार है, तथापि मालूम होता है कि, उनकी शिक्षामें मन्त्रोकी कुछ वात थी, जिसकी पुष्टि श्रीपर्वतके मन्त्र-तन्त्रका केन्द्र वननेसे होती है। नागार्जुनी-कोडाकी खुदाई में मिले लेखोंसे अव तो यह मालूम हो गया है कि, श्रीपर्वत श्रीशैल न होकर नागार्जुनी-कोडा का 'नहरल्ल-वडु' पहाड ही है।

सातवी शताब्दीमें मन्त्रयानका प्रथम रूप समाप्त होता है। और, उसके वाद, वह वज्रयान के घोर रूप को धारण करता है। १४वी शताब्दीके सिंहल-

---

१ कादम्बरी (निर्णयसागर, सप्तम् सस्करण, पृ० ३९९)

भाषा के ग्रन्थ "निकाय-सग्रह" में इसी वज्रयान को वज्रपर्वतवासीनिकाय कहा है। श्रीपर्वत वज्रयानका केन्द्र होनेके कारण, वज्रपर्वत कहा जाने लगा। यद्यपि वज्रयानके ग्रन्थोमें वज्रपर्वत स्थान नही आता है, तथापि निकाय-सग्रहने जिन ग्रन्थोको इस निकायका बताया है, वे वज्रयानके के ही हैं। "निकायसग्रहमें"[1] वज्रपर्वतवासियोको निम्न ग्रन्थोका कर्ता बताया गया है—

गूढ विनय।
मायाजालतंत्र ([2]*Nanjio's 1061*, भोट, कन्जुर ८४।१०)।
समाजतंत्र (गुह्यसमाजतंत्र कन्जुर ८३।२)।[3]
महासमयतत्व।
पदनिक्षेप।
तत्वसग्रह (क० २५।८)।
भूत-चामर (भूतडामरतन्त्र, क० ४३।८)।
वज्रामृत (क० ८२।१२)।
चक्र-सवर (क० ८०।१)।
द्वादशचक्र (कालचक्र, क० ७९।३, ४)।
भेरुकाद्वुद (हेरुकाद्भुत, क० ८१।२)।
महामाया (क० ८२।३)।
पदनिक्षेप।
चतुष्पिष्ट (चतु पीठतंत्र, क० ८२।६, ८)।
परामर्द (? महासहस्रप्रमर्दनी, क० ९१।१)।
मारीच्युद्भव।
सर्वबुद्ध (सर्वबुद्धसमायोग, क० ८९।६)।
सर्वगुह्य (क्रोध राज सर्वमन्त्र-गुह्य तन्त्र, क० ८२।११)।
समुच्चय (वज्रयान-समुच्चय, क० ८३।५)।
मायामारीचिकल्प (क० ९१।६?)।

---

१ निकायसग्रह पृष्ठ ८, ९ (सीलोन सरकार द्वारा १९२२ में मुद्रित)।
२ *Bunjio Nanjio* का चीनी त्रिपिटक-सूचीपत्र।
३ नार्थङके छापेके कन्जुरका लेखक द्वारा लिखित सूचीपत्र।

हेरम्बकल्प ।

त्रिसमय कल्प (त्रिसमयव्यूह-राजतन्त्र, क० ८८।४)।

राजकल्प (? परमादिकल्पराज, क० ८६।५)।

वज्रगान्धारकल्प। मारीचिकल्प।

गुह्यकल्प (गुह्य-परमहस्यकल्पराज क० ८९।१)।

शुद्धसमुच्चयकल्प (?सर्वकल्पसमुच्चय, क० ७९।७)।

ये सभी वज्रयानके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, इसलिये वज्रपर्वतनिकाय और वज्रयान एक ही हैं। तिब्बतीय ग्रन्थोमें लिखा है कि, वज्रयानका धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन बुद्धने श्रीधान्यकटकमें किया था। इससे वज्रयानकी उत्पत्ति भी, आन्ध्र-देशमें हुई सिद्ध होती है। श्रीपर्वत और धान्यकटक, दोनो ही वर्तमान गुटूर जिलेमें हैं, इसलिए पीछे श्रीपर्वतके वज्रयानका केन्द्र बन जानेपर वही वज्रपर्वत कहा जाने लगा। मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री[1] —ये चार ही चीजें वज्रयानके मुख्य रूप हैं।

चौथी बात (स्त्री) में तो उन्होने जाति, कुल ही नही, बल्कि माता, बहन-के सम्बन्ध तककी अवहेलना करनेकी शिक्षा दी है। यह बुद्धकी मूल शिक्षा से दूर तो थी ही, महायानके लिए भी इसे जल्दी हजम करना मुश्किल था। इसलिए महायानसे साधारण मन्त्र-यानमे होकर वज्रयान तक पहुँचना पड़ा।

साधारण मन्त्रयानसे कब यह ज्वालामुखी फूट पड़ा, इसके बारेमें हमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो मिल नही सकता, किन्तु ऐसी बातें है, जिनके बल पर हम उसका आरम्भ छठी शताब्दीके आसपास मान सकते हैं—

---

१ गायकवाड-ओरियंटल-सीरीज, बड़ौदासे प्रकाशित "गुह्य समाजतन्त्र" में लिखा है —

"प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वच·
अदत्तं च त्वया ग्राह्य सेवन योषितामपि॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत्।
एषो हि सर्वबुद्धाना समय परमशाश्वत ॥" (पृ० १२०)
"दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगांस्तु सेवयश्चाशु सिध्यति॥" (पृ० १३६)

१—लूइपा

२—लीलापा

३—विरूपा

४—डोम्बिपा

५—शबरपा

६—सरहपा

७—कङ्कालीपा

८—मीनपा

९—गोरक्षपा

१०—चौरंगिपा

११—वीणापा

१२—शान्तिपा

५–शवरपा

६–सरहपा

७–कङ्कालीपा

८–मीनपा

९—गोरक्षपा

१०—चौरगिपा

११—वीणापा

१२—शान्तिपा

१३–तन्तिपा

१४–चमारिपा

१५–खड्गपा

१६–नागार्जुन

१७—कण्हपा

१८—कर्णरिपा

१९—थगनपा

२०—नारोपा

२९—ककणपा

३०—कमरिपा

३१—डेंगिपा

३२—भदेपा

८२—लक्ष्मीकरा

८३—समुदपा

८४—व्यलिपा

प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बादके राजाने यद्यपि वज्रयानके खिलाफ कुछ कड़ाई[1] दिखायी तथापि वाजिरिय सिद्धान्त गोप्य थे, इसलिये वह चुपचाप बने रहे।

तिब्बतके रंगीन चित्रोंमें जिन्होंने अतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) आदि भारतीय भिक्षुओंकी शकल देखी होगी, उन्हें वहाँ उनके चीवरके भीतर एक नीले रंगकी जाकेट-सी दिखायी पड़ी होगी। "निकायसंग्रह" में इसकी उत्पत्ति विचित्र ढंगसे कही गई है—जिस समय कुमारदास (५१५-५२४ ई०) सिंहलमें राज्य कर रहे थे, उसी समय दक्षिण मथुरामें श्रीहर्ष नामक राजा शासन करता था। उस समय सम्मितीय निकायका एक दुःशील भिक्षु नीला कपड़ा पहने रातको वेश्याके पास गया। जब दिन उग आने पर वह विहार लौटा और उसके शिष्योंने वस्त्रके बारेमें पूछा, तब उसने उसके बहुतसे माहात्म्य वर्णन किये। तबसे उसके अनुयायी नीला वस्त्र पहनने लगे। उनके "नीलपट-दर्शन" में लिखा है—

"वेश्यारत्नं सुरारत्नं रत्नं देवो मनोभवः।
एतद्रत्नत्रयं वन्दे अन्यत् काचमणित्रयम्॥"

कहते हैं, इसपर हर्षने उन्हें बहानेसे एक घरमें इकट्ठा कर जलवा दिया।

इस कथामें सभी बातें तो सच नहीं मालूम होतीं, किन्तु छठी शताब्दीमें इस सम्प्रदायकी उत्पत्ति तथा साम्मितीय निकायसे इसका सम्बन्ध कुछ ठीकसा जँचता है। हम दूसरी जगह, अपने "महायानकी उत्पत्ति" नामक लेखमें, लिख चुके हैं कि, महायानकी उत्पत्तिमें साम्मितीयोंका काफी हाथ था। इस तरह हम छठी शताब्दीको वज्रयानकी उत्पत्तिकी ऊपरी सीमा मान सकते हैं। निचली सीमा हमें ८४ सिद्धोंके कालसे मिलती है।

२—चौरासी सिद्ध[2]

---

१ 'सद्धम्मपटिरूपानं दिस्वालोके पवत्तनं
गण्हापेसि तया रक्खं सागरन्ते समन्ततो॥' (निकाय; सं० पृ० १७)

२ इस वंशवृक्षको मैंने अधिकांश तिब्बतके स-स्क्य-विहारके पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१-१२७९ ई०) की ग्रन्थावली "स-स्क्य-ब्क-बुम्" के सहारे बनाया है, जो कि, चीनकी सीमाके पास "तेर्-गी" मठमें छपी है। मत्स्येन्द्र जालन्धर पादके शिष्य थे, यह प्रोफेसर पीताम्बरदत्त बड़थ्वालजीके लेखसे लिया है।

सरह आदिम सिद्ध हैं, वह पालवशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८–८०९)के ज्येष्ठ समकालीन थे, उनका समय आठवी शताब्दीका पूर्वार्द्ध मानना चाहिये। प्रथम कहे कारणोंसे हम वज्रयानकी उत्पत्तिको छठी शताब्दीसे पूर्व और सरह आदिके कारण आठवी शताब्दीसे वाद भी नही मान सकते। सरह चौरासी सिद्धोंके आदि-पुरुष हैं, जिन्होने लोक-भाषाकी अपनी अद्‌भुत कवितामो तथा विचित्र रहन-सहन और योग-क्रियाओंसे वज्रयानको एक सार्वजनीन धर्म बना दिया। इससे पूर्व वह महायानकी भाँति सस्कृतका आश्रय ले गुप्त रीतिसे फैल रहा था। सरहसे पूर्वकी एक शताब्दीको हम साधारण मन्त्रयान और वज्रयानका सन्धि-काल मान सकते है। आठवी शताब्दीसे जोरोका प्रचार होने लगा। तवसे मुसलमानोंके आने तक यह वढता ही गया। १२वी शताब्दीके अन्तमें भारतके तुर्कोंके हाथमें जानेके समयसे पतन आरम्भ हुआ और तेरहवी-चौदहवी शताब्दियो तक यह विलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया (वगाल, उडीसा और दक्षिण भारत में कुछ देर और रहा)। रूपान्तरित इसलिये कि, ऊपरी वश-वृक्षमें आपको चौरासी सिद्धोमें गोरक्षनाथ, मीननाथ और चौरगीनाथका नाम मिलेगा। यहाँ हमने इन्हे तिव्वती ग्रन्थके आधार पर दिया है। उधर नाथपथके ग्रन्थोमें भी चौरासी सिद्धोंके साथ सम्वन्ध होनेकी वात दिखायी पडती है। इसे समझनेमें और आसानी होगी, यदि आप चौरासी सिद्धोकी सूचीपर ध्यान देंगे।

कहीं कहीं कुछ दूसरे भोटिया -(तिव्वतीय) ग्रन्थोंसे भी मदद ली गयी है।

स-स्कय-ब्क-ब्लुम् 'प' में (महन्तराज फग-स्-प १२३३–१२७९ ई०की कृति) के पृष्ठ "६५ क" में सरहपादसे नारोपा तककी परम्परा इस प्रकार दी हुई है—(महाब्राह्मण)सरह,(नागार्जुन), (शवरपा), लूयिपा, दारिकपा, (वज्रघण्टापा), (कूर्मपाद), जालन्धरपा, (कण्हचर्यपा) गुह्यपा, (विजयपा), तेलोपा, नारोपा।

कोष्टकके भीतरके नाम मैंने भोटियासे अनुवाद कर दिये है।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
१ लूइपा	कायस्थ	(मगध)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
२ लीलापा			सरह (६) से तीसरी पीढी
३ विरूपा		मगध (देवपालका देश)	राजा देवपाल (८०९-४९ ई०)
४ डोम्बिपा	क्षत्रिय	(मगध)	लूइपा (१) के शिष्य
५ शबरपा	"	विक्रमशिला	[सरह (६) के शिष्य, लूइपाके गुरु]
६ सरहपा	ब्राह्मण	(नालन्दा)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ई०)
७ ककालीपा[1]	शूद्र	मगध[3]	
८ मीनपा	मछुआ	कामरूप	जालन्धरपाद (४६)के शिष्य गोरक्षपाके गुरु मत्स्यन्द्रके पिता,
९ गोरक्षपा			देवपाल[2] (८०८-४९) ई०)
१० चोरंगिपा	राजकुमार	मगध	गोरक्षपा(९)के गुरुभाई
११ वीणापा	राजकुमार	गौड (विहार)	कण्हपा (१९)के शिष्य, भद्रपाके शिष्य

---

१ कोंकलिपा, ककलिपा, ककरिपा   २ "चतुराशीति-सिद्ध-प्रवृत्ति" तन्जूर ८६।१ Cordier पृ० २४७।   ३ पूर्व में राज्ञी नगर।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
१२ शान्तिपा[1]	ब्राह्मण	मगध	महीपाल ९७४-१०२६
१३ तन्तिपा	तँतवा	सोधो नगर	जालन्धर (४६) के शिष्य
१४ चमारिपा	चर्मकार	विष्णुनगर (पूर्वदेश)	
१५ खड्गपा	शूद्र	मगध	चर्पटी (५४) के शिष्य
१६ नागार्जुन	ब्राह्मण	काञ्ची	सरह (६) के शिष्य
१७ कण्हपा (चर्यपा)	कायस्थ	सोमपुरी[2]	देवपाल (८०९-४९ ई०)
१८ कर्णरिपा (आर्यदेव)		(नालन्दा)	नागार्जुन (१६) के शिष्य
१९ थगनपा	शूद्र	पूर्व-भारत	शान्तिपा (१२) के गुरु (महीपाल ९७४-१०२६ ई०)
२० नारोपा[3]	ब्राह्मण	मगध	
२१ शलिपा[4] (शीलपा)	शूद्र	विघसुर	
२२ तिलोपा (तिल्लोपा)	ब्राह्मण	भिगुनगर	नारोपा (२०) के गुरु
२३ छत्रपा	शूद्र	सधोनगर	
२४ भद्रपा	ब्राह्मण	मणिधर[5]	सरहपा (६) से तीसरी पीढ़ी

---

१ रत्नाकर शान्ति (विक्रमशिला) २ पहाड़पुर पू० पाकिस्तान। ३ देहान्त १०३९ ई०।

४ सम्भवतः शृगालीपाद ("बौद्ध गान ओ दोहा") भी यही हैं।

५ सम्भवतः बघेलखण्डका मैहर।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
२५ दोखधि (द्विखडि)पा		गवपुर	
२६ अजोगिपा	गृहपति	सालिपुत्र	
२७ कालपा		राजपुर	अवधूतिपा (१०वी शताब्दी)
२८ धोम्भिपा	धोबी	सालिपुत्र	की तीसरी पीढी
२९ ककणपा	राजकुमार	विष्णुनगर	
३० कमरि (कबल)पा		उडीसा	घटापा (५२)के शिष्य
३१ डेंगिपा	ब्राह्मण	उडीसा(सालिपुत्र)	लूइपा (१)के शिष्य
३२ भदेपा		श्रावस्ती	कण्हपा (१७)के शिष्य
३३ तधे (तते)पा[1]	शूद्र	कौशाम्बी	
३४ कुकुरिपा	ब्राह्मण	कपिल (वस्तु)	मीनपा(८)के गुरु
३५ कुचि[2] (कुसूलि)पा	शूद्र	करि	
३६ धर्मपा	ब्राह्मण	विक्रम(शिला) देश	कण्हपा(१७) और जालन्धरपाके शिष्य
३७ महिपा (महिलात)	शूद्र	मगध	कण्हपा(१७)के शिष्य
३८ अचितिपा	लकडहारा	धनिरूप (?)	

१ सम्भवत. टटन (बौ० गा० दो०)

२ सम्भवत: गुंजरीपा का मैहर

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
३९ भलह(भँव)पा	क्षत्रिय	धञ्जुर (देश)	
४० नलिनपा		सालिपुर	
४१ भुसुकुपा	राजकुमार	नालन्दा	देवपाल (८०९-४९ ई०)
४२ इन्द्रभूति	राजा	लकापुर	अनगवज्र (८१) और कवलपा (३०)के शिष्य
४३ मेकोपा	वणिक्	भगलदेश[1]	
४४ कुठालि (कुद्दालि)पा		रामेश्वर	शान्तिपा (१२)के शिष्य
४५ कर्मार (कम्परि)पा	लोहार	सालिपुत्र	अवधूतिके शिष्य
४६ जालन्धरपा[2]	ब्राह्मण	नगर भो	कण्हपा (१७) और मत्स्येंद्रके गुरु
४७ राहुलपा	शूद्र	कामरूप	सरह (६)से तीसरी पीढी
४८ घर्वरि (घर्भरि)पा		वोधिनगर	विरूपा (३)से चौथी पीढी
४९ धोकरिपा	शूद्र	सालिपुत्र	
५० मेदिनीपा[3]		लाखपुय (?)	लीलापा (२)से चौथी पीढी
५१ पकजपा	ब्राह्मण		नागार्जुन (१६)के शिष्य

---

१ वर्तमान भागलपुर जिला।

२ जालधारक।

३ सम्भवतः हालीपा भी कहते हैं।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
५२ (वज्र) घटापा	क्षत्रिय	वारेन्द्र[1]	देवपाल (८०९-४९ ई०)
५३ जोगीपा (अजोगिपा)	डोम	(उडन्तपुरी)	शबपा (५)के शिष्य
५४ चेलुकपा	शूद्र	भगलपुर	अवधूति (मैत्री)पाके शिष्य
५५ गुडरिपा (गोरुर)पा	चिडीमार[2]	डिसुनगर	लीलापा (२)के शिष्य
५६ लुचिकपा	ब्राह्मण	भगलदेश	
५७ निर्गुणपा	शूद्र	पूर्व देश	
५८ जयानन्त	ब्राह्मण	भगलपुर	
५९ चर्पटी (पचरी)पा	कहार[3]	चम्पा	मीनपा (८)के गुरु
६० चम्पकपा		राजकुमार (?)	
६१ भिखनपा	शूद्र	सालिपुत्र	
६२ भलिपा	कृष्णघृतवणिक्[4]	सतपुरी	
६३ कुमरिपा		जोमनश्रीदेश (?)	
६४ चवरि(जवरि अजपालि)पा			कण्हपा (१७)की तीसरी पीढ़ी
६५ मणिभद्रा (योगिनी)	गृहदासी	मगध	कुकुरिपाकी शिष्या
६६ मेखलापा (योगिनी)	गृहपतिकन्या	अगचेनगर	कण्हपा (१७)की शिष्या
६७ कनखलापा (योगिनी)		देवीकोट	कण्हपा (१७)की शिष्या

---

१ चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति (तन्जूर ८६।१)में नालन्दा लिखा है। २ ग्य-प (भोटियामें)।
३ खर्-ब छोङ्-व वहँगी बेचनेवाला, भार बेचनेवाला। ४ मर्-नग्-छोङ-पा, तेली।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
६८ कलकलपा	शूद्र	भिरलिरनगर (?)	
६९ कताली (कथाली)पा	दर्जी	मणिधर (मैंहर)	कण्हपा (१७) के शिष्य
७० वहुलि[1] (वहुरि)पा	शूद्र	घेकरदेश (?)	
७१ उवलि (उधरि)पा	वैश्य	देवीकोट	कर्णरिपा (१८)के शिष्य
७२ कपाल (कमल)पा	शूद्र	राजपुरी	
७३ किलपा	राजकुमार	प्रहर (?सहर)	
७४ सागरपा	राजा	काची	
७५ सर्वभक्षपा	शूद्र	महर (सहर)	शवरी (२, छोटे सरह) और भूसुक (४१) का शिष्य
७६ नागवोधिपा	ब्राह्मण	पश्चिम भारत	नागार्जुन (१६)के शिष्य
७७ दारिकपा	राजा	उडीसा (सालिपुत्र)	लूइपा (१)के शिष्य
७८ पुतुलिपा	शूद्र	भगलदेश	
७९ पनह (उपानह)पा	चमार	सन्वो नगर	
८० कोकालिपा	राजकुमार	चम्पारन	
८१ अनगपा	शूद्र	गौड	डोम्बिपा (४) तीसरी पीढी
८२ लक्ष्मीकरा (योगिनी)	राजकुमारी	सम्भलनगर[2]	राजा इन्द्रभूतिकी बहन
८३ समुद्रपा		सर्वंडिदेश[3]	
८४ भलि (व्यालि)पा	ब्राह्मण	अपत्रदेश (?)	

१ सम्भवत: ववडीपा (चर्यागीति)। २ सम्भलपुर (विहार)। ३ सर्वार (गोरखपुर, वस्ती जिले)।

चौरासी सिद्धोकी गणनामें यद्यपि पहला नम्बर लूइपाका है, तथापि वह चौरासी सिद्धोका आदिम पुरुष नही था वह ऊपर दिये वश-वृक्षसे मालूम होगा। यद्यपि इस वश-वृक्षमें सिर्फ ५० से कुछ अधिक सिद्ध आये हैं, तथापि छूटे हुओमें सरहके वशसे पृथक्का कोई नही मालूम होता, इसलिये सरह ही चौरासी सिद्धोंके प्रथम पुरुष हैं। चौरासी सिद्धोमें सरह, शवर, लूइ, दारिक, वज्रघण्टा (या घण्टा) जालधर, कण्हपा और शान्तिका खास स्थान है। वज्रयानके इतने भारी प्रचार और प्रभावका अधिकाश श्रेय इन्हीको है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने[1] सरहका समय ६३३ ई० निश्चित किया है। भोटिया-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, (१)[2] बुद्धज्ञान जो सरहके सहपाठी और शिष्य थे, दर्शनमें हरिभद्रके भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षितके शिष्य थे, जिनका देहान्त ८४० ई० के करीब तिब्बतमें हुआ था। (२) वहीसे यह भी मालूम होता है कि बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल[3] (७६९–८०९)के समकालीन[4] थे। (३) सरहके शिष्य शबरपा लूइपाके गुरु थे। लूइपा महाराज धर्मपालके[5] कायस्थ (=लेखक) थे।

शान्तरक्षितका जन्म ७४० के करीब, विक्रमशिलाके पास सहोर[6]-राजवशमें हुआ। फलत हम सरहपाको महाराज धर्मपाल (७६९–८०९) का समकालीन मान लें, तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धोका आरम्भ हम आठवी शताब्दीके अन्त (८००ई०) मान सकते हैं। अन्तिम सिद्ध कालपाद (२७) चेलूकपा (५४) के शिष्य थे। एक छोटे कालपाद भी हुए हैं, यदि यह वह नही हैं, तो इन्हीको चौरासी सिद्धोमें लिया जा सकता है। चेलुकपा अवधूतिपा या मैत्रीपाके शिष्य थे। यह वही मैत्रीपा है, जो दीपकर श्रीज्ञानके विद्यागुरु

---

१ बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीका जर्नल, खण्ड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४९।

२ स-स्क्य ब्क-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २१२ ख—२१७ क।

३ अध्यापक दिनेशचन्द्र मतानुसार ७४४-८०० ई०।

४ स-स्क्य ब्कं-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २१२ ख।

५ स-स्क्य-ब्क-ऽबुम् फ्- पृष्ठ २४३ क।

६ वर्तमान सबोर पर्गना (भागलपुर)।

चौरासी सिद्ध वंशवृक्ष

थे और ग्यारहवी शताब्दीके आरम्भमें वर्त्तमान थे। इस प्रकार अन्तिम सिद्धका समय ग्यारहवी शताब्दीके अन्तसे पूर्व होगा। अतएव चौरासी सिद्धोका युग—७५०–११७५ ई० मानना ठीक जान पडता है। इसी समय सिद्धोकी चौरासी सख्या पूरी हो गयी थी।[1]

उक्त समयमें ही चौरासी सख्या पूरी हो जानेका एक और प्रमाण मिलता है। वारहवी शताब्दीके अन्तमें मित्रयोगी या जगन्मित्रानन्द एक वडे सिद्ध हो

---

१ वज्रयानकी ऐतिहासिक खोज भोटिया-(तिब्वती)साहित्यकी सहायताके विना अपूर्ण रहेगी; किन्तु, भोटिया-साहित्यका उपयोग करनेमें कुछ बातोंका ध्यान रखना जरूरी है; नहीं तो, भारी गलती होनेका डर है। पहली बात तो यह है कि, इस प्रकारकी सामग्रीमें पद्मसभवसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ बहुत ही भ्रमपूर्ण है। भोटके निग्-मा-पा सम्प्रदायने भोटमें एक अलौकिक बुद्ध खड़ा करनेके खयालसे इस अद्भुतकर्मा पुरुषकी सृष्टि की। ज्यादा से-ज्यादा इसकी ऐतिहासिकताके वारेमें इतना ही कह सकते है कि, शान्तरक्षितकी मण्डलीके भिक्षुओमें पद्मसभव नामका एक साधारण भिक्षु भी था। जैसे महायानने पाली-सूत्रोंके अल्प प्रसिद्ध सुभूतिको सारी प्रज्ञापारमिताओंका उपदेष्टा वनाकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायनसे भी अधिक महत्त्वशाली बना डाला, वैसे ही निग्-मा-पाने पद्मसभवके लिये किया। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि, भोटमें भारतीय वौद्धधर्मके इतिहासकी सामग्री दो प्रकारकी है। एक तो उस समयकी, जव कि, भारतमें वौद्धधर्म जीवित था और उस समय भारतीय विद्वान् तिब्वतमें धर्म-प्रचारार्थ तथा तिब्वतीय विद्यार्थी भारतमें अध्ययनार्थ आया-जाया करते थे। दूसरी वह, जव कि, भारतसे वौद्धधर्म नष्ट हो चुका था और तिब्वतीय ग्रन्थकार नेपाल या भारतमें आकर, अथवा भोटमें यहांके आदमियोंको पाकर, सुन-सुनाकर लिखते गये। इन दो प्रकारकी सामग्रियोमें प्रथम प्रकारकी सामग्री ही अधिक प्रामाणिक है। इस सामग्रीके संग्रह करनेके समयको तीन हिस्सों में बांटा जा सकता है—

(१) सम्राट् ठि-स्रोङ-ल्दे-व्चन्से सम्राट् रल्-पा-चन् तक (७१९—९०० ई०)।

गये हैं। इनकी २० के करीब पुस्तकें भोटिया-भाषामें अनूदित हुई है, जिसमें "पदरत्नमाला" तथा "योगीस्वचित्त-ग्रथकोपदेश" हिन्दी कविताएँ मालूम होती हैं। इन्हीके ग्रन्थोमें "चन्द्रराज-लेख" भी है। इनके दुभाषियोमें थे, ग्नुब्-निवासी छुल्-खिम्स् और ख्रो-फु-निवासी ब्यम्स्-पई-पल्। ख्रो-फू-ब्यम्स्-पई-पल्की प्रार्थनापर यह ११९७ ई० में नेपालसे तिब्बत गये[1] और वहाँ अठारह मास रहे। यह ख्रो-फु-लोचवा (=दुभाषिया) वही है, जो विक्रमशिला-विहारके महम्मद-बिन्-वख्तियार द्वारा नष्ट किये जानेपर वहाँके पीठ-स्थविर शाक्य-श्रीभद्रको ११९९ में भोट ले गया। मित्रयोगीसे तिब्बतमें प्रसिद्ध थे। इनके "चन्द्रराज-लेख"से मालूम होता है कि, वह किसी राजाके लिये लिखा गया है, और, यह भी अनुमान हो रहा था, वह बारहवी शताब्दीके अन्तमें उत्तरप्रदेश

(२) अतिशा और उनके अनुयायियोंका समय (१०४२-१११७ ई०)।

(३) स-स्क्य-विहारकी प्रधानता और बु-स्तोन्का समय (११४१-१३६४ ई०)।

बस्तोन्के बाद भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो जानेके कारण, फिर भोटको सजीव बौद्ध भारतसे सम्बन्ध जोडनेका अवसर नहीं मिला। प्रथम कालमें ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मिलती है, जो मिलती भी है, उसे निग्-मा-पा (प्राचीनपथी) सम्प्रदायने इतना गडबड कर दिया है कि, उसका उपयोग बहुत ही सावधानीसे करना पडेगा। दूसरे कालमें डोम्-तोन् आदि रचित दीपंकरकी जीवनी एव कई और ऐतिहासिक ग्रन्थ बडे कामके हैं। तृतीय कालकी सामग्री बहुत ही प्रामाणिक तथा प्रचुर प्रमाणमें मिलती है। इसके मुख्य ग्रन्थ हैं स-स्क्यविहारके पाँच प्रधान महन्त-राजाओंकी कृतियाँ '(स-स्क्य-ब्क-बुम्) और बु-स्तोन् (१२९०—१३८४ ई०) तथा उनके शिष्योकी ग्रन्थमाला (बु-स्तोन्-यब-स्रस्-ग्सुं-बुम्)। डुक्-पा-पद्मा-दकर्-पो (जन्म १५२६ ई०), लामा तारनाथ (जन्म १५७४ ई०) तथा वैसे ही दूसरे कितने ही लेखकोकी कृतियाँ कुछ तो भोटकी पुरानी सामग्रीपर अवलम्बित हैं और कुछ सुनी-सुनाई बातोंपर। इसलिये इनका उपयोग करते वक्त बहुत सावधानीकी अवश्यकता है।

१ जर्नल एसियाटिक सोसाइटी (बगाल) १८८९, जिल्द ५८, पृष्ठ१।

या बिहारका कोई राजा रहा होगा। अब अनुमानकी जरूरत ही नही है। इसी समयके बोधगयाके एक शिलालेखमें[1] इनका और गहडवार राजा जयचन्द (११७१-९४ ई०)का जिक्र इन शब्दोमें आया है—

"अस्ति त्रिलोकी सुकृतप्रसूत सत्रातुमामन्त्रितसर्वभूत ।
सम्बुद्धसिद्धान्वयधुर्य्य भूत.[2] श्रीमित्रनामा परमावधूत ॥४॥

हिंस्रा हिंसामशेषा क्षुधमधिकरुपस्त्रस्नवस्त्रासमाशु
व्यावृ्योदस्तहस्तप्रणयपरतया विश्वविश्वासभूमे ।
चेत सप्रीयमाण मधुरतरदृशा श्लेपपीयूपपातै-
स्तिर्यञ्च सूचयन्ति च्युतमलपटल यस्य मैत्रीषु चित्तम्। ॥५॥

उदितसकल भूमीमण्डलैश्वर्य-सिद्धि
स्वयमपिकिमपीच्छन्नच्छधैर्यस्य शिष्य ।
अभवदभयभाज श्रद्धया बन्धुरात्मा
नृपशतकृतसेव श्रीजयच्चन्द्रदेव ॥(१०)

श्रीमन्महाबोधिपदस्य शास्त्रग्रामादिक मग्नमशेषमेव।
काशीशदीक्षागुरुरुद्दवार य शासन शासनकर्णधार ॥(१२)
सत्राणि तिसृणा चासामगणेपु निरगण ।
सोऽय श्रीमज्जगन्मित्र शाश्वतीकृत्य कृत्स्नवित् ॥(१४)

वेदनयनेन्दु-निष्ठया सख्ययाकपरिपाटिलक्षिते ।
विक्रमाकनरनाथवत्सरे ज्येष्ठमासि युगपद् व्यदीघपत् ॥"(१५)

इसमें मित्र और जगन्मित्र, दोनो ही नाम आये है। काशीश्वर जयच्चन्द्रदेवका उन्हे दीक्षा-गुरु कहा है और साथ ही बुद्धधर्म (=शासन) का कर्णधार

---

१ इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता, मार्च १९२९, पृष्ठ १४-३०)। लेख सवत् १२३१ (सन् ११७४ ई०) का है।

२ जगन्मित्रानदको सिद्धोके वशका धुरंधर कहा गया है।

भी। सिद्धोंके सारे गुण इनमें थे, तो भी इनका नाम चौरासी सिद्धोंमें न आना बतलाता है कि, इनके पहले ही चौरासी संख्या पूरी हो चुकी थी।[1]

---

१ (१) बौद्धधर्ममें अन्त तकका विचार-विकास। (२) बौद्धधर्मके भारतसे लोपका कारण। (३) भारतमें, आम तौरसे, बिहारमें विशेष तौरसे तथा गया जिलेमें बहुत ही अधिकतासे जो बौद्ध-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनका परिचय तथा बौद्धमूर्ति विद्या। (४) नाथपंथ, कबीर, नानक आदि संतमत संबंधी विचारके स्रोतका मूल। (५) कौलधर्म, वाममार्ग, भैरवी आदिके विकासका इतिहास। (६) भारतमें हठयोग, स्वरोदय, त्राटक (Hypnotism), भूतावेश (Spiritualism) का क्रम विकास (७) १२ वीं शताब्दीमें भारतीयोंकी राजनीतिक पराजयका कारण। (८) पालवंशका इतिहास (विशेष तौरसे) गहड़वार आदि कितने ही राजवंशोंका इतिहास (आंशिक तौरसे)। (९) हिन्दी भाषाके आदि कवि और उनकी कविता।

—यह और कितने ही और भी विषय हैं, जिनके लिये वज्रयानके इतिहासका अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

१०. हिन्दी (अपभ्रंश) के प्राचीनतम कवि और कविताएँ

सिद्धयुग (७५०-१२०० ई०)

सिद्ध लोगोने उस समय लोकभाषामें कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियोसे भारतके सभी धर्मवाले किसी-न-किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने धर्मका प्रचार कर रहे थे, और इसी कारण उनके धर्मके जाननेवाले बहुत थोडे हुआ करते थे। सिद्धोंके ऐसा करनेके कारण थे—वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयोमें एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी-बुरी रूढियोको उखाड फेंकना चाहते थे, यद्यपि जहाँतक मिथ्या-विश्वासका सम्बन्ध था, उसमें वह कई गुनी वृद्धि करनेवाले थे। अपने वज्रयानकी जनतापर विजय पानेके लिये उन्होने भाषाकी कविताका सहारा लिया। आदिसिद्ध सरहपादसे ही हम देखते हैं कि, सिद्ध बननेकेलिये भाषा (अपभ्रश)का कवि होना आवश्यक बात थी। सिद्धोने भाषामें कविता करके यद्यपि अपने विचारोको जनताके समझने लायक बना दिया, तथापि डर था कि, विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्म-कलापका खुलेआम विरोधकर कही जनतामें घृणाका भाव न पैदा कर दें, इसीलिये वह एक तो विशेष-योग्यता-प्राप्त व्यक्तियोको ही उन्हें सुननेका अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनोमें लग जाये। इस भाषाको पुराने लोगोने "सन्ध्याभाषा" कहा है, और, आजकल उसे "निर्गुण," "रहस्यवाद," या "छायावाद" कह सकते हैं। गुप्त रक्खे जानेके ही कारण हमें "प्राकृति-पैंगल" जैसे ग्रन्थोमें इन काव्योका कोई उद्धरण नही मिलता।

चौरासी सिद्धोका काल ७५०-११७५ ई० है, किन्तु सिद्ध उसके बाद भी होते रहे है, इसलिये सिद्धकाल उससे बादतक भी रहा है, तोभी भाषाके खयालसे हम उसे महाराज जयचन्द्रके गुरु मित्रयोगी (१२००)के साथ समाप्त

करते हैं। रामानन्द, कबीर (जन्म १३९९ ई०, मृ० १४४८), नानक (जन्म १४६८ ई०), दादू (जन्म १५४४ ई०) आदिसे राधा-स्वामी दयालतक सभी सन्त इन्ही चौरासी सिद्धोकी टकसालके सिक्के थे। रामानन्दकी कविताएँ दुर्लभ हैं। उन्होने तथा उनके शिष्य कबीरने चौदहवी शताब्दीके अन्त और पन्द्रहवी शताब्दीके आरम्भमें अपनी कविताएँ की। यदि बारहवी शताब्दीके अन्तसे चौदहवी शताब्दीके अन्तका कविता-प्रवाह जोडा जा सके, तो सिद्ध और सन्त-कविता-प्रवाहके एक होनेमें आपत्ति नही हो सकती। यह जोडनेवाली शृंखला नाथपन्थकी कविताएँ है। हम कबीर-सम्बन्धी कहावतोमें गोरखनाथ और कबीरका विवाद अकसर सुनते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०)के समकालीन सिद्ध गोरखनाथ पन्द्रहवी शताब्दीके पूर्वार्द्धमें कबीरसे विवाद करने नही आ सकते। वस्तुत वहाँ हमें गोरखनाथकी जगह उनके नाथपन्थको लेना चाहिये।

मुसलमानोंके प्रहार और अपनी भीतरी निर्बलताओंके कारण बौद्धधर्म विलीन होने लगा। उससे शिक्षा ग्रहण कर आत्मरक्षार्थ नाथपन्थ धीरे-धीरे अनीश्वरवादीसे ईश्वरवादी हो गया। कबीरके समय वही एक ऐसा पन्थ था, जिसकी वाणियो और सत्सगोका प्रचार सर्वसाधारणमें अधिक था। जिस प्रकार बडोदा, इन्दौर, कोल्हापुर तथा कुछ पहले झाँसी और तजोरतक फैले छोटे-छोटे मराठा-राज्य एक भूतपूर्व विशाल मराठा-साम्राज्यका साक्ष्य देते है, उसी प्रकार आज भी काबुल, पजाब, उत्तरप्रदेश ,बिहार, बगाल और महाराष्ट्रतक फैली नाथपन्थकी गद्दियाँ नाथपन्थके विशाल विस्तारको बतलाती हैं। यह विस्तार वस्तुत उन्हे अपने चौरासी सिद्धोसे पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिला था। नाथपन्थके परिवर्तनके साथ शेष बौद्ध ब्राह्मण-धर्ममें लौटे।

"नाथपन्थ" चौरासी सिद्धोसे ही निकला है। इसके लिये यहाँ कुछ लिखना अप्रासगिक न होगा—विशेषत जब कि, बारहवीसे चौदहवी शताब्दीतककी हिन्दी-कविताओंके लिए हमें अधिकतर नाथ-घरानेकी ओर ही नजर दौडानी पडती है। "गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह"में[1] "चतुरशीतिसिद्ध" शब्दके साथ निम्न

---

१ "गोरक्षसिद्धान्तसग्रह", सरस्वतीभवन-टेक्स्ट-सीरीज, बनारस—
"नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयक:।

सिद्धोका नाम मार्ग-प्रवर्तकके तौरपर लिखा गया है—नागार्जुन (१६), गोरक्ष (९), चर्पट (५९), कन्थाधारी (६९), जालन्धर (४६), आदिनाथ =जालन्धरपा, सि०४६),चर्या(कण्हपा) (१७) ।[1] इससे चौरासी सिद्धो और नाथपन्थके सम्बन्धमें सन्देहकी कोई गुंजायश नही रह जाती। विचारोमें यद्यपि अब नाथपन्थ अनीश्वरवाद छोडकर ईश्वरवादी हो गया है, तथापि अब भी उसकी वाणियोमें छान-बीन करनेपर निर्वाण, शून्यवाद और वज्रयानका बीज मिलेगा। नाथपन्थी महाराष्ट्रीय ज्ञानेश्वरने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है—

आदिनाथ,
मत्स्ये
गोरख
गहनी

इनमें आदिनाथ जालन्धरपा ही हैं, जैसा कि, जालन्धरपादके ग्रन्थ "विमुक्त-मञ्जरी"[1]के भोटिया-अनुवादसे मालूम होता है। इस परम्परामें बीचके पुरुषों-को छोड दिया गया है, क्योंकि गोरखनाथ (९वी शताब्दी) और ज्ञानेश्वर (१४वी शताब्दी)के बीचमें सिर्फ दो ही पीढियाँ नहीं हो सकती। मैंने अन्यत्र सरहके वंश-वृक्षमें चर्पटीसे शान्तिगुप्ततकका भाग, १६वी शताब्दीके भोटिया-ग्रन्थ "रत्नाकर जोपमकथा"से[2] दिया है (इस ग्रन्थके आरम्भका एक पृष्ठ तथा अन्तके भी कितनेही पृष्ठ गायब हैं)। वज्रयानके सम्बन्धमें भोटिया-भाषामें जो सामग्री उपलभ्य है, वह बहुतही प्रचुर परिमाणमें है, और, उसका अधि-कांश शताब्दियोंके हेर-फेरसे बचा रहनेसे बहुत प्रामाणिक है। इसीलिये गोरख-नाथ मत्स्येंद्रनाथके काल-निर्णयमें उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भोटिया-ग्रन्थोंकी बातोंकी पुष्टि, कभी-कभी बडे विचित्र रूपसे होती देखी जाती है। उक्त "रत्नाकरजोपमकथा" ग्रन्थमें लिखा है—

"मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ, ये दोनो भारतकी पूर्व दिशावाले कामरूप (देश)के मछुवे थे (वहाँ) लौहित्य-नदी है, जिसे आजकल भोटमें 'चङ्-पो' कहते हैं। (मत्स्येन्द्र) मछलीके पेटमें १२ वर्ष रहे। फिर आचार्य चर्पटीके पास गये। दोनो ही सिद्ध हो गये। बाप (हुआ) सिद्ध मीनपा और बेटा सिद्ध मछिन्द्रपा।"

'तन्त्रालोक'की टीकामें इसकी पुष्टि हमें इस श्लोकसे मिलती है—

"भैरव्या भैरवात् प्राप्त योग व्याप्य तत. प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छेन्द्रेण महात्मना।"[3]

'नाथपन्थ'के चौरासी सिद्धोंका उत्तराधिकारी सिद्धहो जानेपर फिर कबीर-

---

१ देखिये Cordier का *Catalogue du fonds Tibetain, troisieme partie*, पृष्ठ ११२, *Vol LXXIII 49*

२ रिन्-पो-छेइ-ऽब्ययुङ्ग खुङ्स्-ल्त-बु-न्तम्।

३ (त्रिवेण्ड्रम्-संस्कृत-सीरीज, पृष्ठ २४, २५, *Indian Historical Quarterly, March 1930* में उद्धृत)

से सम्बन्ध जोडनेमें दिक्कत नही रहती। कबीर स्वय चौरासी सिद्धोको भूले न थे, तभी तो उन्होंने कहा है—

"धरती अरु असमान बिच, दोई तूबडा अवध।
षट दर्शन ससे पड्या, अरु चौरासी सिध॥"[1]

यहाँ चौरासी सिद्धोंसे विरोध प्रकट करनेसे कबीर उनकी टकसालके न थे—ऐसा समझनेकी आवश्यकता नही। वस्तुत रामानन्द, कबीरने सिद्धोंके ही निर्गुण, योग और विचित्र ढगको अपनाकर नाथवशके राज्यपर धावा किया[2] और शताब्दियोंके सघर्षके बाद वह विजयी हुए। यदि आप भक्तमालके भक्तोंके व्यवसाय, कुल, रहन-सहनको चौरासी सिद्धोंसे मिलावें, तो यह विचार-सादृश्य भली भाँति प्रकट हो जायगा।

सिद्धोकी कविताकी भाषा आठवीसे बारहवी शताब्दीकी अपभ्रश है, इसीलिये उसका आपसमें भी भेद होना स्वाभाविक है। फिर नवी शताब्दीके कण्हपाकी २०वी शताब्दीकी भाषासे कितना फर्क होगा, इसके लिए तो कहना ही क्या! आखिरी सिद्धके १०० वर्ष बाद, सन् १३०० ई० में, राणा हम्मीर सिह चित्तौडकी गद्दीपर बैठे। हिन्दुओकी कुछ परम्परागत कमजोरियोको छोडकर वह एक आदर्श क्षत्रिय वीर थे। उनके सम्बन्धकी कुछ कविताएँ "प्राकृत-पैङ्गल"में उद्धृत हैं (इमका कवि सम्भवत "जज्जल" था, जो कि, हम्मीरका सेनापति भी था)।

"पअ[3] भरु दर भरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झपिअ।
कमठ पिट्ठ टरपरिअ[4] मेरु मदर सिर-कपिअ॥
कोह चलिअ हम्मीर वीर गअ-जूह[5] सॅजुत्ते।
किअउ कट्ठ आकद[6] मुच्छि [7]म्लेच्छहके पुत्ते॥९२॥

---

१ कबीरग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ५४

२ चदनकी कुटकी भली, नाँ बबूर अमराँऊँ।
बैश्नोंकी छपरी भली, नाँ साषतका बड़गाँव॥
(कबीर ग्रं०, पृ० ५२)। यहाँ "साषत" या शाक्तसे मतलब जिस सम्प्रदायसे था, उसमें नाथपन्थ उस समय प्रमुख था।

३ पद। ४ डगमगाये। ५ गजयूथ। ६ आक्रंदन। ७ म्लेच्छोंके।

तक इन्होने वास किया। पीछे इनका ध्यान मन्त्र-तन्त्रकी ओर आकृष्ट हुआ और एक वाण (शर = सर) वनानेवालेकी कन्याको महामुद्रा[1] वनाकर किसी अरण्यमे वास करने लगे। वहाँ यह भी शर (वाण) वनाया करते थे, इसीलिए इनका नाम सरह पड गया। श्रीपर्वत[2] में भी यह वहुधा रहा करते थे। सम्भव है, इनकी मन्त्रोकी ओर प्रथम प्रवृत्ति वही हुई हो। शवरपाद (५) इनके प्रधान शिष्य थे। कोई तान्त्रिक नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। भोटिया तन्-जूरमें इनके ३२ ग्रन्थोका अनुवाद मिलता है, जो सभी वज्रयानपर हैं। इनमें एक "वुद्धकपाल-तन्त्र" की पञ्जिका "ज्ञानवती" भी है। इनके निम्न काव्य-ग्रन्थ अपभ्रंश[3] से भोटियामें अनुवादित हुए हैं—

१ क,ख दोहा (त०[4] ४७।७)।
२. क-ख दोहा-टिप्पण (त० ४७।८)।
३ कायकोष-अमृतवज्रगीति (त० ४७।९)।
४. चित्तकोष-अजवज्रगीति (त० १७।११)।
५ डाकिनी-वज्र-गुह्यगीति (त० ४८।१०६)।
६ दोहा-कोष-उपदेश-गीति (त० ४७।५)।
७ दोहाकोषगीति (त० ४६।९)।
८ दोहाकोषगीति। तत्त्वोपदेशशिखर—, (त० ४७।१७)।
९ दोहा-कोष-गीतिका। भावनादृष्टि-चर्याफल—, (त० ४८।५)।
१० दोहाकोष। वसन्ततिलक—, (त० ४८।११)।
११ दोहाकोष-चर्यागीति। (त० ४७।४)।
१२ दोहाकोष-महामुद्रोपदेश। (त० ४७।१३)।

---

१ वज्रयानीय योगकी सहचरी योगिनी अथवा हेप्नाटिज्मका माध्यम।

२ नहरल्ल-बहु (नागार्जुनीकोंडा, जिला गुंटूर)।

३ ११वींका मूल और वाकीका हिन्दी अनुवाद तिब्वतीके साथ मैंने "सरहपा-के दोहाकोश"के नामसे सपादित किया है।

४ त-से मतलव तन्जूरके तन्त्र-खण्डसे है। विशेषके लिए देखिये Cordier का *Catalogue du fonde Tibetain*; द्वितीय और तृतीय खण्ड।

१३ द्वादशोपदेश-गाथा (त० ४७।१५)।
१४ महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति। (त० ४८।१००)।
१५ वाक्-कोषरुचिरस्वरवज्रगीति। (त० ४७।१०)।
१६ सरहगीतिका (त० ४८।१४, १५)।

इनकी कुछ कविताओंका नमूना लीजिए—

[1]"जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि णाह पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥"
"पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ"
"अमणागमण ण तेन विखण्डिअ।
तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पण्डिअ"
"जो भव सो निवा[?व्वाण] खलु,
भेवु न मण्णहु पण्ण।"
"एकसभावे विरहिअ, णिम्मलमइ पडिवण्ण॥"
"घोरे न्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
परममहासुह एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ॥"
"जीवतन्ह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें विमल्मइ, सो पर धण्णा कोइ॥"
इनके कुछ गीति-पद्य—

राग द्वेशाख (३२)

"नाद न विन्दु न रवि न शशि-मण्डल॥
चिअराअ सहावे मूकल॥ध्रु०॥
उजु रे उजु छाडि मा लेहु रे बंक।
निअहि वोहिमा जाहु रे लाक॥ध्रु०॥
हाथेरे कान्काण मा लोउ दापण।
अपणे अपा बुझतु निअ-मण॥ध्रु०॥

१ "दोहाकोष चर्यागीति", देखो मेरा "सरहपाके दोहाकोश"।

गुरुवाक पुञ्जआ बिन्ध णिअ मणे वाण।
एके शर-सन्धाने बिन्धह-बिन्धह परम पिवाणें ॥ध्रु०॥
उमग सवरो गरुआ रोषे।
गिरिवर-सिहर-सधि पइसन्ते सवरो लोडिव कइसे ॥२८॥"

राम रामक्री (५०)

"गअणत गअणत तइला वाड्ही हेञ्चे कुराडी।
कण्ठे नैरामणि बालि जागन्ते उपाडी ॥ध्रु०॥
छाड छाड माआ मोहा विष मे दुन्दोली।
महासुहे विलसन्ति शवरो लइआ सुणमे हेली ॥ध्रु०॥
हेरि ये मेरि तइला बाडी खसमे समतुला।
षुकडए सेरे कपासु फुटिला ॥ध्रु०॥
तइला बाड़िर पासेर जोह्णा वाडी ताएला।
फिटेलि अन्धारि रे अकाश फुलिआ ॥ध्रु०॥
कुङ्गुरि ना पाकेला रे शवराशवरि मातेला।
अणुदिण शवरो किम्पि न चेवइ महासुहे भेला ॥ध्रु०॥
चारिवासे भाइलारें दिआं चञ्चाली।
तँहि तोलि शबरो हुकएला कान्दश सगुण शिआली ॥ध्रु०॥
मारिल भव-मत्तारे दह-विहे दिध लिवली।
हे रसे सबरो निरेवण भइला फिटिलि षबराली" ॥ध्रु०॥

३ कर्णरीपा या आर्यदेव (सिद्ध १८)—यह शून्यवादके आचार्य नागार्जुनके शिष्य आर्यदेव न थे। इनके गुरु वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन थे, जो कि, सरहपादके शिष्य थे। भिक्षु बनकर नालन्द-विहार गये। तन्-जूरके दर्शन-विभागमें आर्यदेवके ९ ग्रन्थो और तन्त्र-विभागमें २६ ग्रन्थोका अनुवाद है, जिनमें दर्शनके नौ ग्रन्थ तो पुराने माध्यमिक आर्यदेवके हैं, किन्तु तन्त्रके प्राय सभी ग्रन्थ इन्हींके हैं। इनमें अपभ्रशमें सिर्फ "निर्विकल्प प्रकरण" (त० ४७।२०) ही मालूम होता है। इनकी एक कविताका नमूना लीजिये—

राग पटमञ्जरी (३१)

"जहि मण इन्दिअ (प)वण हो णठा।
ण जाणमि अपा कहि गइ पइठा॥ध्रु०॥
अकट क णा दम लि बाजअ।
आजदेव णिरासे राजइ॥ध्रु०॥
चान्दरे चान्दकान्ति जिम पतिभासअ।
चिअ विकरणे तहि टलि पइसइ॥ध्रु०॥
छाड़िअ भय घिण लोआचार।
चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर॥
आजदेवें सअल विहरिउ।
भय घिण दुर णिवारिउ॥ध्रु०॥"

४ लूइपाव (सिद्ध १७)—पहले राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)के लेखक (=कायस्थ) थे। एक समय जब महाराज धर्मपाल अपने राज्यके प्रदेश वारेन्द्रमें थे, तब सिद्ध शवरपाद भी विचरते हुए वहाँ जा निकले। शवरपाद राजाके महलमें भिक्षाके लिए गये। उसी समय ... हुई। वह बहुत ही प्रभावित हुए और विरक्त हो शवरपादके ... सख्यामें चौरासी सिद्धोमें इनका नाम प्रथम होना ही ... कितना प्रभाव रखते थे। इनके प्रधान शिष्योमें सिद्ध दारिकपा ... थे, जो दोनो ही पूर्वाश्रममें क्रमशः उडीसाके राजा और मन्त्री थे[1]। अपभ्रंशमें[2] बहुत-सी कविताएँ की थी। तन्-जूरमें इनके सात मिलते है, जिनमें निम्न पाँच अपभ्रंशमें थे—

१ स-स्क्य-द्कं-बुम्, ज, पृष्ठ २४२ख—२४५ख।

२ डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य इनकी कविताके विषयमें *"These songs written by a Bengali in the soil of ... may appropriately be called Bengali"* भोटिया-... या भंगल या भगल मिलता है, जिस नामसे कि, भोटिया लोग ... प्रदेशको पुकारते थे और जिसका चिन्ह भागलपुरके नाममें अब भी ...

अभिसमयविभंग (त० १३।१८)।
तत्त्वस्वभावदोहाकोष (त० ४८।२)।
बुद्धोदय (त० ४७।४१, ७३।६२)।
भगवदभिसमय (त० १२।८)।
लूइपाद-गीतिका (त० ४८।२७)।

राग पटमंजरी (१)

"काआ तरुवर पञ्च वि डाल
चञ्चल चीए पइठो काल
दिट करिअ महासुह परिमाण
लुइ भणइ गु पूच्छिअ जाण।।ध्रु०।।
सअल स(मा)हिअ काहि करिअइ
सुख दुखेतें निचित मरिआइ।।ध्रु०।।
एडिएउ छान्दक बान्ध करणक पाटेर आस
सुनु पाख भिति लाहु रे पास।।ध्रु०।।
भणइ लुइ आम्हे साणे दिठा
धमण-चमण वेणि पाण्डि वइण।।ध्रु०।।"

राग पटमञ्जरी (२९)

भाव न होइ अभाव ण जाइ,
आइस सबोहें को पतिआइ ।।ध्रु०।।
लूइ भणइ वट दुलक्ख विणाणा,
तिअ धाए विलसइ उह लागे णा ।।ध्रु०।।
जाहेर बान-चिन्ह, रुव ण जाणी,
सो कइसे आगम वेएँ वखाणी ।।ध्रु०।।
काहेरे किषभणि मइ दिबि पिरिच्छा,
उदक चान्द जिमि साच न मिच्छा ।।ध्रु०।।
लूइ भणइ भाइव कीस्,
जालइ अच्छमता हेर उह ण दिस्।।ध्रु०।।

५ भुसुकु (सिद्ध ४१)—नालन्दाके पासके प्रदेशमें, एक क्षत्रिय-वंशमें, पैदा हुए थे, भिक्षु बनकर नालन्दामें रहने लगे। उस समय नालन्दाके राजा (गौडेश्वर) देवपाल (ई० ८०९–८४९) थे। कहते हैं, भुसुकुका नाम शान्ति-देव भी था। इनकी विचित्र रहन-सहनको देखकर राजा देवपालने एक बार 'भूसुकु' कह दिया और तभीसे इनका नाम भूसुकु पड गया[1] शान्तिदेवके दर्शन-सम्बन्धी छ ग्रन्थ तन्-जूरमें मिलते हैं और तन्त्रपर तीन। भूसुकुके नामसे दो ग्रन्थ हैं, जिनमें एक "चक्रसंवरतन्त्र"की टीका है। इनकी "सहजगीति" (त० ४८।१) भोटिया-भाषामें मिलती है।

राग कामोद (२७)

"अधराति भर कमल विकसउ,
बतिस जोइणी तसु अंग उह् णसिउ ॥ध्रु०॥
चालिउअ षषहर मागे अवधूइ,
रअणहु षहजे कहेइ ॥ध्रु०॥
चालिअ षषहर गउ णिवाणें,
कमलिनि कमल वहइ पणालें, ॥ध्रु०॥
विरमानन्द विलक्षण सुध,
जो एथु बूझइ सो एथु बुध ॥ध्रु०॥
भूसुकु भणइ मइ बूझिअ मेलें,
सहजानन्द महासुह लोलें ॥ध्रु०॥

राग मल्लारी (४९)

"वाज णाव पाडी पँउआ खालें वाहिउ,
अदअवगालें[1] क्लेश लुडिउ ॥ध्रु०॥

---

१ डाक्टर भट्टाचार्यने लिखा है—"*The Pag—Sam-Jon-Zan it is said that Santideva was a native of Saurashtra, but I am inclined to think that he belonged to Bengal. It is evident from his song*" "आज भुसु वंगाली" (*ibid*) गीतमें वंगाली शब्द खास तान्त्रिक परिभाषाके अर्थमें व्यवहृत हुआ है; जैसा

आजि भूसु बंगाली भइली,
णिअ घरिणीं चण्डाली लेली ॥ध्रु०॥
डहि जो पञ्चघाट णइ दिवि सञ्ञा णठा,
ण जानमि चिअ मोर कहिँ गइ पइठा ॥ध्रु०॥
सोण तरुअ मोर किम्पि ण थाकिउ,
निअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥ध्रु०॥
चउकोडि भण्डार मोर लइआ सेस,
जीवन्ते मइले नाहि विशेष ॥ध्रु०॥"

६ वीणापा (सिद्ध १२)—गौडदेशमें[1] क्षत्रियवशमें इनका जन्म हुआ था। इनके गुरुका नाम भद्रपा (सि० २४) था। वीणा बजाकर यह अपने पदोको गाया करते थे, इसीलिये इनका नाम वीणापा पड गया। तन्-जूरमें इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—१ गुह्याभिषेक-प्रक्रिया (त० २१।५०)। २ महाभिषेकत्रिक्रम(त० २१।५१)। ३ वज्रडाकिनीनिष्पन्नक्रम (त० ४८।५३)।

इसमें तीसरा ग्रन्थ उसी वेठनमें है, जिसमें अपभ्रंशकी कविताओंके दूसरे अनुवाद हैं, इसलिए मालूम पडता है, यह भी उसीमें रहा है। "चर्यागीति"[2] में इनका एक गीत इस प्रकार है—

कि, डाक्टर भट्टाचार्यके पिता प्रात स्मरणीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने अपने इसी ग्रन्थकी भूमिका (पृष्ठ १२) में लिखा है—"सहज-मते तीनटि पथ आछे, अवधूती, चाण्डाली डोम्बी वा बंगाली। अवधूती ते द्वैतज्ञान थाके, चाण्डालीते द्वैतज्ञान आछे... बलिलेउ हय, किन्तु डोम्बीते केवल अद्वैत....एइ बार तुमि सत्य सत्यइ बंगाली हइले अर्थात् पूर्ण हइले।" और, यदि शब्दपर दौडना है, तब तो भूसुकु आज बंगाली हुए, मानो पहले न थे। फिर "भइली" शब्द बंगलामें कहाँ व्यवहृत होता है ? किन्तु वह काशीसे मगह तक आज भी बहुत प्रचलित है।

१ पालवंशीय राजा गौड़ेश्वर कहे जाते थे। उनकी राजधानी पटना जिलेका बिहारशरीफ स्थान थी। नालन्दाके पास होनेके कारण भोटिया-ग्रन्थोंमें अक्सर उन्हें नालन्दाका राजा भी कहा गया है।

२ "बौद्धगान ओ दोहा", पृष्ठ ३०

राग पटमञ्जरी (१७)

सुज लाउ ससि लागेलि तान्ती,
अणहा दाण्डो वाकि किअत अवधूती ॥ध्रु०॥
वाजइ अलो सहि हेरुअवीणा,
सुन तान्ति धनि विलसइ रुणा ॥ध्रु०॥
आलि कालि वेणि सारि सुणेआ,
गअवर समरस सान्धि गुणिआ ॥ध्रु०॥
जवे करहा करहक लेपि चिउ,
बतिश तान्ति धनि एसल विआपिउ ॥ध्रु०॥
नाचन्ति वाजिल गान्ति देवी,
बुद्ध नाटक विसमा होइ ॥ध्रु०॥"

७ विरूपा (सिद्ध ३)—महाराज देवपाल (८०९-४९ ई०) के देश "त्रिउर" (?) में इनका जन्म हुआ था। भिक्षु बनकर नालन्दा-विहारमें पढने लगे और वहाँके अच्छे पण्डितोमें हो गये। इन्होने देवीकोट और श्रीपर्वत आदि सिद्ध स्थानोकी यात्राकी। श्रीपर्वतमें इन्हे सिद्ध नागवोधि मिले। यह उनके शिष्य हो गये। पीछे नालन्दामें आकर जब इन्होने देखा कि, विहारमें मद्य, स्त्री आदि सहजचर्याके लिए अत्यावश्यक वस्तुओका व्यवहार नही किया जा सकता, तब वहाँसे गगाके घाटपर चले गये। वहाँसे फिर उडीसा गये। इनके शिष्योमें डोम्बिपा (सि० ४) और कण्हपा थे। यमारितन्त्रके यह ऋषि थे। तन्-जूरमें इनके तन्त्र-सम्बन्धी अठारह ग्रन्थ मिलते है, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—अमृतसिद्धि (त० ४७।२७)। दोहकोष (त० ४७।२४)। दोहाकोषगीति-कर्मचण्डालिका (त० ४८।४)। मार्गफलान्वितावादक (त० ४७।२५)। विरूपगीतिका (त० ४८।२९)। विरूपवज्रगीतिका (त० ४८।१६)। विरूपपदचतुरशीति (त० ४७।२३)। सुनिष्प्रपञ्चतत्त्वोपदेश (त० ४३।१००)।

राग गवड़ा (३)

"एक से शुण्डिनि दुइ घरे सान्धअ,
चीअण वाकलअ वारुणी बान्धअ ॥ध्रु०॥

सहजे थिर करी वारुणी सान्धे,
जें अजरामर होइ दिट कान्ध॥ध्रु०॥
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ,
आइल गराहक अपणे वहिआ ॥ध्रु०॥
चउशठी घड़िये देट पसारा,
पइठेल गराहक नाहि निसारा॥ध्रु०॥
एक स डुली सरुइ नाल,
भणन्ति विरुआ थिर करि चाल" ॥ध्रु०॥

८ दारिकपा (सि० ७७)—यह "ओडिसा"के[1] राजा थे। जब सिद्ध लूइपा उडीसा गये, तब यह और इनके ब्राह्मण मन्त्री, जिनका नाम पीछे डेंगीपा (डेंकीपा) पडा, राज्य छोडकर उनके शिष्य बन गये। गुरुने आज्ञा दी कि, सिद्धि-प्राप्तिके लिये तुम काचीपुरीमें जाकर दारिका (=वेश्या)की सेवा करो। कई वर्षों तक यह उसकी सेवा करते रहे, इसीसे सिद्ध होनेपर इनका नाम दारिकपा पड गया। सहज-योगिनी चिन्ता इनकी शिष्या थी, और, प्रसिद्ध सिद्ध वज्रघण्टापाद (५२) या घटापा इनके प्रधान शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते है, जिनमेंसे निम्न प्राचीन अपभ्रशके मालूम होते हैं—१ ओड्डियान-विनिर्गत-महागुह्यतत्त्वोपदेश (त० ४६।६)। २ तथतादृष्टि (त० ४८।४८)। ३ सप्तमसिद्धान्त (त० ४६।४६)।

राग बराडा (३४)

"सुनकरुणरि अभिन वारें काअ-वाक्-चिअ,
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें ॥ध्रु०॥
अलक्ष-लख-चित्ता महासुहे,
विलसइ दारिक० ॥ध्रु०॥
किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे क्षाण बखाने,
अपइ ठानमहासुहलीणे दुलख परम निवाणें ॥ध्रु०॥

---

१ स-स्क्य-क्बं-बुम्, ज, पृष्ठ २४४ख से २४५ ख०। डा० विनयतोष भट्टाचार्यने लिखा है—"*Luipa belonged to an earlier age*

दुखें सुखें एकु करिआ भुञ्जइ इन्दीजानी,
स्वपरापर न चेवइ दारिक सअलानुत्तर माणी ॥ध्रु०॥
राआ राआ राआरे अवर राअ मोहेरा बाधा,
लुइ-पाअ-पए दारिक द्वादशभुअणें लधा" ॥ध्रु०॥

९. डोम्भिपा (सिद्ध ४)—मगधदेशमें क्षत्रिय-वंशमें पैदा हुए। वीणपा और विरूपा, दोनो ही इनके गुरु थे। लामा तारानाथने लिखा है कि, यह विरूपाके दस वर्ष बाद तथा वज्रघंटापाके दस वर्ष पूर्व सिद्ध हुए। यह हेवज्र-तन्त्रके अनुयायी थे। सिद्ध कण्हपा (१७) इनके भी शिष्य थे। तन्-जूरमें २१ ग्रन्थ डोम्भिपादके नामसे मिलते हैं, किन्तु पीछे भी एक डोम्भिपा हुए हैं, इसलिए कौन ग्रन्थ किसका है, यह कहना कठिन है। इनके निम्न ग्रन्थ अपभ्रंशमें थे—अक्षरद्विकोपदेश (त० ४८।६४)। डोम्बिगीतिका (त० ४८।२८)। नाडीबिन्दुद्वारे योगचर्या (त० ४८।६३)।

राग देशाख (१०)

"नगर बाहिरिरे डोम्बि तोहोरि कुडिया,
छइछोइ याइ सो ब्राह्म नाडिआ॥ध्रु०॥
आलो डोम्बि तोए सम करिबे म साग,
निघिण काह्ण कापलि जोइ लाग ॥ध्रु०॥
एकसो पदमा चौषट्ठी,
तहिं चडि नाचअ डोम्बी बापुड़ी॥ध्रु०॥
हालो डोम्बि तो पुछमि सदभावे,
अइससि जासि डोम्बि काहरि नावें॥ध्रु०॥

---

and as such any close connection between the two is hardly admissible. Lui was reputed to be the first Siddhacharya, and that may be the reason why Darikapa reverentially mentions his name" लेकिन तिब्बतके सभी ग्रन्थ एक मतसे दारिकपाको लुइपाका शिष्य कहते हैं। चौरासी सिद्धोंकी सूचीमें सख्याक्रम काल-क्रमसे नहीं है, यह अलग दिये वंश-वृक्ष और नाम-सूचीसे स्पष्ट हो जायगा।

राग निवेद, ताल माठ, (७६)[1]

"अखय निरंजन अद्वंय अनु
पद्म गगन कमरजे साधना,
शून्यता विरासित राय श्री चिय,
देव पान-विन्दु समय जो दिता ॥ध्रु०॥
नमामि निरालम्ब निरक्षर,
स्वभाव हेतु स्फुरन सप्रापिता,
सरद-चन्द्रसमय तेज प्रकासित
जरज-चन्द्र समय व्यापिता ॥ध्रु०॥
खडग योगाम्बर सादिरे चक्रवर्ति
मेरुमडल भमलिता,
निर्म्मल हृदयारे चक्रवर्ति ध्याविते
अहितिसिक्षजत्र मय साधना ॥ध्रु०॥
आनद परमानद बिरमा
चतुरानंद जे सभवा,
परमा विरमा मांझे रे न छादिरे,
महासुख सुगत संप्रद प्रापिता ॥ध्रु०॥
हे वज्रकार चक्र श्रीचक्रसंवर,
अनन्त कोटि सिद्ध पारगता,
श्री हतवदियाने पूर्ण गिरि,
जालन्धरि प्रभु महा सुख-जातहुँ ॥ध्रु०॥

१२. कुक्कुरिपा (सिद्ध ३४)—कपिल (वस्तु) वाले देशमें एक ब्राह्मण-कुलमें इनका जन्म हुआ था। मीनपा(८)के गुरु चर्पटीपा इनके भी गुरु थे। इनकी शिष्या मणिभद्रा चौरासी सिद्धोंमेंसे एक (६५) है। पद्मवज्र भी इनके ही शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके १६ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्नलिखित हिन्दीके

---

१ मैंने यह पाठ नेपालके बौद्धोंमें आज भी प्रचलित चर्यागीति (चचो) पुस्तकसे लिया है। भाषा बिल्कुल ही बिगडी हुई है।

मालूम होते हैं—तत्व-सुख-भावनानुसारियोगभावनोपदेश (त० ४८।६५)। स्रवपरिच्छेदन (त० ४८।६६)।

राग गवड़ा (२)

"दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ,
रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥
आगन घरपण सुन भो विआती,
कानेट चौरि निल अधराती ॥ध्रु०॥
ससुरा निद गेल बहुडी जागअ,
कानेट चोरे निल का गइ मागअ॥ध्रु०॥
दिवसइ बहुड़ी काड़इ डरे भाअ,
राति भइले कामरु जाअ॥ध्रु०॥
अइसन चर्या कुक्करी-पाएँ गाइउ,
कोड़ि मज्झें एकुडि अहिँ सनाइड़॥ध्रु०॥

राग पटमञ्जरी (२०)

"हांउ निवासी खमण भतारे,
मोहोर विगोआ कहण न जाइ॥ध्रु०॥
फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि,
जा एयु वाहाम सो एयु नाहि ॥ध्रु०॥
पहिल विआण मोर वासन पूड,
नाड़ि विआरन्ते सेव वापूड़ा॥ध्रु०॥
जाण जौवण मोर भइलेसि पूरा,
मूल नखलि वाप संघारा॥ध्रु०॥
भणथि कुक्कुरीपाए भव थिरा,
जो एयु बुझएँ सो एयु वीरा॥ध्रु०॥"
"हले सहि विअ सिअ अमल पवाहिउ वज्जें।
अलललल हो महासुहेण आरोहिउ नृत्ये।

१ कान्हपाद-गीतिका (त० ४८।१७)।

२ महाढुण्ढन-मूल (त० ८५।३०)।

३ वसन्ततिलक (त० १२।३०)।

४ असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।४७)।

५ वज्रगीति (त० ४७।३३)।

६ दोहाकोष[1] (त० ४७।४४)।

"बौद्धगान ओ दोहा"में इनका दोहाकोष संस्कृतटीका-सहित छपा है, जिसमें बत्तीस दोहे हैं। इनके दोहोंका नमूना देखिये—

"आगम-बेअ-पुराणे, पण्डित मान वहन्ति।
पक्क सिरिफल अलिअ जिम, वाहेरित भ्रमयन्ति॥२॥"

"अह ण गमइ उह ण जाइ,
वेणि-रहिअ तसु निच्चल पाइ।
भणइ कह्ण मन कहबि न फुट्टइ,
निच्चल पवन घरिणि घर वत्तइ"॥१३॥

"एक्क ण किज्जइ मन्त ण तन्त,
णिअ घरणि लइ केलि करन्त।
णिअघर घरिणी जाव ण मज्जइ,
ताव कि पंचवर्ण विहरिज्जइ॥२८॥"

"जिमि लोण विलिज्जई पाणिएहि,
तिम घरणी लइ चित्त।
सम-रस जइ तक्खणे,
जइ पुणु ते सम णित्त॥३२॥"

इनकी वज्रगीतिकाका नमूना देखिये—

'कोल्लअ[2] रे ठिअ बोल्ल, मुम्मुणि रे कक्कोल॥
घन किपीटह वज्जइ, करुणे किअइ णरोला।

---

१ तन्-जूर (त० २.११०); स-स्क्यं क्क-बुम्, पृ० ३६८ ख; फ १२८ क।

२ आजकल नेपालमें व्यवहृत चर्यागीत (च-चो)का पाठ इस प्रकार है—

तहि पल खज्जइ, गाढ़ें मअ णा पिज्जइ।
हले कलिञ्जर पणिअइ, दुन्दुर वज्जिअइ।
चउसम कत्थुरि सिल्हा, कप्पुर लाइअइ।
मालइ घाण-सालि अइ, तहि भलु खाइअइ।
पेंखण खेट करन्त, शुद्धाशुद्ध ण भणिअइ।
निरंशु अंग चडावि अइ, तहि जस राव पणिअइ।"
मलअजे कुन्दुरु, वापइ, डिण्डिम तहिम वञ्जि अइ॥

कण्हपाके कुछ गीत देखिये—

राग पट मञ्जरी (११)

"नाड़ि शक्ति दिट धरिअ खट्टे,
अनहा डम वाजए वीरनादे॥
काह्‌ण कापाली योगी पइठ अचारे,
देह नअरी विहरए एकारें॥ध्रु०॥
आलि कालि घण्टा नेउर चरणे,
रवि-शशी-कुण्डल किउ आभरणे॥ध्रु०॥
राग-देश-मोह लाइअ छार,
परम मोख लवए मुत्तिहार॥ध्रु०॥

"कोलायि रे थिय वोला, मुमुनिरे कंकोला।
घनकिया र्षी होयि वज्रपि, करुणे कियायि न लोरा॥ध्रु०॥
मलयजकुंदुरु वजायिले डिंडिम तहि ना वाजयि।
तहि भरु खाज गाघ्या मय ना पीवयिर्यायि॥
हले कालिजर पंनर्यायि दुंदुरु वजर्यायि।
चवु तम कस्तुरि सिल्हा, कर्पुर लावनर्यायि॥
गल या जइ घनसोलिजरे, तहि भ खाज न यायी।
प्रेषु ह क्षेत्र करते सोघा सुद्ध न मूनयि।
निलसुह अग चवावयि, तरि जस रा पनयायी"॥१६॥

मारिअ शासु नणन्द घरे शाली,
माअ मारिआ काह्ण भइअ कवाली ॥ध्रु०॥

राग पट मञ्जरी (३६)

"सुण वाह तथता पहारी,
मोहभण्डार लुइ समला अहारी ॥ध्रु०॥
घुमइ ण चेवइ सपरविभागा,
सहज निदालु काह्णिला लागा ॥ध्रु०॥
चेअण ण वेअन भर निद गेला,
सअल सुफल करि सुहे सुतेला ॥ध्रु०॥
स्वपणे मइ देखिल तिभुवण सुण,
घोरिअ अवणा गमण विहूल ॥ध्रु०॥
शाखि करिव जालन्धरि पात्र,
पाखि ण राहअ मोरि पाण्डिआ चादे ॥ध्रु०॥"

१६. तन्तिपा (सिद्ध १३)—मालव-देशके अवन्तिनगर (उज्जैन) में कोरी (तन्तुवाय, तँतवा) के घर इनका जन्म हुआ था। घरमें रहते ही इनका मन सिद्धचर्याकी ओर लगा। जालन्धरपादका दर्शन कर उनके शिष्य हो गये। पीछे कण्हपासे भी उपदेश लिया। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "चतुर्योग-भावना" (त० ४८।५४) मिलता है, जो अपभ्रशमें लिखा गया था। इनकी कोई कविता मूल भाषामें नही मिलती, किन्तु यदि 'चर्यागीति" के ढेण्ढनपाद" को तन्तिपाद मान लिया जाय, क्योकि इस नाम का कोई सिद्धाचार्य नही है-तो यह गीत उनका हो सकता है।

राग पटमञ्जरी (३३)

"टालत मोर घर नाहि पडवेषी।
हाडीत भात नाँहि निति आवेशी ॥ध्रु०॥
वेंगससार वडहिल जाअ,
दुहिल दुधु कि वेण्टे षामाय ॥
वलद विआएल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे ॥

जो सो बुधी सो धनि बुधी।
जो षो चोर सोइ साधी॥
निते निते षिआला षिहे षम जुझअ,
ढेण्ढण पाएर गीत बिरले वूझ अ॥"

१७. मही (महिल) पा (सिद्ध ३७)—मगध-देशमें शूद्रकुलमें, इनका जन्म हुआ था। गृहस्थ होते भी इन्हे सत्सगकी वडी चाह थी। पीछे कण्हपाके शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "वायुतत्त्वदोहा—गीतिका" (त० ८४।१०) मिलता है, जो पुरानी मगही में था। "चर्यागीति" में महीधरपादका एक गीत मिलता है, (यह महीपा और महीधरपाद एक ही मालूम होते है)।

राग भैरवी (१६)

"तिनि एँ पाटें लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ,
ता सुनि मार भयकर रे सअ मण्डल सएल भाजइ॥ध्रु०॥
मातेल चीअ-गअन्दा धावइ।
निरन्तर गअणन्त तुसें घोलइ॥ध्रु०॥
पाप पुण्य वेणि तिडिअ सिकल मोडिअ खम्भाठाणा,
गअण टाकलि लागिरे चित्ता पइठ णिवाना॥ध्रु०॥
महारस पाने मातेल रे तिहुअन सएल उएखी,
पञ्च विषय रे नायकरे विपख को वी न देखी॥ध्रु०॥
खररविकिरणसन्तापेरे गअणागण गइ पइठा,
भणन्ति महित्ता मइ एथु वुड़न्ते किम्पि न दिठा॥ध्रु०॥"

१८ भादेपा (सिद्ध ३२)—श्रावस्तीमें[1] चित्रकार (ल्ह-ब्रिस्=देव-लेखक)-कुलमें इनका जन्म हुआ था। पीछे सिद्ध कण्हपाके शिष्य हुए। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नही मिलता, किन्तु "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (३५)

"एतकाल हांउ अच्छिलें स्वमोहें।
एवें मइ बुझिल सदगुरुवोहे॥ध्रु०॥

---

१ सहेट-महेट (जि० गोंडा, उत्तरप्रदेश)।

एवें चिअराअ मकुं णठा ।
गण समुदे टलिआ पइठा ॥ध्रु०॥
पेखमि दहदिह सव्वंइ शून।
चिअ विहुने पाप न पुण्ण ॥ध्रु०॥
वाजुले दिल मोहकखु भणिआ,
मइ अहारिल गअणत पणियाँ ॥ध्रु०॥
भादे भणइ अभागे लइआ।
चिअराअ मइ अहार कएला" ॥ध्रु०॥

१९. ककणपाद (सिद्ध२९)—विष्णुनगर (?विहार) राजवशमें इनका जन्म हुआ था। कवलपादके परिवारके सिद्ध थे। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "चर्यादोहाकोषगीतिका" (त० ४८।७) मिलता है। "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (४४)

"सुने सुन मिलिआ जवें,
सअलधाम उइआ तवे ॥ध्रु०॥
आच्छु हुँ चउखण सबोही,
माझ निरोह अणुअर बोही ॥ध्रु०॥
विंदु-णाद णहिं ए पइठा,
अण चाहन्ते आण विणठा ॥ध्रु०॥
जथाँ आइलेंसि तथा जान,
मासं, थाकी सअल विहाण ॥ध्रु०॥
भणई ककण कलएल सादें,
सव्वं विच्छरिल तथतानादें ॥ध्रु०॥

२० जयानन्त (जयनन्दी) पाद (सिद्ध ५८)—भगल (भागलपुर) देशके राजाके मन्त्री थे। जन्म ब्राह्मण-वशमें हुआ था। तन्-जूरमें जया-नन्तके "तर्कमुद्गर-कारिका" (ल० २४।६) और "मध्यमकावतारटीका" (ल० २५) दो ग्रन्थ मिलते है, किन्तु यह कश्मीरी जयानन्त थे। इनके-गुरु-शिष्य के सम्वन्ध-में भी नही मालूम हुआ है। "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है—

राग शवरी (४६)

"पेखु सुअणे अदश जइसा,
अन्तराले मोह तइसा ॥ध्रु०॥
मोह-विमुक्का[1] जइ माणा,
तवें तूटइ अवणा-गमणा ॥ध्रु०॥
नौ दाटइ नौ तिमइ न च्छिजइ,
पेख मोअ मोहे वलि बलि वाझइ ॥ध्रु०॥
छाअ माआ काअ समाणा,
वेणि पाखें सोइ विणा ॥ध्रु०॥
चिअ तथतास्वभावे षोहिअ,
भणइ जअनन्दि फुडअण ण होइ ॥ध्रु०॥"

२१. तिलोपा (सिद्ध २२)—भगुनगर (?विहार) में इनका जन्म हुआ था। "स-स्क्य-क्क-वुम्" (ज, २४५ क) में इनको राजवशिक कहा गया है। भिक्षु-नाम प्रज्ञाभद्र था, किन्तु सिद्धचर्यामें यह तिल कूटा करते थे, इसीलिए नाम तिलोपा पड गया। गुह्यपाके शिष्य और कण्हपाके प्रशिष्य विजयपाद (या अन्तरपाद) इनके गुरु थे। विक्रमशिलाके महापण्डित और सिद्धाचार्य नारोपा इनके प्रमुख शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते है, जिनमें निम्न अपभ्रश थे—१ अन्तर्वाह्यविपय-निवृत्तिभावनाक्रम (त० ४८।८८)। २ करुणाभावनाधिष्ठान (त० ४८।५९) ३ दोहाकोप (त० ४७।२२)। ४ महामुद्रोपदेश (त० ४७।२६)। "चर्यागीति" (पृष्ठ ६२) की टीका में इनका निम्नलिखित दोहा उद्धृत हुआ है, जो सभवत इनके दोहाकोप का है—

"ससवेअन तत्तफल, तिलोपाए भणन्ति।
जो मण गोअर गोइया, सो परमर्थे न होन्ति॥"

२२ नाड (नारो) पा (सिद्ध २०)—इनके पिता कश्मीरी ब्राह्मण थे और किसी कामसे मगधमें प्रवास करते थे। वही नाडपादका जन्म हुआ। भिक्षु होकर नालन्दामें पढने लगे। असाधारण मेधावी होने से, सभी विद्याओं-में पारगत हो, महाविद्वान् हो गये। पीछे विक्रमशिला-विहारमें पूर्व द्वारके महापण्डित बनाये गये। इतना होनेपर भी **यह पण्डिताईसे** न थे।

अन्तमें सिद्ध तिलोपाके विष्णुनगरमें आनकी खबर पाकर वहाँ गये और उनसे दीक्षा ली। शान्तिपाद (सि० १२) दीपकर श्रीज्ञान आदिके यह गुरु थे। भोटका मर-वा[1] लोचवा भी इन्हीका शिष्य था। नारोपाका देहान्त १०३९ ई० में हुआ था। तन्-जूरमें इनके तेईस ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न अपभ्रंश थे—१ नाडपण्डितगीतिका (त० ४८।२६)। २ वज्रगीति (त० ४७।३०, ३१)। नाडपादके नामकी कोई मूल गीति नही मिलती तो भी "चर्या-गीति" में ताडकपादकी एक गीति मिलती है। यह ताडकपाद नाडकपाद ही मालूम होते हैं। नामका सादृश्य भी है और ताडक नामका कोई सिद्धाचार्य नही देखा जाता। गीतिका नमूना देखिये।

राग कामोद (३७)

"अपणे नाँहि सो काहेरि शका,
ता महामुदेरी गेलि कथा॥ध्रु०॥
अनुभव सहज मा भोलरे जोई,
चोकोट्टि विमुका जइसो तइसो होइ॥ध्रु०॥
जइसने अछिले स तइछन अच्छ।
सहज पियक जोइ भान्ति माहो वास॥ध्रु०॥
वाण्डकुरु सन्तारे जाणो।
वाक्पथातीत काँहि बखानो॥ध्रु०॥
भणइ ताड़क एथु नाहिं अवकाश।
जो बुझइ ता गले गलपास॥ध्रु०॥

२३ शान्तिपा (रत्नाकरशान्ति) (सिद्ध १२)—मगधके एक शहर में, ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था। पीछे उडन्तपुरी (बिहार-शरीफ) के विहारमें सर्वास्तिवाद-सम्प्रदायमें प्रव्रजित हुए। श्रावक (हीनयान) त्रिपिटक तथा अन्यान्य ग्रन्थोको समाप्त कर, विक्रम-शिलामें महापण्डित जितारिके पास

---

१ तिब्बतके सर्वोत्तम कवि और सिद्ध जे-चुन् मि-ला रे-पा (दीक्षा १०७६ ई०; सिद्धिप्राप्ति १०९२ ई०, मृत्यु ११२२ ई०;) के यह गुरु थे, जिनको आज भी तिब्बतका बच्चा-बच्चा जानता है।

चले गये। वही सिद्ध नाडपादके भी सत्सगमें आये। विद्या समाप्त कर कुछ दिन सोमपुरी-विहारके स्थविर (महन्त) रहे। फिर मालवा चले गये और उधर ही सात वर्षों तक योगाभ्यासमें रहे। जिस वक्त यह लौटकर भंगल देश-में, विक्रम-शिला पहुँचे, उस समय सिहल राजदूतने अपने राजाका आग्रह-पूर्वक निमत्रण इनके सामने रखा। स्वीकृति कर यह सिहलकी ओर चल पड़े। रामेश्वरके पास इन्हें एक साथी मिला, जो पीछे सिद्ध होकर कुठालिपा (सि० ४४) के नामसे प्रसिद्ध हुआ। सिहलमें जाकर इन्होने ६ वर्ष धर्म-प्रचार किया। लौटकर घूमते-घामते जब विक्रम-शिला पहुँचे, तब महाराज महीपाल (९७४–१०२६) की प्रार्थना स्वीकार कर पूर्वद्वारके पण्डित बने। सिद्धोमें ऐसा जबरदस्त पण्डित कोई नही हुआ। इन्हे "कलिकाल-सर्वज्ञ" भी कहा गया है। १०० वर्षसे अधिककी आयुमें इन्होने शरीर छोडा। तन्-जूरमें दर्शन-विषय पर इनके नौ से अधिक ग्रन्थ हैं। इन्होने छन्द शास्त्र पर "छन्दोरत्नाकर" ग्रन्थ लिखा है। तन्त्र पर इनके २३ ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें सुख-दुःख द्वयपरित्यागदृष्टि (४८।३७) अपभ्रशमें था। "चर्यागीति"में इनके निम्न दो गीत मिलते हैं।—

राग रामक्री (१५)

"सअ सम्वेअण सरुअ विआरें,
ते अलक्खलक्खण न जाइ।
जे जे उजूवाटे गेला अनावाटा भइला सोई ॥ध्रु०॥
कुलें कुल मा होइरे मूढा उजूवाटे ससारा,
बाल भिण एकु वाकु ण भूलह राजपथ कण्टारा ॥ध्रु०॥
माआमोहासमुदारे अन्त न बुझसि थाहा,
अगे नाव न भेला दीअस भन्ति न पुच्छसि नाहा ॥ध्रु०॥
सुनापान्तर उह न दिसइ भान्ति न वाससि जान्ते।
एषा अट महासिद्धि सिज्झए उजूवाट जाअन्ते ॥ध्रु०॥
वाम दाहिण दो वाटा च्छाडी,
शान्ति बुलथेउ सकेलिउ।

घाटनगुमाखडतड़ि नो होइ,
आखि बुजिअ बाट जाइउ ॥ध्रु०॥"

राग शीवरी (२६)

"तुला घुणि घुणि आंसुरे आंसु,
आंसु घुणि घुणि णिरवर सेसु ॥ध्रु०॥
तउषे हेरुअ ण पाविअइ,
सान्ति भणइ किण समावि अइ ॥ध्रु०॥
तुला घुणि घुणि सुने अहारिउ,
पुन लइआं अपना चटारिउ ॥ध्रु०॥
वहल बट दुइ मार न दिशअ,
शान्ति भणइ वालाग न पइसअ ॥ध्रु०॥
काज न कारण जएहु जअति,
सँएँ सँवेअण बोलथि सान्ति ॥ध्रु०॥"

भोटिया-ग्रन्थ-सग्रह तन्-जूरमें और भी वहुतसे भाषाकाव्यग्रन्थ अनुवादित हैं, जिनमें कुछको छोडकर सभी अपभ्रंशके हैं। इनमें कुछ ग्रन्थोंके अब भी दो देशोंसे मिलानेकी आशा है। एक तो नेपालसे, जहाँसे कि, महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्रीको बौद्ध-गान और दोहे मिले थे, और, दूसरे भोट (तिव्बत) से। सिद्धोंकी कितनी ही कविताएँ भोटके स-स्क्य-मठमें अनुवादित हुई थी। यह मठ अवतक सुरक्षित है और आज भी इसके पुस्तकागारमें तालपत्रकी पुस्तकें राजकीय मुहरके अन्दर बन्द हैं। हो सकता है कि, किसी समय इस कोषके खुलने पर कुछ ग्रन्थ मिल सकें। भोटमें और भी जहाँ-तहाँ कभी-कभी कोई-कोई पुराने भारतीय ग्रन्थ मिल जाते हैं। लेखक जिस समय तिव्वतमें था, उस समय टशील्हुन्पोमें शलुके लामाने भारतीय लामा जान कर एक ताल-पोथी प्रदानकी थी। पुस्तकका नाम "वज्रडाकतन्त्र" है और इसका अनुवाद भोटिया-कजूरमें वैशाली (वसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर) के कायस्थ पण्डित गयाधरने, ग्यारहवी शताब्दीके मध्यमें, किया था। कई कारणो से मालूम होता है कि, यह अनुवादकी मूल प्रति है।

यहाँ तन्-जूरमें अनुवादित कुछ अपभ्रंश काव्यो और उनके कर्ताओकी सूची दी जाती है

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें[1]
२४ अचिन्त	तीर्थिका चण्डालिका	त० ४८।६७
२५. अज्ञात कवि	गीतिका	त० ४८।२०, २३, २४
	डाकिनीतनुगीति	त० ४८।१११
	योगिनीप्रसरगीतिका	त० ४८।३२
	वज्रगीति	त० ४७।३२
	,,	त० ८५।२०
	,, सिद्धयोगि-	त० ४८।१०९
२६ [2]अद्वयवज्र (मैत्रीपा)	अवोध-वोधक	त० ४७।३९
	गुरुमैत्रीगीतिका	त० ४८।१३
	चतुर्मुद्रोपदेश	त० ४७।३७
	चित्तमात्रदृष्टि	त० ४८।४५
	दोहानिधितत्त्वोपोदेश	त० ४६।३३
	वज्रगीतिका। चतुर्-	त० ४८।१२
२७. अयो (अजो) गिपा (सिद्ध २६)[3]	चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान	त० ४८।६१
	वायुस्थान-रोग-परीक्षण	त० ४८।८१
	विपनिर्वहण-भावनाक्रम	त० ४८।९५

---

१ यह पता Cordier के सूचीपत्रकी दूसरी-तीसरी जिल्दोंके तन्त्र-टीका-विभागका है।

२ इनका नाम अवधूतीपा भी है, यह दीपंकर श्रीज्ञान (जन्म ई० ९८२-१०५४ मृ०)के गुरु थे।

३ तिब्बती ग्रन्थोमें अनुवाद-ग्रन्थकी मूल भाषाके लिए सिर्फ भारतीय भाषा, लिखा रहता है, संस्कृत और भाषाका फर्क नहीं दिया जाता। दोहा, गीति, दृष्टिशब्दवाले नाम तो भाषा-ग्रन्थोंके है; किन्तु यहां उन ग्रन्थोको भी भाषामें गिना गया है, जो कि, भाषा-ग्रन्थोंके वेष्टन (४८, ४७)में है या सिद्धोंसे सम्बन्ध रखते है।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
२८ इ इ म्तिपा (सि० ४२)	तत्त्वाष्टक-दृष्टि	त० ४८।४२
२९ ककालमेखला (सि० ६६।६७	सनातनावर्तत्रयमुखागम	त० ४८।८९
३० ककालिपाद (सि० ७)	सहजानन्तस्वभाव	त० ४८।९०
३१ कमरिया (सि० ४५)	सोमसूर्यवन्धनोपाय	त० ४८।७१
३२ किलपाद (सि० ७३)	दोहाचर्यागीतिकादृष्टि	त० ४८।३५
३३ कुद्दालिपाद (सि० ४४)	अचिन्त्यक्रमोपदेश	त० ४६।१३
	चित्ततत्त्वोपदेश	त० ४८।८२
	सर्वदेवतानिष्पन्नक्रममार्ग	त० ४८।७०
३४ कुरुकुल्ला (?)	महामुद्राभिगीति	त० ४८।९९
३५ केरलिपा	तत्त्वसिद्धि	त० ४७।३, ८५।१५
३६ कोकलिपा (सि० ८०)	आयु परीक्षा	त० ४८।९४
३७ गयाधर (कायस्थ पण्डित)	ज्ञानोदयोपदेश	त० १३।६५
३८ गोरक्षपा (सि० ९)	वायुतत्त्वभावनोपदेश	त० ४८।५१
३९ घटापा (सि० ५२)	आलिकालिमन्त्रज्ञान	त० ४८।७८
४० चमरिया (सि० १४)	प्रज्ञोपायविनिश्चयसमुदय	त० ४८।५५
४१ चम्पकपा (सि० ६०)	आत्मपरिज्ञानदृष्ट्युपदेश	त० ४८।८६
४२ चर्पटीपा (सि० ५९)	चतुर्भूतभवाभिवासनाक्रम	त० ४८।८५
४३ चेलुकपाद (सि० ५४)	षडङ्गयोगोपदेश	त० ४।२१
४४ चोरगीपा (सि० १०)	वायुतत्त्वभावनोपदेश	त० ४८।५२
४५ छत्रपा (सि० २३)	शून्यताकरुणादृष्टि	त० ४८।४०
४६ जगन्मित्रानन्द (मित्रयोगी)[1]	पदरत्नमाला	त० ८४।९
	वन्धविमुक्त्युपदेश	त० ४८।१२६
	योगिस्वचित्तग्रन्थि विमोचकोपदेश	त० ४८।१२८

१ गहडवार महाराज जयचन्द्रके गुरु थे। देखिये "मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध"।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें	
४७ थगनपा (सि० १९)	दोहाकोषतत्त्व-गीतिका	त०	४८।६
४८ दीपकर श्रीज्ञान[1]	चर्यागीत	त०	१३।४४
	धर्मगीतिका	त०	४८।३४
	धर्मधातुदर्शनगीति	त०	४७।४७
	वज्रासनवज्रगीति	त०	१३।४७
४९ दृष्टिज्ञान (?)	गीतिका	त०	४८।१९
	वज्रगीतिका	त०	४८।१८
५० दोखधिपा (सि० २५)	चतुरक्षरोपदेश	त०	८२।१७
	महायानावतार	त०	४८।६०
५१ धर्मपा (सि० ३६)	कालिभावनामार्ग	त०	४८।७९
	सुगतदृष्टिगीतिका	त०	४८।९
	हुंकारचिन्तविन्दुभावनाक्रम	त०	४८।७४
५२ धहुलि(—दउडि) पा [सि० ४०]	शोकदृष्टि	त०	४८।४४
५३ धंतन	चित्तरत्नदृष्टि।	त०	४८।४१
५४ धोकरिपा (सि० ४९)	प्रकृति-सिद्धि	त०	४८।७५
५५ नलिनपाद (सि० ४०)	धातुवाद	त०	४८।६८
५६ नागबोधि (सि० ७६)	आदियोगभावना	त०	४८।९१
५७ नागार्जुन (सि० १६)	नागार्जुनगीतिका	त०	४८।३३
	स्वसिष्युपदेश	त०	४८।५६
५८ निर्गुणपा (सि० ५७)	शरीरनाडिका-विन्दुसमता	त०	४८।४

१ वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर)के रहनेवाले तथा अवधूतिपाके शिष्य थे। दीपंकरके कालमें यह भी भोट गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका भोटिया-भाषामें अनुवाद कर कई वर्षों बाद तीन सौ तोला सोनेकी विदाईके साथ भारत लौटे थे।

	कविनाम	ग्रन्थनाम		तन्-ज़ूर्में
५९	निष्कलकवज्र	वन्धविमुक्तिशास्त्र[1]	त०	४८।१२३
६०	नीलकण्ठ	अद्वयनाडिकाभावनाक्रम	त०	४८।९६
६१	पकज (सि० ५१)	अनुत्तरसर्वशुद्धिक्रम	त०	४८।७७
		स्थानमार्गफलमहामुद्राभावना	त०	४८।६९
६२	पनहपा (सि० ७९)	चर्यादृष्टअनुत्पन्नतत्त्वभावना	त०	४८।९६
६३	परमस्वामी (नृसिंह)[2]	दोहाचित्तगुह्य	त०	४८।७३
		महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश	त०	४८।१०५
		वज्रडाकिनीगीति	त०	४८।१०
		सकलसिद्धवज्रगीति	त०	४८।११३
६४	पुतलीपा (सि० ७८)	वोधिचित्तवायुचरणभावनोपप्य	त०	४८।९२
६५	महासुखतावज्र (शान्तिगुप्त)	महासुखतागीतिका[3]	त०	४८।३१
		योगगीता	त०	८६।८९
६६	मेकोपा (सि० ४३)	चित्तचैतन्यशमनोपाय	त०	४८।६९
६७	मेदिनीपा (सि० ५०)	सहजाम्नाय	त०	४८।७६
६८	राहुलभद्र (सि० ४७)	अचिन्त्यपरिभावना	त०	४८।७३
६९	ललित (वज्र)	महामुद्रारत्नगीति	त०	४८।११२

---

१ भारतीय ग्रन्थोंका भोटिया-अनुवाद पण्डित और लोचवा (= भोटिया दुभाषिया) मिलकर किया करते थे। इस ग्रन्थके अनुवादमेंमें जगन्मित्रानन्द पण्डित थे।

२ यह भारतीय सिद्ध पण्डित थे। १०९१ ई० में भोट, ११०० ई० में चीन, १११२ ई० में अन्तिम वार भोटमें गये। भोटियामें इन्हें फादम्-पा (= सत्पिता) भी कहते हैं। इनका देहान्त १११७ ई० में हुआ।

३ इसका अनुवाद गुजरातके पण्डित पूर्णवज्र और लामा तारानाथने मिलकर किया। ग्रन्थकर्ता शान्तिगुप्त हुमायूं और अकवरके समकालीन थे। इनका जन्म दक्षिण-देशके जलमण्डल (?) देशमें हुआ था।—"रत्नाकरजोपमकथा"।

	कविनाम	ग्रन्थनाम		तन्-जूरमें
७०	लीलावज्र (सि० २)	विकल्पपरिहारगीति	त०	४८।३
७१	लुचिकपा (सि० ५६)	चण्डालिकाविन्दुप्रस्फुरण	त०	४८।८३
७२	वज्रपाणि,	वज्रपद	त०	४६।४१
७३	वैरोचनवज्र	वीरवैरोचनगीतिका	त०	४८।२५
७४	शाक्यश्रीभद्र[2]	चित्तरत्न-विशोधन-मार्गफल	त०	४८।१२५
		वज्रपदगर्भसग्रह	त०	५१।३
		विशुद्धदर्शनचर्योपदेश	त०	४८।१२४
७५	शृगालपाद (सि० २७?)	रत्नमाला	त०	४८।५८
७६	सर्वभक्ष (सि० ७५)	करुणाचार्यकपालदृष्टि	त०	४८।४६
७७	सवरभद्र	वज्रगीताववाद	त०	४४।२१
७८	सहजयोगिनीचिन्ता	व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि	त०	४६।७
७९	सागर (सि० ७४)	आलिकालिमहायोगभावना	त०	४८।८०
८०	समुद्र (सि० ८३)	सूक्ष्मयोग	त०	४८।९७
८१	सुखवज्र	मूलप्रकृतिस्थभावना	त०	४७।३६

१ दीपंकर श्रीज्ञानके पीछे (१०६५ ई० में) यह तिब्बत गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद किया।

२ शाक्यश्रीभद्र (जन्म ११२६ ई०) विक्रम-शिलाके अन्तिम प्रधान स्थविर थे। महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा विक्रमशिलाके नष्ट किये जानेपर यह जगत्तला चले गये और वहाँ तीन वर्ष रहे। वहाँसे विचरते नेपाल गये। वहाँसे ख्रो-लोचवा (१२०३ ई० में) इन्हें तिब्बत ले गया। स-स्क्य-विहारका लामा इनका भिक्षु-शिष्य बना। बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद एवं धर्म-प्रचार कर सन् १२१२ ई० में यह अपनी जन्मभूमि कश्मीर लौट गये। वहीं १२२४ ई० में इनका देहान्त हुआ।

११. बौद्ध नैयायिक

(१) मैथिल नैयायिक

न्याय-शास्त्र और वाद-विवादसे बहुत सम्बन्ध है। यदि बौद्ध, ब्राह्मण तथा दूसरे सम्प्रदायोका पूर्वकालमें आपसका वह विचार-सघर्ष और शास्त्रार्थ न होता रहता, तो भारतीय न्यायशास्त्रमें इतनी उन्नति न हुई होती। वाद या विचारोंके शाब्दिक सघर्षकी प्रथाके आरम्भ होते ही वादी-प्रतिवादीके भाषण आदिके नियम बनने लगते हैं। भारतमें ऐसे शास्त्रोका उल्लेख हम सर्वप्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थोंके उपनिषद्-भागमें पाते हैं।

वेदका सहिताभाग मत्र और ऋचाओंके रूपमें होनेसे, वहाँ भिन्न-भिन्न ऋषियोंके विवादोंका वैसा उल्लेख नही हो सकता, तो भी वशिष्ठ और विश्वामित्रका आरम्भिक विवाद ही इसका कारण हो सकता है, जो कि वशिष्ठके वशज, विश्वामित्र और उनकी सतानके बनाए ऋग्वेदके भागको पढ़ना निषिद्ध समझते थे और वही बात विश्वामित्रके वशज वशिष्ठसे सम्बन्ध रखनेवाले मत्र-भागके साथ करते थे। ये बतलाते हैं कि, मत्रकाल और उसकी क्रीडा-भूमि सप्त-सिन्धु (पजाब)में भी किसी प्रकारके वाद हुआ करते होंगे।

कितनी ही शताब्दियो तक आर्य लोगोमें यज्ञ और कर्मकाण्डोकी प्रधानता रही, युक्ति और तर्ककी श्रुतिके सामने चलती न थी। उस समय भी कुछ लोग स्वतत्र विचार रखते थे। और उनका कर्मकाण्डियोंके साथ विचार-सघर्ष होता था, इसी विचार-सघर्षका मुख्य फल हम उपनिषद्के रूपमें पाते हैं। उपनिषद्-कालमें तो नियमानुसार परिषदें थीं, जहाँ बडे-बडे विद्वान् विवाद करते थे। इन परिषदोंके स्थापक राजा होते थे, और वादमें विजय पानेवालेको उनकी ओर से उपहार भी मिलता था। विदेहों (तिर्हुत) की परिषद्में इसी प्रकार याज्ञवल्क्य को हम विजयी होते हुए पाते हैं और जनक उन्हें हजार गौवें प्रदान करते हैं।

सप्तसिन्धुसे इस वादप्रथाको तिर्हुत तक पहुँचनेमें उसे पचाल (अन्तर्वेद और रुहेलखड) और फिर काशी देश (बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, आजमगढके जिले) से होकर आना पडा था। इस प्रकार प्राचीन ढँगकी तर्क-प्रणाली सबसे पीछे तिर्हुतमें पहुँचती है। (यद्यपि आजकल मिथिलाको तिर्हुतका पर्यायवाची शब्द मानते हैं, जैसेकि काशीका बनारसको, किन्तु प्राचीन समयमें 'मिथिला' एक नगरी थी, जो विदेह देशकी राजधानी थी। उसी तरह काशी देशका नाम था, नगरका नही, नगर तो वाराणसी थी, जिसका ही बिगडा रूप बनारस है।)

यद्यपि तिर्हुतमें वादप्रथा वैदिक युगके अन्तमें (६०० ईसा पूर्वके आस-पास) पहुँची, किन्तु आगे कुछ परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं कि भारतीय न्यायशास्त्रके निर्माणमें तिर्हुतने प्रधान भाग लिया। वस्तुत, बौद्ध न्यायशास्त्रके जन्म एव विकासकी भूमि यदि मगध है, तो ब्राह्मण-न्यायके बारेमें वही श्रेय तिर्हुतको प्राप्त है।

अक्षपाद, वात्स्यायन, और उद्योतकरकी जन्म-भूमि और कार्यभूमि तिर्हुत थी, यद्यपि इसका कोई इतना पुष्ट-प्रमाण नहीं मिलता। वेद तथा उसकी मान्यताओ पर प्रचण्ड प्रहार करनेमें मगध प्रधान केन्द्र था; साथ ही जब उपनिषद्के तत्त्वज्ञानकी अन्तिम निर्माणभूमि विदेहके होने पर भी ख्याल करते हैं, तो यह बात स्पष्ट ही जान पडने लगती है कि ब्राह्मण न्याय-शास्त्रकी जन्मभूमि गगा के उत्तर तरफ तिर्हुत ही होना चाहिये।

"वादन्याय"की टीकामें आचार्य शान्तरक्षित (७४०–८४० ई०) ने अविद्धकर्ण, प्रीतिचद दो नैयायिकोंके नाम उद्धृत किये हैं। जिनमें प्रथमने वात्स्यायनभाष्य पर टीका लिखी थी। ये दोनों ही ग्रंथकार वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) से पहलेके हैं किन्तु उद्योतकर भारद्वाजसे पहलेके नहीं जान पडते। इनकी जन्म-भूमिके बारेमें भी हम निश्चयपूर्वक कुछ नही कह सकते, किन्तु प्रतिद्वंदिता-केन्द्र नालदा होनेसे बहुत कुछ सम्भावना उनके तिर्हुत ही होनेकी होती है।

त्रिलोचन और वाचस्पति मिश्रके बाद तो ब्राह्मण-न्यायशास्त्र पर तिर्हुतका एकछत्र राज्य हो जाता है। वह उदयन और वर्द्धमान जैसे प्राचीन न्यायके आचार्योंको पैदा करता है, और गगेश उपाध्यायके रूपमें तो उस नव्य-न्यायकी सृष्टि करता है, जो आगे चलकर इतना विद्वत्प्रिय हो जाता है कि प्राचीन

सूत्रोमें हम आत्मा, शब्द प्रमाण, सामान्य, अवयवो आदि पर वौद्धोकी ओरसे किये आक्षेपो का उत्तर दिया जाते देखते हैं, उससे भी उसके पहले किसी ऐसे वौद्ध आचार्यका होना जरूरी मालूम होता है।

नागार्जुन (२०० ई०)

वौद्ध न्यायपर सवसे पुराने जो ग्रन्थ मिलते हैं, नागार्जुनके ही हैं। नागार्जुनका जन्म वरार (विदर्भ) में हुआ था, किन्तु वह अधिकतर आन्ध्रदेशके धान्यकटक और श्रीपर्वत स्थानोमें रहते थे। वह वौद्धोके माध्यमिक दर्शन (शून्यता या सापेक्षतावाद) के आचार्य थे। उनके तीन छोटे-छोटे न्याय निवन्ध अव चीनी भाषाहीमें मिलते हैं, जिनमेंसे एक विग्रहव्यावर्त्तनी तिव्वतसे मुझे मिली। वात्स्यायन-भाष्य में कितनी ही जगहोपर हम स्पष्ट वौद्धोके आक्षेपोंके खडन पाते हैं। वात्स्यायनके पूर्व किस वौद्धने ये आक्षेप किये होगे? नागार्जुनके उक्त ग्रन्थके देखने से स्पष्ट मालूम होता, कि प्रमाण स्थापना प्रकरणमें वात्स्यायनने जिस ग्रन्थका खडन किया है, वह नागार्जुन ही है। सिर्फ न्याय या प्रमाण शास्त्रपर विस्तृत ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य दिङ्नाग है, इसीलिए उन्हे मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्रका पिता कहा जाता है। जैसे, गगेशोपाध्यायकी तत्त्वचिन्तामणि न्यायशास्त्रमें एक नये युगका आरम्भ करती है, जो कि अव तक चला जा रहा है, उसी प्रकार दिङ्नागका "प्रमाण समुच्चय" एक नया युग आरम्भ करता है, जो कि गगेशके काल (१२० ई०) तक रहता है।

वसुवन्धु (४०० ई०)

नागार्जुनके वादकी डेढ शताब्दियोंमें भी वौद्ध नैयायिक हुए होगे किन्तु उनकी कृतियोका हमें कोई पता नही। अन्तमें हम वसुवन्धु (४००ई०) को "वादविधि" या "वादविधान" लिखते पाते हैं। यह ग्रथ अव तक न सस्कृत होमें मिला है, और न इसका चीनी या तिव्वती भाषाओमें ही अनुवाद हुआ था। किन्तु इस ग्रथका नाम धर्मकीर्ति (६०० ई०) के 'वादन्याय' ग्रन्थमें मिलता है। "वादन्याय परहितरतैरेष सदिभ् प्रणीत." पर व्याख्या करते शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०) ने लिखा है—"अय वादन्यायमार्ग सकललोकानिवन्धनवन्धुना वादविधानादौ-आर्यवसुवन्धुना महाराजपथीकृत। क्षुण्णश्च तदनु-महत्या न्यायपरीक्षाया कुमतिमतमत्त मातग-शिर पीठपाटनपटुभिराचार्यदिङ्नाग-

पादै ।" इस वाक्यसे मालूम होता है, कि वसुवन्धुने न्यायशास्त्र पर वादविधान नामक ग्रथ लिखा था। न्यायवर्तिककार[1] उद्योतकर भारद्वाजने भी कितनी ही जगहोपर इस ग्रन्थका नामोल्लेख किया है, और कितनी ही जगहो पर विना नाम दिये भी खण्डन किया है, किन्तु वहाँ व्याख्या करते वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)ने नाम दिया है—

"यद्यपि वादविधौ साध्याभिधान प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्त तदप्युभयथा दोषान्न युक्तम् ।"

"यद्यपि वादविधानटीकाया साधयतीति शब्दस्य स्वयपरेण च तुल्यत्वात् स्वयमिति विशेषणम् ।"

(न्या० वा० पृ० ११७)

पिछले उदाहरणमें 'वादविधान' नाम समानार्थक होनेसे वह 'वादविधि'के लिये ही प्रयुक्त हुआ मालूम होता है। वादविधानकी जिस टीकाका यहाँ जिक्र आया है, उसके रचयिता शायद दिङ्नाग थे। क्योकि दिङ्नाग वसुवन्धुके शिष्य थे। हो सकता है, जिसे शान्तरक्षितने, ऊपरके जिस उद्धरणमें "सदन महत्या न्यायपरीक्षाया" लिखा है, वह न्यायपरीक्षा वसुवन्धुके वादविधानकी टीका हो अथवा उसीका कोई पोषक ग्रन्थ हो।

न्यायवार्तिकके निम्न उद्धरणोमें यद्यपि वादविधिका नाम नही आया है, किन्तु वे वसुवन्धुके इसी प्रसिद्ध ग्रन्थके मालूम होते हैं।

" अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञान प्रत्यक्षमिति ।"

(पृ० ४०)

इसपर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्रने लिखा है—

"तदेव प्रत्यक्षलक्षण समर्थ्य वासुवन्धव तत्प्रत्यक्षलक्षण विकल्पयितुमुपन्यस्यति। अपरे पुनरिति।"

"एतेन साध्यत्वेनेप्सित पक्ष इति प्रत्युक्तम् ।"

(न्या० वा० ११६)

---

१ चौखम्भासस्कृतसीरीज, बनारस १९१६ ई०।

इस पर वाचस्पति कहते हैं—

"अत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्थनिराकृतग्रहण न कर्त्तव्यम्।"

(ता० टी० पृ० २७३)

एक जगह उद्योतकरने वसुबन्धुके वादलक्षणको इस प्रकार उद्धृत किया है—

"अपरे तु स्वपरपक्षयो सिद्ध्यसिद्धयर्थ वचन वाद इति वादलक्षण वर्णयन्ति। (न्या० वा० १५०)

यहाँ पर टीका[1] करते वाचस्पतिने पूर्वपक्षीका नाम वसुबन्धु दिया है—

"तदेव स्वाभिमतवादलक्षण व्याख्याय वासुबन्धव लक्षण दूषयितुमुपन्यस्यति। अपरे त्विति।"

(ता० टी० ३१७)

इन उद्धरणोंसे यह भी मालूम होता है कि वसुबन्धुने अपने ग्रन्थमें प्रत्यक्ष आदिके लक्षण भी लिखे थे और वह धर्मकीर्तिके वादन्यायकी भाँति सिर्फ निग्रह-स्थान ही पर नही था।

वसुबन्धुके एक ग्रन्थ तर्कशास्त्रको चीनी भाषामें परमार्थ (५५० ई०) ने अनुवाद किया था। तर्कशास्त्र ग्रन्थका नाम न हो, कर विषय मालूम होता है।

वसुबन्धुके समयके बारेमें बहुत मतभेद है, कितने ही पडित उन्हें तीसरी शताब्दीमें ले जाना चाहते हैं और जापानके विद्वान् डा० तकाकुसू ५०० ई० में लाना चाहते हैं। डा० तकाकुसूने वसुबन्धुका समय निर्धारण करनेमें बहुत परिश्रम किया है, किन्तु उनके समयके माननेमें बहुतसी कठिनाइयाँ दीख पडती हैं।

(१) वसुबन्धुके ज्येष्ठ सहोदर असगके ग्रन्थोका धर्मरक्षाने चीनी भाषामें अनुवाद किया था। धर्मरक्षा ४०० ई०में चीनमें थे।

(२) वसुबन्धुके शिष्य दिङ्नागका नाम कालिदास ने "मेघदूत"के प्रसिद्ध श्लोक 'दिङ्नागाना पथि परिहरन्'में किया है। वहाँ 'दिङ्नागानां'से बौद्ध

१ न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका, "चौखम्भासस्कृत सीरीज", बनारस (१९२५ ई०)।

विद्वान् दिङ्नागसे ही अभिप्राय है, इसकी पुष्टि मल्लिनाथकी टीका ही नही करती, वल्कि प्राचीन टीकाकार दक्षिणावर्त्तनाथ भी करते हैं। कुमारगुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त(४५५-६७ ई०)के समकालीन कालिदाससे पूर्व दिङ्नागका होना माननेपर वसुवन्धुका समय ४०० ई० के पास हो सकता है।

(३) चीनी भाषामें अनुवादित परमार्थ-कृत वसुवन्धुकी जीवनीमें वसुवन्धुको अयोध्याके राजाका गुरु कहा है। उधर वसुवन्धुके नामसे उद्धृत एक श्लोक "सोऽय सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनय चन्द्रप्रकाशो युवा" को मिलाने पर जान पडता है कि वसुवन्धु चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१२) के समकालीन थे।

(४) ३१९ ई० से ४९५ ई० तकका गुप्त काल उत्तरी भारतमें वहुत ही महत्त्वपूर्ण समय है। इस समयकी पत्थरकी मूर्तियां भारतीय मूर्ति-कालके अत्यन्त सुन्दर नमूने समझी जाती हैं। अजन्ता और वाग़के चितने ही इस कालके चित्र उस समयकी चित्रकलाको उन्नतिके शिखरपर पहुँचा प्रदर्शित करते हैं। समुद्रगुप्त (३४०-३७५ ई०)के प्रयाग वाले अशोक स्तम्भपर खुदे श्लोक सगीत और काव्यके कौशलकी सूचना ही नही देते हैं, वलिक कविकुलगुरु कालिदासकी कविताएँ वतलाती हैं कि वह सस्कृत-कविताका मध्याह्न काल था समुद्रगुप्प (३४०-७५ ई०) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१५ ई०) कुमार गुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०) जैसे पराक्रमी शासकोको लगातार चार पीढ़ियो तक पैदा करते रहना भी उस कालकी खास महत्ताहीको प्रदर्शित नही करता, वलिक यह भी वतलाता है, कि उस कालमें राष्ट्रीय प्रगति सर्वतोमुखीन थी। ऐसे समयमें दर्शन क्षेत्रमें भी कितनी ही नई विभूतियां जरूर हुई होंगी और वसुवन्धु और दिङ्नागको हम इन्ही विभूतियोमें समझते हैं। इस तरहसे भी वसुवन्धुका समय ४०० ई० ठीक जँचता है।

दिङ्नाग (४२५ ई०)

दिङ्नाग (४२५ ई०) वसुवन्धुके शिष्य थे, यह तिव्वतकी परम्परासे मालूम होता है। तिव्वतमें इस सम्वन्धकी यह परम्पराएँ आठवी शताब्दीमें भारतसे गई थी, इसलिये इन्हें भारतीय परम्परा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनकी परम्परामें दिङ्नागको वसुवन्धुका शिष्य होना नही लिखा है, तोभी वहां इसके विरुद्ध भी कुछ नही पाया जाता। दिङ्नागका काल वसुवन्धु और कालिदासके वीचमें हो

सकता है, इस प्रकार उन्हे ४२५ ई० के आस-पास माना जा सकता है। दिङ्नाग का मुख्य ग्रन्थ "प्रमाणसमुच्चय" है, जो सिर्फ तिब्बती भाषाहीमें मिलता है। उसी भाषामें प्रमाणसमुच्चयपर महावैयाकरण काशिकाविवरण पञ्जिका (न्यास) के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७००ई०)की टीका भी अनूदित मिलती है। दिङ्नाग भारतके अद्भुत प्रतिभाशाली नैयायिकोमें थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

चीनी परम्परासे मालूम होता है, कि शकर स्वामी दिङ्नागके शिष्य थे। इसकी पुष्टि मनोरथनन्दीकी प्रमाणवार्त्तिकवृत्तिकी टिप्पणीसे होती है। तिब्बती परम्परा हमें बतलाती है कि दिङ्नागके एक शिष्य ईश्वरसेन थे, जो धर्मकीर्तिके गुरु थे। यहाँ तिब्बती परम्परामें कुछ भूल मालूम होती है, जैसाकि हम आगे बतलायेंगे। शकर स्वामीका न्यायपर एक ग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' मिलता है। तिब्बती परम्पराने ईश्वरसेनको धर्मकीर्ति (६०० ई०) का न्यायमें गुरु माना है, और इसमें सन्देहका कोई कारण नही मालूम होता, किन्तु वही ईश्वरसेनको दिङ्नागका शिष्य कहा गया है। आगे हम बतलायेंगे कि धर्मकीर्ति ६०० ई०के आस-पास थे। ऐसी हालतमें धर्मकीर्ति और दिङ्नागके बीचके दो सौ वर्षोंमें सिर्फ एक व्यक्ति नही हो सकता। अक्सर परम्परामें अप्रधान व्यक्ति छोड दिये जाते हैं। मालूम होता है यहाँ भी दिङ्नाग और ईश्वरसेनके बीचकी परम्परा छूट गयी है। ईश्वरसेनका कोई ग्रन्थ किसी भाषामें नही मिलता, किन्तु उनकी कुछ बातोका खण्डन धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें किया है। दुर्वेकमिश्र (११०० ई०)ने भी हेतुबिंदुकी धर्माकरदत्तीय टीकापर व्याख्या करते हुए ईश्वरसेनके मतको उद्धृत किया है, इससे मालूम होता है कि ईश्वरसेनने कोई ग्रन्थ लिखा था।

तिब्बती परम्परा बतलाती है, कि धर्मकीर्तिने जब ईश्वरसेनके पास दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयको पढा, तब कितने ही स्थल उनके गुरुको भी स्पष्ट न लगते थे। इसके बाद धर्मकीर्तिने स्वय दूसरी बार उसे अपने आप पढा। जब उन्होंने अपने अर्थको अपने गुरुको सुनाया, तो उन्होंने शाबाशी दी, और प्रमाणसमुच्चयके अर्थ समझनेमें धर्मकीर्तिको उन्होने दिङ्नागके बराबर बतलाया। फिर धर्मकीर्तिने तीसरी बार पढ़ा और उन्हें उसमें त्रुटियाँ मालूम हुई। इसीलिये धर्म-

कीर्तिने दिङ्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' पर टीका लिखनेकी अपेक्षा वार्त्तिक (प्रमाण-वार्त्तिक) लिखा, जिसमें खडन करनेमें स्वतंत्रता रहे।

धर्मकीर्ति (६०० ई०)

धर्मकीर्तिका काल (६०० ई०)—चीनी पर्यटक इचिङने धर्मकीर्तिका वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है। इसलिये धर्मकीर्ति ६७९ ई० से पहले हुए। किन्तु युन्-च्वेङने धर्मकीर्तिका नाम नही लिया है, इसलिये ऐतिहासिकोका अनुमान है कि ६३५ ई०में जब युन्-च्वेङ नालदा पहुँचे, धर्मकीर्तिकी आयु कम रही होगी इसलिये धर्मकीर्तिका काल ३२५–५० ई० माना है। लेकिन युन्-च्वेङके मतसे धर्मकीर्तिको पीछे लाना ठीक नही जँचता। हमारी समझमें धर्मकीर्ति युन्-च्वेङसे पहले ही नालदामें थे, क्योकि—(१) धर्मकीर्ति नालदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। युन्-च्वेङके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालदाके प्रधान आचार्य थे जिनकी आयु उस समय १०६ वर्ष की थी। ऐसी अवस्थामें धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ६३५ ई० में बच्चे नही हो सकते थे। धर्मकीर्ति सुदूरदक्षिण तिरुमलय (द्रविड देश)के प्रतिभाशाली ब्राह्मण थे। ब्राह्मण शास्त्रोको उन्होने खूब पढा था, और पीछे बौद्ध सिद्धान्तोको अपनी स्वतन्त्र बुद्धिके अधिक अनुकूल पा वह बौद्ध हुए थे।

इस प्रकार नालदाके प्रधान आचार्यके शिष्य होते समय यह बच्चे नही हो सकते थे। नालदाके विश्वविद्यालयमें प्रवेश पानेके लिये द्वारपण्डितोकी कितनी कठिन परीक्षासे विद्यार्थियोको गुजरना पडता था, यह हमें मालूम है, इससे भी धर्मकीर्ति काफी पढे-लिखे होनेपर ही प्रवेशके अधिकारी हो सकते थे। शील-भद्रके प्रधान आचार्य होनेसे पूर्व ही धर्मकीर्ति विद्या समाप्त कर चुके थ, अन्यथा छोटे होनेपर उन्हे शीलभद्रके पास भी पढना पडता। और वैसा कोई उल्लेख नही है। इन सब बातोपर विचार करनेसे धर्मकीर्तिकी आयु कितनी भी कम मानते युन्-च्वेङके समय हम उसे ३०, ३५ वर्षसे कम नही मान सकते। फिर धर्मकीर्तिकी प्रतिभा बौद्ध दार्शनिकोमें अद्वितीय मानी जाती है, उनके प्रतिद्वद्वी ब्राह्मण नैयायिक भी उनकी प्रतिभाकी दाद देते हैं। ऐसा अद्भुत प्रतिभाशाली पुरुष २५ वर्षकी उम्रमें भी नालदामें बिना ख्याति पाये नही रह सकता। युन्-च्वेङकी चुप्पीका कारण हो सकता है (१) युन्-च्वेङके नालदा निवासके समयसे

पूर्व ही धर्मकीर्तिका देहान्त हो चुका था और न्यायपर अधिक अनुराग न होनेके कारण धर्मकीर्तिकी कृतियो और व्यक्तित्वके प्रति उतना सम्मान भाव न होनेसे उन्होंने उनका जिक्र नही किया। युन्-च्वेङ न्यायके पण्डित न थे, यह तो इसीसे मालूम होता है कि उन्होने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चय जैसे प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका चीनी अनुवाद न कर असग, वसुबन्धु और शकरस्वामीके तीन छोटे-छोटे न्याय निबन्धोका ही अनुवाद कर सतोष कर लिया।

(२) यह कहा जा सकता है कि युन्-च्वेङकी जीवनीके सम्पादक उनके शिष्योने जान-बूझकर धर्मकीर्तिका जिक्र नही आने दिया है। युन्-च्वेङ विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु कितनी ही जगहो पर जीवनी-लेखकोने बहुत अतिशयोक्तिकी है। उदाहरणार्थ, यदि उडीसामें कोई अबौद्ध पण्डित बौद्धोको शास्त्रार्थ करनेके लिए ललकारता है, और उसका सन्देश नालदा आता है, तो नालदा युन्-च्वेङको अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजता है। आजकलके पण्डितोंके शास्त्रार्थकी भाँति सातवी सदीमें भी शास्त्रार्थ सस्कृतमें हुआ करते थे। आजकलकी भाँति उस समय भी वादी-प्रतिवादी खूब कठिन दार्शनिक सस्कृतका प्रयोग करते थे। सस्कृत भाषाका व्याकरण ऐसे भी जटिल है, फिर उक्त प्रकारकी सस्कृतमें शास्त्रार्थ करना आसान काम न था। युन्-च्वेङ प्रौढ़ अवस्थामें भारत आये थे। पढ़ते-पढ़ते दार्शनिक सस्कृतका समझना इनके लिये आसान हो सकता था किन्तु इतनी दक्षता प्राप्त करना सभव न था। इस जगहपर जरूर अत्युक्तिसे काम लिया गया है। ऐसी हालतमें यदि धर्मकीर्ति युन्-च्वेङके समय मौजूद थे, तो उन्हें चित्रपर चित्रित करना हानिकारक समझा गया। इसलिये उन्हें जान बूझकर वहाँ आने नही दिया गया। हमारी समझमें तो धर्मकीर्ति युन्-च्वेङके नालन्दा पहुँचनेसे ही गुजर चुके थे।

धर्मकीर्तिकी शिष्य-परम्परा तिब्बती ग्रन्थोमें इस प्रकार मिलती है—

धर्मकीर्ति की शिष्य-परम्परा

(६०० ई०), २ देवेन्द्रमति (६५० ई०), ३ शाक्यमति (७० [illegible]), ५ धर्मोत्तर(७२५ ई०), ६ यमारि (७ [illegible] शकरानन्द(८०० ई०), ९ वंकु- [illegible] २७-१२२५ ई०)। शाक्य श्रीभद्र

विक्रमशिला विहार (भागलपुर)के अन्तिम प्रधान आचार्य थे। विक्रम-शिलाके तुर्कों द्वारा जलाये जानेपर १२०३ ई० में वह विभूतिचन्द्र (जगत्तला बंगाल) दानशील, संघश्री (नेपाल) आदि बौद्ध पंडितोंके साथ तिब्बत गये। शाक्य-श्रीभद्रके भोटवासी शिष्य स-स्क्यपण्-छेन् आनन्दध्वज अपने ग्रन्थमें अपने गुरुकी परम्परा देते हैं, जिसमें वकु पण्डितको शंकरानन्दका शिष्य बतलाया गया है। यहां भी जान पडता है, बीचके कितने ही अप्रधान व्यक्तियोको छोड दिया गया है। शाक्य-श्रीभद्रका काल (जन्म ११२७ ई०, मृत्यु १२२५ ई०) निश्चित है।

इनके अतिरिक्त जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०), धर्माकरदत्त (७०० ई०), कल्याणरक्षित (७०० ई०), रविगुप्त (७२५ ई०), अर्चट (८२५ ई०), शान्त-रक्षित (७४०–८४० ई०), कमलशील (८५० ई०), जिनमित्र (८५० ई०), जयानन्त (९५० ई०), कर्णकगोमी, मनोरथनन्दी, जितारि (१००० ई०), रत्नकीर्त्ति (१००० ई०) आदि कितने ही और विद्वानोने न्यायपर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि वही हैं, जिन्होने काशिकाविवरणपंजिका या न्यासको लिखा है। शान्तरक्षितके तत्वसंग्रह (संस्कृतमूल)के प्रकाशित हो जानेसे वह और उनके शिष्य कमलशील (तत्व संग्रह-पंजिकाकार) विद्वानोंके सामने आ चुके हैं।

पूर्व ही धर्मकीर्तिका देहान्त हो चुका था और न्यायपर अधिक अनुराग न होनेके कारण धर्मकीर्तिकी कृतियो और व्यक्तित्वके प्रति उतना सम्मान भाव न होनेसे उन्होंने उनका जिक्र नही किया। युन्-च्वेङ न्यायके पण्डित न थे, यह तो इसीसे मालूम होता है कि उन्होने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चय जैसे प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका चीनी अनुवाद न कर असग, वसुबन्धु और शकरस्वामीके तीन छोटे-छोटे न्याय निबन्धोका ही अनुवाद कर सतोष कर लिया।

(२) यह कहा जा सकता है कि युन्-च्वेङ्की जीवनीके सम्पादक उनके शिष्योने जान-बूझकर धर्मकीर्तिका जिक्र नही आने दिया है। युन्-च्वेङ विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु कितनी ही जगहो पर जीवनी-लेखकोने बहुत अतिशयोक्तिकी है। उदाहरणार्थ, यदि उडीसामें कोई अबौद्ध पण्डित बौद्धोंको शास्त्रार्थ करनेके लिए ललकारता है, और उसका सन्देश नालदा आता है, तो नालदा युन्-च्वेङ्को अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजता है। आजकलके पण्डितोंके शास्त्रार्थकी भाँति सातवी सदीमें भी शास्त्रार्थ सस्कृतमें हुआ करते थे। आजकलकी भाँति उस समय भी वादी-प्रतिवादी खूब कठिन दार्शनिक सस्कृतका प्रयोग करते थे। सस्कृत भाषाका व्याकरण ऐसे भी जटिल है, फिर उक्त प्रकारकी सस्कृतमें शास्त्रार्थ करना आसान काम न था। युन्-च्वेङ प्रौढ अवस्थामें भारत आये थे। पढ़ते-पढते दार्शनिक सस्कृतका समझना इनके लिये आसान हो सकता था किन्तु इतनी दक्षता प्राप्त करना सभव न था। इस जगहपर जरूर अत्युक्तिसे काम लिया गया है। ऐसी हालतमें यदि धर्मकीर्ति युन्-च्वेङ्के समय मौजूद थे, तो उन्हे चित्रपर चित्रित करना हानिकारक समझा गया। इसलिये उन्हें जान बूझकर वहाँ आने नहीं दिया गया। हमारी समझमें तो धर्मकीर्ति युन्-च्वेङ्के नालन्दा पहुँचनेसे पूर्व ही गुजर चुके थे।

धर्मकीर्तिकी शिष्य-परम्परा तिब्बती ग्रन्थोमें इस प्रकार मिलती है—

धर्मकीर्ति की शिष्य-परम्परा[1]

१ धर्मकीर्ति (६०० ई०), २ देवेन्द्रमति (६५० ई०), ३ शाक्यमति (६७५ ई०), ४ प्रज्ञाकरगुप्त (७०० ई०), ५ धर्मोत्तर (७२५ ई०), ६ यमारि (७५० ई०), ७ विनीतदेव (७७५ ई०), ८ शकरानन्द (८०० ई०), ९ बंकु-पण्डित (११५० ई०), १० शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०)। शाक्य श्रीभद्र

विक्रमशिला विहार (भागलपुर)के अन्तिम प्रधान आचार्य थे। विक्रम-शिलाके तुर्कों द्वारा जलाये जानेपर १२०३ ई० में वह विभूतिचन्द्र (जगत्तला बंगाल) दानशील, संघश्री (नेपाल) आदि बौद्ध पंडितोंके साथ तिब्बत गये। शाक्य-श्रीभद्रके भोटवासी शिष्य स-स्क्यपण्-छेन् आनन्दध्वज अपने ग्रन्थमें अपने गुरुकी परम्परा देते हैं, जिसमें वकु पण्डितको शंकरानन्दका शिष्य बतलाया गया है। यहाँ भी जान पडता है, बीचके कितने ही अप्रधान व्यक्तियोको छोड दिया गया है। शाक्य-श्रीभद्रका काल (जन्म ११२७ ई०, मृत्यु १२२५ ई०) निश्चित है।

इनके अतिरिक्त जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०), धर्माकरदत्त (७०० ई०), कल्याणरक्षित (७०० ई०), रविगुप्त (७२५ ई०), अर्चट (८२५ ई०), शान्त-रक्षित (७४०–८४० ई०), कमलशील (८५० ई०), जिनमित्र (८५० ई०), जयानन्त (९५० ई०), कर्णकगोमी, मनोरथनन्दी, जितारि (१००० ई०), रत्नकीर्त्ति (१००० ई०) आदि कितने ही और विद्वानोने न्यायपर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि वही हैं, जिन्होने काशिकाविवरणपंजिका या न्यासको लिखा है। शान्तरक्षितके तत्वसंग्रह (संस्कृतमूल)के प्रकाशित हो जानेसे वह और उनके शिष्य कमलशील (तत्व संग्रह-पंजिकाकार) विद्वानोंके सामने आ चुके हैं।

---

१२. मागधीका विकास*

भाषा भावका शरीर है। जिस समय एक ही देश में अनेक भाषाओंका राज्य स्थापित नहीं था, लोग अपनी उसी एक भाषामें अपने हृदयके साधारण या कोमल भावो (काव्य) को प्रकट किया करते थे। साढे तीन सहस्र वर्ष पूर्वके हमारे कितने ही पूर्वजोंके भाव हमें उन्हींकी भाषामें, वेदके रूपमें मिलते हैं। "छान्दस्" या वेदकी उनकी भाषा थी।

नदीके प्रवाहकी तरह भाषाका प्रवाह गतिशील है। जितनी ही भाषा बदलती गयी, उतनी ही हमारे परवर्ती पूर्वजोको, इनकी भाषा और कृतियोंमें अधिक लोकोत्तर श्रद्धा बढती गयी और आज भी वह हमारे संस्कृत-प्रेमके रूपमें मौजूद है। समय बीतनेके साथ वह इस फिक्रमें पड़े कि, कैसे हम उसको सुरक्षित और सजीव रखें। इसके लिये उन्होंने (वेद) मन्त्रोंको जहाँ संहिता, पद, जटा, घन आदि नाना क्रमसे उच्चारण और कण्ठस्थ करके सुरक्षित किया, वहाँ उस भाषाकी भीतरी बनावटके लिये अपनी-अपनी शाखाके "प्रातिशाख्य" (व्याकरण) बनाये। जब बोल-चालकी भाषामें बहुत अन्तर हो चुका था, तब ईसा पूर्व छठी शताब्दीमें गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए। कोई "भाषा" पर विशेष दया करके नहीं—बल्कि वही प्रचलित और उपयुक्त होनेसे उन्होंने लोक-भाषामें लोगोंको धर्मोपदेश किया। हाँ, जब मगध, कोसल, कुरु, अवन्ती, गन्धारके शिष्य, बुद्धके दिये उपदेशों (सूक्तो = सुत्तो) का अपनी-अपनी भाषा (= निरुक्ति) में पाठ करने लगे, तो कुछ शिष्योंको सूक्तोंकी भाषाका फेर-बदल खटकने लगा और उन्होंने चाहा कि, उसे हजार वर्षकी पुरानी भाषामें करके सुरक्षित कर दिया जाय। बुद्धने उसे मना ही नहीं किया, बल्कि ऐसा करनेको एक अपराध करार दिया। जिस प्रकार नित्य बदलता सिक्का और तोलमान आदमी-

* "गंगा" पत्रिकामें १९३३में छपा लेख।

को खटकता तथा व्यवहारमें परेशानीका कारण होता है, वैसे ही बुद्धके निर्वाण-के तीन-चार शताब्दियो बाद, यह आये दिनकी अदल-बदल धर्मधरोको अरुचिकर मालूम होने लगी। तब उनमेंसे कुछने तो लकीरका फकीर बन, पुरानी भाषाको (जिसे वह समझते थे कि, वह उसी रूपमें बुद्धके मुखसे निकली थी) ही अपनाये रखा और आगेसे अपनी शक्तिभर फेर-बदल न होने देनेके लिये बाँध बाँधा। दूसरोने उसे मृत किन्तु अधिक स्थायी संस्कृतमें कर दिया। तथापि इस भाषामें पहली भाषाकी कितनी ही बातें रख छोडी। तीसरे, कुछ लोग और कितनी ही शताब्दियो तक धक्के खाकर, कुछ और फेर-बदल हो जानेपर परवर्त्ती किसी भाषामें उसे सुरक्षित करने पर मजबूर हुए। पहले वाले धर्मधर सिंहलके स्थविरवाद है, जो मागधीकी सबसे बडी विशेषताएँ—"स" की जगह 'श", "न" की जगह "ण" और "र" की जगह "ल" को छोड चुके है, तो भी कहते है, "हमारे धर्म-ग्रन्थ मूल मागधी भाषामें है।" हाँ, यदि उच्चारणकी विशेषता-को कोई नगण्य समझे, तो उनका कथन बहुत कुछ सच निकलेगा। सर्वास्तिवाद, महासांघिक आदिने अपने धर्म-ग्रन्थ संस्कृतमें कर दिये तथा महीशासक (आदि कुछ निकायोने प्राकृतमें।

शताब्दियोसे ब्राह्मण, कोसीकी भाँति मर्यादा तोड भागनेवाली भाषाको व्याकरणके नियमोसे बाँध-बाँधकर व्यर्थ करते रहे, परन्तु उन्हें पूरी सफलता न मिली। अन्तमें जनपदोकी सीमाएँ तोडकर साम्राज्य स्थापित करनेवाले युगके प्रतापी शासक नन्दोंके कालमें पाणिनि[1] वह बाँध बाँधनेमें सफल हुए, जिसे तोडनेकी शक्ति संस्कृतमें नही रही। तो भी इस बाँधसे संस्कृतके प्रचारमें अधिक फल तबतक नही हुआ, जबतक कि, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यमें शुंगोंके

---

१ मंजुश्रीमूलकल्पने पाणिनिको नन्दके समयमें माना है
देखिये ५३ पटल, पृष्ठ ६१२—
"नन्दोऽपि नृपतिः श्रीमान् पूर्वकर्मापराधत।
विरागयामासा मन्त्रीणां नगरे पाटलाह्वये॥
.....आयुस्तस्य च वै राज्ञ षट् षष्टीवर्षातया।
.....तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणव॥"

गुरु गोनर्दीय[1] पतञ्जलि अपनी कलम, ज्ञान और जवानको शुगोंके[2] प्रभुत्वके साथ मिलाकर इसकी वकालतमे न खडे हो गये। शुगोके वाद गति कभी कुछ मन्द और कभी कुछ तेज होती रही, किन्तु गुप्तोंके समयसे पाणिनि की सस्कृतको वह स्थान प्राप्त हो गया, जो उसे कभी न मिला था। वह स्थान, ईसाकी वारहवी शताब्दीतक वैसे ही रहकर आज भी हमारे सामने कुछ कम विशाल रूपमें नही दिखायी पडता है।

यद्यपि शुगकालमे सस्कृतके प्रबल पक्षपाती उठे। उन्होने तथा उनके परवर्ती लोगोने सस्कृतके पक्षमें ऐसा वायुमण्डल तैयार कर दिया कि, कीर्त्ति, मान तथा शिक्षित जनतातक पहुँचनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् साहित्यमें सस्कृतको ही व्यवहृत करने पर मजबूर हो गये, तथापि बोलचालकी भाषाओंने[3] चुपचाप अपने अधिकारको अपहृत नही होने दिया। किन्तु जहाँ सस्कृतने एक स्थायी अचल-रूप पा लिया था, वहाँ यह बेचारी प्राकृत जबतक भिड-लडकर अपने लिये कुछ स्थान बनाती थी, तबतक वह स्वय मृत्युका ग्रास हो मृतभाषा बन, अपने सबसे प्रबल शस्त्र—बोलचालकी भाषा होनेको—खो बैठती। उन्हें इस जद्दो-जहदका पुरस्कार यही मिलता था कि, कभी-कभी, लोग उनमें भी कुछ लिख दिया करते थे।[4]

पाणिनिके समयमें सस्कृत स्वाभाविक रूपसे बोल-चालकी भाषा न थी, तोभी उस समयकी बोल-चालकी भाषा, उससे इतनी समीप थी कि, कुछ दर्जन नियमोंके साथ उसे पाणिनीय सस्कृतमें बदला जा सकता था। पाणिनीके "भाषा" शब्दसे मतलब है इसी उच्चारणादिके परिवर्तनसे बनी कृत्रिम या "सस्कृत"

---

१ मालवामें, विदिशा और उज्जैनके बीच, भोपालके पासमें गोनर्द कोई स्थान था।

२ सबसे पुराने सस्कृत शिलालेख शुंगोंके समयमें मिलते हैं।

३ गुणाढ्यकी बृहत्कथा, हालकी गाथासप्तशती आदि इसके उदाहरण हैं।

४ भाषा विज्ञान का क्रम है—१ छन्दस् (१२००-६०० ई० पू०); २ पालि (६००-० ई० पू०), ३ प्राकृत (०-५५० ई०), ४. अपभ्रंश (५५०-१२०० ई०), ५. आधुनिक (१२००- ई०)।

भापासे। उदीची (पजाव), प्राची (उत्तर प्रदेश, विहार) तथा व्यासनदीके उत्तर-दक्षिण किनारोतकके रूप और स्वरतकके भेदोको दिखलानेसे लोग सिर्फ यही नही कह उठते हैं—"महतीय सूक्ष्मैक्षिकाचार्यस्य" (काशिका ४।२।७४), वल्कि साथ ही यह भी कहते है कि, पाणिनिके समय वह (पाणिनीय) सस्कृत वोली जाती थी, और, इसीलिए वह उनके कालको नन्दोंके ममयमें न रखकर, वहुत पूर्व खींचना चाहते है। पाणिनिने अपने व्याकरणके लिये दो स्रोतोंसे मसाला जमा किया।(१) मन्त्र, व्राह्मण आदि छान्दस् वाङ्मय, (२) कल्प, शिशुक्रन्द, यमसभ, अग्निकाश्यप आदिके वृत्तोको लेकर वने ग्रन्थ आदि से। इनमें भी शिशुक्रन्दीय आदि ग्रन्थ मस्कृतमें थे या प्राकृतमें, इसमें सन्देह ही समझना चाहिये। सवसे वडा स्रोत था, उदीची और प्राचीकी उस समयकी वोल-चालकी "भापा" का। यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि, उन्होने अपने समयतकके इस विषयमें हुए प्रयत्नो (अपिशलि, शाकटायन आदिके व्याकरणो) से भी फायदा उठाया।

पाणिनीय सस्कृतका प्रादुर्भाव यद्यपि ईसा-पूर्व चौथी शताब्दीमें हुआ, तथापि पतञ्जलिके समय अर्थात् ईसा-पूर्व दूमरी शताब्दीके मध्यतक उसका वहुत कम प्रचार रहा। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दीसे ईसाकी तीसरी शताब्दी तक वह क्रमश अपने क्षेत्र और प्रभावको वढाती गयी, और, चौथी शताब्दीसे उच्चवर्गमें उसका एकछत्र राज्य स्थापित हुआ। प्राकृत समय तक—जव तक कि, सस्कृत और भापाके क्रियापद और प्रत्यय भी वहुत थोडे ही फर्कमे सस्कृत किये जा सकते थे, मस्कृतभापामें, वहुत ही प्राञ्जल, सर्वभावसम्पन्न, प्रसाद युक्त ग्रन्थ लिखे जाते थे। जव "देशीय" (अपभ्रश) (आधुनिक भापाओका प्राचीनतम रूप) का प्रादुर्भाव हुआ और सस्कृतसे अधिक फर्क पड गया, तव जीवित स्रोतसे वञ्चित हो सस्कृत-ग्रन्थ भापाकी दृष्टिसे, विल्कुल ही कृत्रिम नया शब्द-दारिद्रयसे पूर्ण वनने लगे।

यह तो हुआ देश-कालके भेदसे न प्रभावित होनेवाली कृत्रिम या "सस्कृत" भापाके वारेमें। अव जीवित भापाओंके स्रोतको लें। शताब्दियोंके परिवर्तनकी छाप रखते हुए भी वेद, व्राह्मण आदि वैदिक साहित्यकी भापाको पाणिनिने "छन्दस्" कहा है। वह अपने समयमें एक जीवित भापा थी। उस समय उसका

क्षेत्र अधिकतर गगा और सिन्धुकी उपत्यकाओतक सकुचित तथा बोलनेवालोकी सख्या कम होनेके कारण देश-भेदसे भी भाषा-भेद कम हुआ था। पाणिनिके समयमें सिर्फ प्राची (उत्तरप्रदेश, विहार) भाषा ही, पाचाली, कोसली और मागधीके तीन क्षेत्रोमें विभक्त मालूम होती है। विन्ध्य-हिमालयको सबकी सामान्य सीमा मानकर,उनमेंसे कौरवी और पाञ्चाली,घग्घर (शरावती=सरस्वती) से रामगगातक, कोसली रामगगासे सरयू तक एव मागधी सरयूसे कोसी तथा कर्मनाशासे कलिंग तक फैली हुई थी। इनमें कौरवी तथा उदीची (पजाब) की भाषाओमें अधिक समानता थी, इसलिये शक्तिशाली राज्योका केन्द्र उदीची (सिन्धु-तट) से उठकर प्राचीमें पञ्चाल तथा कोसलमें चला आया, तो भी पाञ्चालीने स्थानीय भाषाओमे विशेष भेद न होनेके कारण कोई विशेष स्थान न प्राप्त किया। उस समय तक तक्षशिलाका विद्या-केन्द्र बना रहना भी इसीका साधक और द्योतक है।

ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें जब मगधका विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ और लक्ष्मीके साथ सरस्वतीने भी मगधमें पधारकर उसे शक्ति और सभ्यताका केन्द्र बना दिया, तब अवस्था बिलकुल बदल गयी। इसमें मगधमें उत्पन्न बौद्ध, जैन जैसे महान् दार्शनिक सम्प्रदाय (जो कि, सिन्धुकी ओर तक फैलते जा रहे थे) और भी सहायक हुए। फलत मगध, सभ्यताका केन्द्र बननेके साथ अपनी भाषाको सारे भारतमें सम्मानित करानेमें सफल हुआ। उपर्युक्त प्रकारसे सम्राटोकी भाषा होनेसे मागधीने सारे भारतमें यहाँ तक सम्मान पाया कि, पीछे नाटककारोको, राजपुत्रो तथा दूसरे कितने ही उच्च पात्रोकी भाषा मागधी रखनेका निर्देश करना पडा। मागधीका प्राचीनतम उपलब्ध रूप उडीसा, विहार, और उत्तर प्रदेशमें मिलने वाले सम्राट् अशोकके शिलालेख हैं। पाली (दक्षिणी, बौद्ध-त्रिपिटककी भाषा) ने यदि "श" का बायकाट तथा "र" के स्थान पर भरसक "ल" नही आने देने की कसम न खायी होती, तो शायद उसे ही मागधीका प्राचीनतम रूप होनेका सौभाग्य प्राप्त होता, किन्तु सिंहलके पुराने गुजराती (सौरसेनी-भाषी) शताब्दियो तक मागधीके उच्चारणको कैसे बनाये रखते ? तो भी हम पालीके पुरातन सुत्तोमें "ल", "श" की भरमार कर उसे मागधीके पास तक पहुँचा सकते हैं। उसके बाद दूसरी मागधी (प्राकृत) नाटकोकी मागधी है।

हां, जैनमूल ग्रन्थोकी भाषा भी मागधी है। किन्तु शुगोंके समयसे ही जैन-धर्मका केन्द्र पूर्वसे पश्चिमकी ओर हटने लगा, और उज्जैन आदिकी सैर करते ईसाकी चौथी—पाँचवी शताब्दियोमें गुजरात पहुँच गया था, जहाँ पांचवी शताब्दीमें (पाली-त्रिपिटकके लेख-बद्ध होनेसे पांच सौ वर्ष बाद) जैन-ग्रन्थ लेखबद्ध हुए। जैन मागधीमें सौरसेनी, महाराष्ट्रीकी पुट पड जानेसे वह आधीही मागधी रह गयी थी, इसीलिये अर्द्धमागधी भी उसे कहा गया। लेकिन अशोकके बाद (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे) ईसाकी पहली शताब्दी तककी मागधी (पालि) भाषाका रूप, रामगढ़ पहाडकी गुहाएँ (सरगुजा-राज्य) और बोधगया आदिके कुछ थोडेसे और अधिकाश आधे दर्जन शब्दो वाले लेखोको छोडकर और नही मिलता। ईसाकी दूसरी शताब्दीसे छठी शताब्दी तककी मागधी (प्राकृत) हमें नाटकोमें मिलती है। छठी से अपभ्रश मागधीका जमाना शुरू होता है। लेकिन पाचाली-अपभ्रशकी[1] भाँति मागधी-अपभ्रशमें कोई ग्रन्थ नही मिलता। सस्कृतका बोलबाला होनेसे शिलालेखो-ताम्रलेखोंसे तो आशा ही नहीं। अपभ्रशका समय छठीसे बारहवी सदी तक था। इसके बाद "देशीय" (या हिन्दी) का समय शुरू होता है। यहाँ स्मरण रहे कि पालि, प्राकृत, अपभ्रश, देशीय, सभीका एक एक सन्धि-काल है, जिसमें पूर्व और परकी भाषाओका सम्मिश्रण रहा है। प्राचीन देशीय-मागधी या "मगही" बारहवी शताब्दीसे शुरू हो सोलहवी शताब्दी तक रही, फिर आधुनिक मगही आई। इस प्रकार मागधीके निम्न रूप होते हैं—

१ पाली {
१ अशोकसे पूर्वकी मागधी ई० पू० ६००–३०० अनुपलभ्य
२ अशोककी मागधी ई० पू० ३००–२०० सुलभ
३ अशोकसे पीछेकी मागधी ई० पू० २००–० ई० दुर्लभ

२ प्राकृत { ४ प्राकृत मागधी ई० ०–५५० ई० सुलभ

३ अपभ्रश { ५ अपभ्रश मागधी ई० ५५०—१२०० ई० अनुपलभ्य

---

१ आजकी तरह तब भी सौरसेनी पांचाली एक ही भाषा थी, जिसे ही ब्रज, कनौजी, रुहेली, बुंदेली कहते हैं।

१३. मातृ भाषाओंके बृहत् संग्रहकी आवश्यकता

परिवर्तनका अटल नियम जैसे ससारकी सभी वस्तुओपर अधिकार रखता है, वैसे ही भाषा पर भी। लेकिन यह परिवर्तन हमेशा कार्य-कारण सम्वन्ध लिये हुए काम करता है, जिससे अपरवर्ती वस्तु (कार्य) पूर्ववर्ती वस्तु (कारण) से वहुत सादृश्य रखती है। यही कारण है कि, वाज वक्त हम वस्तुओकी परिवर्तनशीलताके विपयमें सन्देहयुक्त हो जाते है। इस कार्य-कारण-सहित परिवर्तनका अच्छा उदाहरण हमारा अपना शरीर है। एक ही आदमीके १, २०, ४०,५० और ६० वर्षकी अवस्थाओंके चित्र आप उठा लीजिये, सादृश्य और परिवर्तन आपको स्पष्ट मालूम होगे। मनुष्यके भीतरी (आत्मिक) परिवर्तनको देखना हो, तो किसी चिन्तनशील पुरुषकी चौदह से पचास वर्षकी उम्र तककी डायरियाँ पढ डालिये। मनुष्यके इस आत्मिक और बाह्य परिवर्तनकी भाँति ही मनुष्यकी भाषाओ में परिवर्तन होता जा रहा है। किसी जीवित भाषाके कितने ही छोटे-छोटे परिवर्तन तो कोई भी पचास वर्षका समझदार पुरुष आसानीसे वता सकता है। लेकिन सहस्राब्दियोंके परिवर्तनोंके सामने यह परिवर्तन नगण्य है। उस समय तो इतना परिवर्तन हो गया रहता है कि, पहचानना भी असम्भव-सा हो जाता है। उदाहरणार्थ आधुनिक मगही (मागधी) को लीजिये। इसके आजकलके तथा अठारह सौ वर्ष पूर्व और बाईस सौ वर्ष पूर्वके रूपको लीजिये। कितना आमूल परिवर्तन मालूम होगा। चाहे वह परिवर्तन कितना ही आमूल हो, तोभी इसपर सादृश्यका नियम लागू रहता है। यदि हमें हर शताब्दीकी भाषाओका नमूना मिल जाय तो इनकी परस्पर समीपता हमें वैसे ही मालूम होगी, जैसे सौ मील जानेवाले यात्रीके लिये पहले कदमसे दूसरे कदमका फासला। दरअसल भाषा-प्रवाहको भीतो एक यात्रीकी ही भाँति सहस्राब्दियोका सफर करना पडा है। इन्ही परिवर्तनके नियमोको भाषातत्व कहा जाता है।

भाषा मनुष्यके अन्दर और बाहरके भावोंके प्रकाशन करनेका प्रधान

साधन है। इसीलिये इसमें मनुष्यकी अपनी आकृति झलकती है। ऋग्वेदके शब्दोंको सामयिक पेशो तथा गार्हस्थ, धार्मिक, सामरिक, खान-पान आदि विभागो में सग्रह कर डालिये, आपको मालूम हो जायगा कि, ऋग्वेदीय मनुष्य समाजका क्या रूप था। यद्यपि इस प्रकारके साहित्यमें समाजके अगोका रूप चित्रित नही होता, इसलिये इसमें शक नही कि, यह चित्र पूर्ण न होगा।

भाषा मनुष्यके समझनेका साधन है, इसमें तो किसीको विवाद नही हो सकता। मानव-तत्त्व (*Anthropology*) भी मनुष्यके समझनेका साधन है। आजकल तो इन दोनो साधनोका परस्पर अवरोधी परिणाम देखकर और भी विद्वानोका विश्वास इनपर बढ चला है। भारतकी आर्य तथा द्रविड-जातियोकी भाषाओमें जैसी अपनी विशेषताएँ है, वैसे ही इनकी नासामितियोमें भी। जहां दोनो जातियो कम सम्मिश्रण हुआ है, वहाँ हम भाषा और नासामितियोका भी वैसा ही सम्मिश्रण देखते हैं। उदाहरणार्थ कन्नड और तेलगू—दो द्रविड-जातियोको ले लीजिये। इनकी भाषाओमें आपको सस्कृतके शब्दोकी बहुलता मिलेगी, और, नासामिति भी आपको उसी परिमाणमें इनमें आर्य और द्रविड-नासासोका मिश्रण बतलायेगी। आर्य-भारतसे मालाबारका सीधा सम्बन्ध नही है, बीचमें कन्नड तथा दूसरी जातियाँ आ जाती हैं, तो भी मलयालम् भाषामें आपको कन्नड और तेलगूकी अपेक्षा भी अधिक सस्कृत-शब्द मिलेंगे। मालाबारियो की नासामितिमें आर्यनासाओका बहुत अधिक प्रभाव देखकर पहले-पहल मानव-तत्त्वशास्त्रियोको भी बडा आश्चर्य हुआ, किन्तु आश्चर्यकी कोई बात नही। मालाबारमे तो ब्राह्मण (प्रवासी आर्य) आजतक भी नायर-स्त्रियोंके साथ, बिना रोक-टोक सम्बन्ध रखते हैं। हजारो वर्षोंसे नम्बूदरी ब्राह्मणोंके छोटे भाई इस नासामितिको बदलनेमें ही नियुक्त है।

उपर्युक्त सक्षिप्त कथनसे पाठकोको मालूम हो जायगा कि, भाषाओ-का परिवर्तन अपने अन्दर खास रहस्य रखता है। इसके रहस्यके उद्घाटनके लिये मनुष्य वैसे ही व्यग्र है, जैसे गौरी-शकर-शिखर, ध्रुव-प्रदेश, भूगर्भ आदि-की जिज्ञासामें। इस रहस्यके खुलनेसे मनुष्यके इतिहासपर भी बहुत प्रकाश पडता है। भाषा-सम्बन्धी-अन्वेषणने ही तो यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारतकी भाषाओका एकवशीय होना सिद्ध किया। इसीने तो बिलोचिस्तानके ब्रहुई

१३. मातृ भाषाओंके बृहत् संग्रहकी आवश्यकता

परिवर्तनका अटल नियम जैसे ससारकी सभी वस्तुओपर अधिकार रखता है, वैसे ही भाषा पर भी। लेकिन यह परिवर्तन हमेशा कार्य-कारण सम्बन्ध लिये हुए काम करता है, जिससे अपरवर्ती वस्तु (कार्य) पूर्ववर्ती वस्तु (कारण) से बहुत सादृश्य रखती है। यही कारण है कि, वाज वक्त हम वस्तुओकी परिवर्तन-शीलताके विषयमें सन्देहयुक्त हो जाते है। इस कार्य-कारण-सहित परिवर्तनका अच्छा उदाहरण हमारा अपना शरीर है। एक ही आदमीके १, २०, ४०,५० और ६० वर्षकी अवस्थाओंके चित्र आप उठा लीजिये, सादृश्य और परिवर्तन आपको स्पष्ट मालूम होगे। मनुष्यके भीतरी (आत्मिक) परिवर्तनको देखना हो, तो किसी चिन्तनशील पुरुषकी चौदह से पचास वर्षकी उम्र तककी डायरियाँ पढ डालिये। मनुष्यके इस आत्मिक और वाह्य परिवर्तनकी भाँति ही मनुष्यकी भाषाओ में परिवर्तन होता जा रहा है। किसी जीवित भाषाके कितने ही छोटे-छोटे परिवर्तन तो कोई भी पचास वर्षका समझदार पुरुष आसानीसे वता सकता है। लेकिन सहस्राब्दियोंके परिवर्तनोंके सामने यह परिवर्तन नगण्य है। उस समय तो इतना परिवर्तन हो गया रहता है कि, पहचानना भी असम्भव-सा हो जाता है। उदाहराणार्थ आधुनिक मगही (मागधी) को लीजिये। इसके आजकलके तथा अठारह सौ वर्ष पूर्व और बाईस सौ वर्ष पूर्वके रूपको लीजिये। कितना आमूल परिवर्तन मालूम होगा। चाहे वह परिवर्तन कितना ही आमूल हो, तोभी इसपर सादृश्यका नियम लागू रहता है। यदि हमें हर शताब्दीकी भाषाओका नमूना मिल जाय तो इनकी परस्पर समीपता हमें वैसे ही मालूम होगी, जैसे सौ मील जानेवाले यात्रीके लिये पहले कदमसे दूसरे कदमका फासला। दरअसल भाषा-प्रवाहको भीतो एक यात्रीकी ही भाँति सहस्राब्दियोका सफर करना पडा है। इन्ही परिवर्तनके नियमोको भाषातत्व कहा जाता है।

भाषा मनुष्यके अन्दर और वाहरके भावोंके प्रकाशन करनेका प्रधान

साधन है। इसीलिये इसमें मनुष्यकी अपनी आकृति झलकती है। ऋग्वेदके शब्दोको सामयिक पेशो तथा गार्हस्थ, धार्मिक, सामरिक, खान-पान आदि विभागो में सग्रह कर डालिये, आपको मालूम हो जायगा कि, ऋग्वेदीय मनुष्य समाजका क्या रूप था। यद्यपि इस प्रकारके साहित्यमें समाजके अगोका रूप चित्रित नही होता, इसलिये इसमें शक नही कि, यह चित्र पूर्ण न होगा।

भाषा मनुष्यके समझनेका साधन है, इसमें तो किसीको विवाद नही हो सकता। मानव-तत्त्व (*Anthropology*) भी मनुष्यके समझनेका साधन है। आजकल तो इन दोनो साधनोका परस्पर अवरोधी परिणाम देखकर और भी विद्वानोका विश्वास इनपर वढ चला है। भारतकी आर्य तथा द्रविड-जातियोकी भाषाओमें जैसी अपनी विशेषताएँ है, वैसे ही इनकी नासामितियोमें भी। जहां दोनो जातियो कम सम्मिश्रण हुआ है, वहाँ हम भाषा और नासामितियोका भी वैसा ही सम्मिश्रण देखते हैं। उदाहरणार्थ कन्नड और तेलगू—दो द्रविड-जातियोको ले लीजिये। इनकी भाषाओमें आपको सस्कृतके शब्दोकी वहुलता मिलेगी, और, नासामिति भी आपको उसी परिमाणमें इनमें आर्य और द्रविड-नासाओका मिश्रण वतलायेगी। आर्य-भारतसे मालावारका सीधा सम्वन्ध नही है, वीचमें कन्नड तथा दूसरी जातियाँ आ जाती है, तो भी मलयालम् भाषामें आपको कन्नड और तेलगूकी अपेक्षा भी अधिक सस्कृत-शब्द मिलेंगे। मालावारियो की नासामितिमें आर्यनासाओका वहुत अधिक प्रभाव देखकर पहले-पहल मानव-तत्त्वशास्त्रियोको भी वडा आश्चर्य हुआ, किन्तु आश्चर्यकी कोई वात नही। मालावारमे तो ब्राह्मण (प्रवासी आर्य) आजतक भी नायर-स्त्रियोंके साथ, विना रोक-टोक सम्वन्ध रखते हैं। हजारो वर्षोंसे नम्बूदरी ब्राह्मणोंके छोटे भाई इस नासामितिको वदलनेमें ही नियुक्त हैं।

उपर्युक्त सक्षिप्त कथनसे पाठकोको मालूम हो जायगा कि, भाषाओका परिवर्तन अपने अन्दर खास रहस्य रखता है। इसके रहस्यके उद्घाटनके लिये मनुष्य वैसे ही व्यग्र है, जैसे गौरी-शकर-शिखर, ध्रुव-प्रदेश, भूगर्भ आदिकी जिज्ञासामें। इस रहस्यके खुलनेसे मनुष्यके इतिहासपर भी वहुत प्रकाश पडता है। भाषा-सम्वन्धी-अन्वेषणने ही तो यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारतकी भाषाओका एकवशीय होना सिद्ध किया। इसीने तो विलोचिस्तानके वहुई

न हो जायें, तो कम-से-कम थोडे ही समयमें इनके इतना बिगड जानेका डर तो जरूर है, जिससे कि, इनका वैज्ञानिक मूल्य बहुत कम रह जाय और आनेवाली पीढियाँ मानव-तत्त्वकी इस महत्त्वपूर्ण कडीको खो देनेका इलजाम हमपर लगावें।

दूसरी बात यह है कि, खडीबोली यद्यपि मूलत कुरुदेशके[1] आसपासकी भाषा है, तो भी वहाँकी भाषाकी प्रामाणिकताको स्वीकार नही किया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि, घरू काम-काज, जीवनकी साधारण अवस्था-ओंके उपयोगके शब्दोकी, हिन्दीमें, बडी कमी है। कभी-कभी कोई-कोई हिम्मत-वाले लेखक, ऐसे समय किसी स्थानीय भाषाके शब्दका प्रयोग कर देते हैं।, लोग स्थानीयताका दोष लगाते हैं, और, उस शब्दके प्रचारमें रुकावट होती है। लोग यह भी खयाल करते रहते हैं कि, शायद ये शब्द हमारी ही स्थानीय भाषामें हो, यद्यपि बहुतसे शब्दोको, एक ही रूपमें, पटना और अम्बालामें प्रचलित पाया जाता है। यदि हम स्थानीय भाषाओंके शब्द आदि सग्रह कर सकें, तो जहाँ हम उनका एक सुरक्षित भाण्डार रख देंगे, वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानीय भाषाओंसे कितने ही सर्वसाधारण शब्दोको भी जमा कर पायेंगे, जिनको खडीबोलीमें लेनेमें फिर हिचकिचाहट न रहेगी, और, इस प्रकार, खडीबोलीका एक बडा दोष दूर हो जायगा। इस वक्त खडीबोलीमें इन कामोंके पूरा करनेका एक मात्र साधन सस्कृत है, जिसके कारण ही बाज वक्त लेखकोको अनावश्यक सस्कृत भरनेका दोषभागी बनना पडता है। यदि हमने इन भाषाओको बिगडने या नष्ट होने दिया, तो इसका परिणाम यही नही होगा कि, हमें अपनी भाषाकी अवश्यकताओको अस्वाभाविक रूपसे पूर्ण करना पडेगा; बल्कि वेद, ब्राह्मणसे लेकर, पाली, प्राकृतके ग्रन्थोतकमें प्रयुक्त होनेवाले उन कितनेही शब्दोंके परम्परासे चले आये अर्थोंको भी भूल जायेंगे, जिनका प्रयोग आजकल केवल इन्हीं भाषाओमें पाया जाता है।

उपर्युक्त कथनसे स्थानीय (मातृ) भाषाओको लेखबद्ध करके सुरक्षित कर देनेकी कितनी अवश्यकता है, यह स्पष्ट है। इस विषयमें ग्रियर्सनकी भाषा सर्वे (*Linguistic Survey of India*) ने बहुत अच्छा काम किया।

---

१ सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, उत्तर बुलन्दशहर और बिजनौर जिला तथा हरियाना।

शब्द-कोष, व्याकरण तथा कहानियोंपर भी उसमें लिखा गया है, तोभी वहाँ भाषाओंके सम्बन्धका स्थूल चित्रही वाञ्छित था, उनका लक्ष्य सारी भाषाको सुरक्षित कर देनेका नहीं था और न साहित्यिक हिन्दीके कोषको पूर्ण करनेका ही ख्याल था। इसलिये वह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी अवश्यकताके लिये चाहिये हर एक भाषाकी हजारों (१) कहानियाँ, (२) कहावतें, (३) गीत, (४) शिल्प और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्द तथा उन्हींपर अवलम्बित (५) विस्तृत कोष और (६) व्याकरण। कहानियोंमें हमें सजीव भाषा मिलेगी। अर्थहीन, किन्तु भाषामें ओज पैदा करनेवाले निपातोंका व्यवहार, हमें वहीं मालूम हो सकेगा। भाषामें भाव-चित्रणकी शक्तिका भी परिचय उन्हींसे मिलेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास, मानस-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदिकी दृष्टिमें महत्व-पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिके बारेमें तो कहना ही क्या है। कुछ हदतक इन बातोंकी पूर्ति गीतोंसे होगी, किन्तु गीत अपना दूसरा ही महत्त्व रखते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें कृषि, वर्षा, नक्षत्रों, तारों आदिके सम्बन्धमें तथा दूसरी शिक्षाओंसे भरी कितनी ही गद्य-पद्य-मयी कहावतें प्रचलित हैं। इन कहावतोंमें बाज वक्त मनुष्यके शताब्दियोंके अनुभवका सार बन्द रहता है। यह भी समय पाकर नष्ट होती जा रही हैं। पुराने लोगोंमें अब भी ऐसे आदमी मिलेंगे, जिन्हें यह कहावतें सैकड़ों की संख्यामें याद हैं। इनके बलपर वह वर्ष के भिन्न-भिन्न मासों में नक्षत्र देखकर रात्रिके घंटों और कृषि-वर्षाके समयका निश्चय कर लिया करते थे किन्तु यान्त्रिक साधनोंकी सुलभताने अब लोगों की प्रवृत्ति उधरसे उदासीन होती जा रही है, इसलिये इनके सर्वथा ही विस्मृत हो जानेकी सम्भावना है।

शिल्प-व्यवसाय-सम्बन्धी संग्रहकी तो सबसे अधिक अवश्यकता है, क्योंकि इस विषयपर तो कुछ भी नहीं किया गया है। खड़ी हिन्दीमें इन विषयके शब्दोंकी बड़ी कमी है। इस अपूर्णताके कारण कभी-कभी हमारे उपन्यास-लेखकोंको समाजका अधूरा चित्रही खींचनेपर मजबूर होना पड़ता है। मल्लाहको ही ले लीजिये। क्या उसको अपने काममें नाव, पतवार, पाल—इन तीन ही शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है? नावके सिर, पूँछ, पेट, बारी, पतवार आदिकी नाना किस्मोंके बारेमें तो कहना ही क्या, खोजनेपर आपको नावोंके ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर, जल्दी या तिरछी चलने, चक्कर काटने तथा

रस्सी बटने आदिके लिये भी कितने ही शब्द मिलेंगे। और, फिर, समुद्रके नाविकोंके वारेमें तो कहना ही क्या है। यह तो एक पूरा संसार है, जिससे ज्ञान और आनन्दसे वञ्चित रहना या परोपजीवी होना हमारे लिये अच्छी बात नहीं है (हिन्दी-स्थानीय भाषाओंकी सीमा समुद्रसे नहीं मिलती, यह सही है, किन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि, स्थानीय भाषाएँ, गुजराती, मराठी, बँगला, ओडियाके साथ वाज वात गजबकी समानता रखती है)। यह तो सिर्फ मल्लाही व्यवसायकी वात हुई। अब इसमें आप उन सैकडों व्यवसायोंको जोड लीजिये, जिनमेंसे कुछके नाम आगे दिये जायेंगे। तव इस वातके महत्त्वको आप उपेक्षाकी दृष्टिसे न देख सकेंगे। जव हमारे पास कहानियों, कहावतों, गीतों और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्दोंका पूरा एक भाण्डार जमा हो जायगा, तव उससे उस स्थानीय भाषाका एक अच्छा व्याकरण और कोष तैयार किया जा सकेगा।

अब हमें विचार करना है कि, यह काम कहाँतक साध्य है, और, इसे किस प्रकार करना चाहिये। साध्य होनेके विषयमें तो इतना ही कहना है कि, जो बातें दूसरे देशोंने पचासों वर्ष पूर्व ही कर डाली, वह यहाँ आज क्यों नहीं हो सकती? और जगहोंपर भी सरकारकी अपेक्षा लोगोंने इसके वारेमें, वहुत काम किया है। साध्य और असाध्य तो हम कार्यके ढंगको देखकर अच्छी तरह वतला सकेंगे। हमारे कामके दो भाग होंगे, एक तो संग्रहका काम, अर्थात् ढूँढ-ढूँढकर शब्दोंको जमा करना और दूसरा व्याकरण कोषका निर्माण करना। यद्यपि दूसरे काममें वडी दक्षताकी अवश्यकता है, तोभी यह संगृहीत सामग्री लेकर एक जगह बैठे-बैठे किया जा सकता है, और, इस कामके लिये ऐसे हिन्दी-भाषी योग्य विद्वान् दुर्लभ न होंगे, जो कि वडे उत्साहपूर्वक जल्दी उसे समाप्त कर देंगे। सबसे परिश्रमसाध्य और यदि उस तरह किया जाय, तो व्यय-साध्य कार्य है संग्रहका। इसके लिये हमें अपने जिलेको स्थानीय भाषा-विभागोंमें बाँट देना होगा। आप कहेंगे, जिलेको बाँटकर क्या स्थानीय भाषाओंमें भी उप-विभाग करेंगे? ऐसे तो एक गाँवसे दूसरे गाँवमें कुछ अन्तर पडने लगता है? नहीं; मेरा मतलव यहाँ हर जगहके लिये नहीं है। यदि कहीं समझा जाय कि, वहाँ भाषामें वैसा कोई खास भेद नहीं है, तो उसे छोड दिया जाय; किन्तु

कितनीही जगहोपर ऐसा करना जरूरी होगा। उदाहरणार्थ भोजपुरीको ले लीजिये सम्पूर्ण आरा, छपरा और चम्पारनके जिले तथा गोरखपुर, बलिया और गाजीपुर जिलोंके अधिकाश भाग एवम आजमगढके कुछ परगने एक भोजपुरी-के क्षेत्रमें आते हैं। बनारस आदिकी भाषा काशिकामें स्वर भोजपुरीका ही है यदि छपरा (सारन) जिलावाले अपने जिलेमें इस कामको करना चाहें, तो उन्हे अपने जिलेको तीन भागोंमें बांटना होगा। पहले भागमें गोरखपुर जिला, सरयूनदी, गण्डक-नदी, दाहा-नदी (पीछे सीवानतक), मीरगज और गोपालगज-थानोंसे घिरा खण्ड होगा। इसमें सारा कुआडीका परगना तथा कितने ही दूसरे भाग आ जायेंगे। (इस तरहके उप-भाषाओंके क्षेत्र-विभागमें परगने बाज वक्त बडा महत्त्वपूर्ण फैसला देते हैं। स्मरण रहे,परगने प्राय. इसी रूपमें मुसलमानी शासनके पहलेसे चले आ रहे हैं)। दूसरे हिस्सेमें हम मिर्जापुर, दिघवारा, परसा और सोनपुर-थानोको रख सकते हैं। बाकी हिस्सेको तीसरे भागमें रखा जा सकता है। यद्यपि पहले और तीसरे हिस्सोंमें "गउवै" (गये), "अउवै" (आये) तथा "गइलै", "अइलै" जैसे कितने ही भेद मिलेंगे, तो भी इनको छोड दिया जा सकता है, किन्तु बाकी चार थानोंके लिये तो विशेप ध्यान देना ही पड़ेगा, क्योंकि वहांके सिर्फ "नें" को ही ले लीजिये, जो कि, आसपासके किसी स्थानसे न मिलकर गण्डकपारके मुजफ्फरपुर-जिलेके अपने पडोसी भागसे मिलता है। ईसासे पांच शताब्दियां पूर्व यह भाग वस्तुत उस पारमे मिला हुआ था, किन्तु मुसलमानोंके आनेसे पूर्व—सम्भवत युन्-च्वेङ्के आनेसे भी पूर्व—मही अपनी पुरानी धारको छोडकर गण्डक बन चुकी थी। ऐसे उदाहरण, और जिलोंमें भी, मिल सकते हैं।

इस प्रकार पहला काम तो हमें जिलोंका ऐसा विभाग करना है। यह अवश्य ही है कि, यह विभाग करना सबके वशका काम नही है। भाषा विज्ञानके अतिरिक्त इसमें जिलेके भाषा-विज्ञानकी भी काफी जानकारी अवश्य होगी। लेकिन इस दिक्कतसे हम बहुत कम कर सकें यदि हम पहले एक ही भाषाके एक ऐसे जिलेको ले लें, जहांके लिये ऐसे विशेषज्ञ मिल सकें। यदि वह जिला अपने सारे काम को खतम कर पावे, तो उसके अनुभवसे दूसरी जगहवाले बहुत फायदा उठा सकते हैं। विभाग कर चुकनेपर हमें सग्रह करने वालोंकी एव काफी

रखना चाहिये। फिर, जिस किसीको भी तो यह काम सिर्फ लिखा-पढ़ा होनेसे सौंपा नहीं जा सकता। इसके लिये गोट-फेटकी आरम्भिक सहायताकी भाँति, एक तीन-चार सप्ताहका कोर्स रखना होगा, और, सिखलाना होगा कि, सामग्री-सञ्चयके लिये निम्न बातोंका खयाल रखें—

(१) स्थान ऐसा ढूँढें, जहाँकी भाषा बाहरी प्रभावसे कम प्रभावित हो।

(२) बोलनेवाला यथासम्भव अपठित, व्यवहारकुशल तथा [illegible] [illegible] बेधड़क बोलनेवाला हो। यदि वह स्त्री हो, तो और अच्छा।

(३) जब उपर्युक्त दोनों बातें मिल गईं, तो लिखनेवाले सज्जनको अपनेको निर्जीव ग्रामोफोन मशीन मान लेना चाहिये। वक्ताके किसी उच्चारण आदिको शुद्ध करके लिखनेका खयाल भी कभी मनमें न आने देना चाहिये।

(४) लम्बी कथाओंसे परहेज न करना चाहिये।

(५) वीरता, उदारता, प्रेम, माता-पिताकी भक्ति, साहसपूर्ण कार्य, वाणिज्य, शिक्षा, देवाराधन, तीर्थाटन, वैराग्य, जन्म, मरण आदि सभी विषयोंके गद्य, पद्य और गीतिमय वर्णन इकट्ठे करने चाहिये।

(६) निपात आदिके शब्द तथा शब्दानुकरणोंको न छोड़ना चाहिये।

लेकिन यहाँ एक बात और कहनी होगी। यद्यपि नागरी वर्णमाला वैसे देखनेमें पूर्ण मालूम होती है, किन्तु कुछ आवाजोंको जाहिर करनेके लिये इसमें अक्षर नहीं हैं। उनके लिये अलग स्पष्ट चिह्न निश्चित करने होंगे। उदाहरणार्थ हमारी भाषाओंमें ह्रस्व ए और ओ का उच्चारण भी बहुत देखा जाता है। खड़ी बोलीतकमें "एक" कितनी ही बार ह्रस्व ए के साथ उच्चारित होता है। इस दिक्कतके कारण कितनी ही बार एके स्थानमें इ और ओके स्थानमें उका व्यवहार होने लग पड़ा है। अ का भी एक विशेष उच्चारण है, जिसे पश्चिमी उत्तरप्रदेशके शहरोंके लोग "कहना" के कके अको उच्चारण करते हुए करते हैं, उस वक्त इसका उच्चारण कुछ एकी ओर झुक जाता है, तोभी ह्रस्व ए नहीं हो जाता। इसका उच्चारण जर्मन भाषामें ä द्वारा प्रकट किया जाता है। हिन्दीमें अके ऊपर दो बिन्दी (अ) रखकर उसे किया जा सकता है। इसी प्रकार उके इकी ओर झुकते उच्चारणको उपर दो बिन्दी (उ)तथा ओके इकी तरफ झुकते उच्चारणको ओपर दो बिन्दी (ओ) देकर जाहिर किया

जा सकता है। उत्तरप्रदेश, विहार और मध्यप्रदेशमें इतनेसे काम चल जायगा, किन्तु राजपूताना और दिल्ली प्रान्तमें घ, च, ड आदिके विशेष उच्चारणोंके लिये अलग चिह्न करने होंगे। नये चिन्हों और विशेष सावधानियोंको समझानेके लिये ३, ४ सप्ताहका विशेष कोर्स काफी होगा। यदि जिला बोर्डों, म्युनिसिपलिटियोंके शिक्षा-विभाग तथा कुछ दूसरे उत्साही सज्जन इसके लिये तैयार हो जायें, तो संग्राहकोंका मिलना कठिन न होगा; न व्ययके ही लिये बहुत तरद्दुद करना पड़ेगा।

कथाओं, कहावतों तथा गीतोंकी अपेक्षा, नाना व्यवसायोंमें उपयुक्त होनेवाले शब्दोंके लिये, कहीं-कहीं कुछ विशेष परिश्रम करना पड़ेगा। इसका अन्दाज यहाँ दिये गये कुछ पेशोंसे मालूम हो जायेगा—

१ लोहार	१७ चिड़ीमार	३३ तम्बोली	४९ नाम और मान
२ बढ़ई	१८ तेली	३४ पासी	५० घोड़े-सम्बन्धी शब्द
३ धोबी	१९ कलाल	३५ दर्जी	५१ हाथी " "
४ मल्लाह	२० हलवाहा	३६ चोर	५२ बैल " "
५ हज्जाम	२१ माली	३७ वेश्या	५३ गदहा " "
६ सोनार	२२ ओझा	३८ जुआरी	५४ भेड़-बकरी
७ चमार	२३ कुम्हार	३९ नशाखोर	५५ ऊसर भूमिके भेद
८ जुलाहा	२४ चूड़ीवाला	४० साधुओंके शब्द	५६ वृक्ष-भेद
९ पटवा	२५ संगतराश	४१ खानेकी चीजें	५७ जलचर
१० मछुआ	२६ रंगरेज	४२ सोनेकी चीजें	५८ थलचर
११ मेहतर	२७ कसाई	४३ पहननेकी चीजें	५९ नभचर
१२ हलवाई	२८ धुनिया	४४ घरके बर्तन	६० विषधर जन्तु
१३ कोइरी (काछी)	२९ पहलवान	४५ कालवाची शब्द	६१ हिंसक जन्तु
१४ ग्वाला	३०. राजगीर	४६ नक्षत्रवाची शब्द	६२ अनाजोंके नाम
१५ गड़ेरिया	३१. नुनिया	४७ भूतवाची शब्द	६३ बही-खाता
१६ कसेरा	३२ भड़भूँजा	४८ स्थानीय परगना, तप्पा (टप्पा) आदि के नाम	६४. आभूषण

रखना चाहिये। फिर, जिस किसीको भी तो यह काम सिर्फ लिखा-पढ़ा होनेसे सौंपा नहीं जा सकता। इसके लिये नोट-बुककी आरम्भिक सहायताकी भाँति, एक तीन-चार सफ़ाका फ़ॉर्म रखना होगा, और, सिखलाना होगा कि, सामग्री-सञ्चयके लिये निम्न बातोंका ख़याल रखें—

(१) स्थान ऐसा ढूँढ़ें, जहाँकी भाषा बाहरी प्रभावसे कम प्रभावित हो।

(२) बोलनेवाला यथासम्भव अपठित, व्यवहारकुशल तथा स्पष्ट साफ़कर बेरुक बोलनेवाला हो। यदि वह स्त्री हो, तो और अच्छा।

(३) जब उपर्युक्त दोनों बातें मिल गईं, तो लिखनेवाले सज्जनको अपनेको निर्जीव ग्रामोफोन मशीन मान लेना चाहिये। वक्ताके किसी उच्चारण आदिको शुद्ध करके लिखनेका ख़याल भी कभी मनमें न आने देना चाहिये।

(४) लम्बी कथाओंसे परहेज न करना चाहिये।

(५) वीरता, उदारता, प्रेम, माता-पिताकी भक्ति, साहसपूर्ण कार्य, वाणिज्य, शिक्षा, देवाराधन, तीर्थाटन, वैराग्य, जन्म, मरण आदि सभी विषयोंके गद्य, पद्य और गीतिमय वर्णन इकट्ठे करने चाहिये।

(६) निपात आदिके शब्द तथा शब्दानुकरणोंको न छोड़ना चाहिये।

लेकिन यहाँ एक बात और कहनी होगी। यद्यपि नागरी वर्णमाला वैसे देखनेमें पूर्ण मालूम होती है, किन्तु कुछ आवाजोंको जाहिर करनेके लिये इसमें अक्षर नहीं हैं। उनके लिये अलग स्पष्ट चिह्न निश्चित करने होंगे। उदाहरणार्थ हमारी भाषाओंमें ह्रस्व ए और ओ का उच्चारण भी बहुत देखा जाता है। खड़ी बोलीतकमें "एक" कितनी ही बार ह्रस्व ए के साथ उच्चारित होता है। इस दिक्कतके कारण कितनी ही बार एके स्थानमें इ और ओके स्थानमें उका व्यवहार होने लग पड़ा है। अ का भी एक विशेष उच्चारण है, जिसे पश्चिमी उत्तरप्रदेशके शहरोंके लोग "कहना" के कके अको उच्चारण करते हुए करते हैं, उस वक्त इसका उच्चारण कुछ एकी ओर झुक जाता है, तोभी ह्रस्व ए नहीं हो जाता। इसका उच्चारण जर्मन भाषामें ä द्वारा प्रकट किया जाता है। हिन्दीमें अके ऊपर दो बिन्दी (अ̈) रखकर उसे किया जा सकता है। इसी प्रकार उके इकी ओर झुकते उच्चारणको उपर दो बिन्दी (उ̈)तथा ओके इकी तरफ झुकते उच्चारणको ओपर दो बिन्दी (ओ̈) देकर जाहिर किया

जा सकता है। उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेशमें इतनेसे काम चल जायगा, किन्तु राजपूताना और दिल्ली प्रान्तमें घ, च, ड आदिके विशेष उच्चारणोंके लिये अलग चिह्न करने होंगे। नये चिन्हो और विशेष सावधानियोको समझानेके लिये ३, ४ सप्ताहका विशेष कोर्स काफी होगा। यदि जिला बोर्डों, म्युनिसिपलिटियोंके शिक्षा-विभाग तथा कुछ दूसरे उत्साही सज्जन इसके लिये तैयार हो जायें, तो सग्राहकोका मिलना कठिन न होगा, न व्ययके ही लिये बहुत तरद्दुद करना पडेगा।

कथाओ, कहावतो तथा गीतोंकी अपेक्षा, नाना व्यवसायोमें उपयुक्त होनेवाले शब्दोंके लिये, कही-कही कुछ विशेष परिश्रम करना पडेगा। इसका अन्दाज यहाँ दिये गये कुछ पेशोसे मालूम हो जायेगा—

१	लोहार	१७	चिडीमार	३३	तम्बोली	४९	नाम और मान
२	बढई	१८	तेली	३४	पासी	५०	घोडे-सम्बन्धीशब्द
३	धोबी	१९	कलाल	३५	दर्जी	५१	हाथी " "
४	मल्लाह	२०	हलवाहा	३६	चोर	५२	बैल " "
५	हज्जाम	२१	माली	३७	वेश्या	५३	गदहा " "
६	सोनार	२२	ओझा	३८	जुआरी	५४	भेड-बकरी
७	चमार	२३	कुम्हार	३९	नशाखोर	५५	ऊसरभूमिके भेद
८	जुलाहा	२४	चूडीवाला	४०	साधुओंके शब्द	५६	वृक्ष-भेद
९	पटवा	२५	नगतराश	४१	खानेकी चीजें	५७	जलचर
१०	मछुआ	२६	रगरेज	४२.	सोनेकी चीजें	५८	थलचर
११	मेहतर	२७	कसाई	४३	पहननेकी चीजें	५९	नभचर
१२	हलवाई	२८	धुनिया	४४	घरके बर्तन	६०	विषधर जन्तु
१३	कोइरी(काछी)	२९	पहलवान	४५	कालवाची शब्द	६१	हिंसक जन्तु
१४.	ग्वाला	३०	राजगीर	४६	नक्षत्रवाची शब्द	६२.	अनाजोंके नाम
१५	गडेरिया	३१.	नुनिया	४७	भूतवाची शब्द	६३	बही-खाता
१६	कसेरा	३२	भडभूँजा	४८	स्थानीयपरगना, तप्पा(टप्पा)आदि के नाम	६४	आभूषण

व्याकरण—हर एक उपस्थानीय भाषाका अलग व्याकरण न बनाकर किसी जगह की भाषा—जो दूसरी भाषाओं द्वारा अधिक अप्रभावित हो, या अधिक प्रचलित हो, या केन्द्रमें हो—को मध्यस्थ बनाकर बाकी भेदोंको उसके द्वारा बतलाना।

कोष—इसमें खड़ीबोलीमें प्रचलित पर्यायवाची शब्दोंके अतिरिक्त संस्कृत-के बिगड़े तथा "देशी" शब्दोंके लिये प्राकृत तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओंके पर्याय भी देने चाहियें।

यह काम अच्छा है, यह तो सभी कहेंगे, किन्तु इसकी दिक्कतोंका लोगोंको बहुत ख्याल होगा। यह भय तबतक दूर न होगा, जबतक किसी एक भाषाका संग्रह पूरा न हो जाय। एकके तैयार हो जानेपर दूसरोंको उस तजर्बेसे बहुत फायदा होगा और दिक्कतोंका ख्याल भी कम हो जायगा। यदि पहले ऐसे स्थानमें काम किया जाय जिसमें निम्न विशेषताएँ हों तो काम आदर्श रूपमें कम व्यय और समयमें समाप्त हो जायगा, और, इससे दूसरे भी जल्दी उत्साहित हो सकेंगे—

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो। (२) जिस भाषाके (कई शताब्दियोंके अन्तरसे) अनेक रूप उपलब्ध हों जिससे कि, तुलनात्मक अध्ययनमें पूरी मदद मिल सके। (३) जहाँ भाषातत्त्वज्ञ तथा उस भाषाके मर्मज्ञ भी मिल सकें। (४) जहाँकी स्थानीय संस्थाएँ इसके लिये तैयार हों। (५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों। (६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।

मेरे ख्यालमें ऐसी भाषा मगही है। इसका क्षेत्र पटना और गयाके जिले हैं, जिनका क्षेत्रफल ६,७७६ वर्गमील है, और, १९२१ ई० की जनगणनामें जनसंख्या २७,२७,२१७ थी। मगही-भाषाके कितने ही रूप उपलब्ध हैं, जिनका जिक्र मैंने अपने दूसरे लेखमें किया है।

---

१४. तिब्बतमें भारतीय साहित्य और कला

तिब्बतकी यात्रा और दृष्टियोंमे भी अत्यन्त मनोरजक है, लेकिन मै चार बार तिब्बत साहित्यिक खोजके लिए गया। पहली बार (तिब्बत जानेमे पहले और जानेके बाद भी) मेरी यही धारणा रही कि भारतीय ग्रन्थोंके तिब्बती भाषान्तर ही वहाँ मिल सकते है। भारतसे गये मूल-सस्कृत-ग्रन्थोंके मिलनेकी बहुत कम सभावना है। उसका जिन लोगोसे मैने सस्कृत-ग्रन्थोके बारेमें पूछा, उन्हे उनका पता नही था, और उसके ऊटपटाँग उत्तरसे ही मेरी वह धारणा हुई थी। लेकिन जब मैं २२ खच्चर पोथियोको लेकर पहली बार लौटा और अपनी छोटी पुस्तक 'तिब्बतमें बौद्धधर्मके' लिखनेके लिये उसकी ऐतिहासिक सामग्रीको देखभाल करने लगा, तो मालूम हुआ कि भारतसे गये हजारो सस्कृत-ग्रन्थ तिब्बतमें भले ही न प्राप्त हो, किन्तु वहाँ कुछ सस्कृत-ग्रन्थ जरूर मिलेंगे। पहली बार तिब्बतसे लौटनेके बाद महान् बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति–जिन्हे पश्चिमके सर्वश्रेष्ठ जीवित भारत-तत्त्वज्ञ आचार्य श्चेरबात्स्की (लेनिनग्राद) भारतका काण्ट कहते है—के प्रधान ग्रन्थ प्रमाणवार्तिकको तिब्बती भाषासे सस्कृत-में अनुवाद भी करने लगा था, लेकिन उसी समय मेरे मित्र श्रीजयचन्द्र विद्यालकार नेपाल गये थे, उन्होने राजगुरु प० हेमराज शर्माके पास उसकी सस्कृत प्रति देखी। सस्कृत प्रति खडित थी, तो भी उस समय मुझे जान पडा कि सस्कृत प्रतियोकी पूरी खोज किये बिना तिब्बती भाषासे सस्कृत करनेका काम हाथमें न लेना चाहिये। कही ऐसा न हो कि तिब्बती भाषासे सस्कृत कर देनेके बाद मूल सस्कृत मिल जाय और फिर सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाय।

१९३४ ई० की दूसरी तिब्बत-यात्रा मैने खास इसी मतलबसे की थी और १९३६ ई० में तीसरी बार (१९३८ में चौथी बार) भी सस्कृत-ग्रन्थोकी खोजमें ही गया था। दूसरी यात्रामें मैने ४० के करीब सस्कृत की ताल-पोथियोंमे बहुत देखे और तीसरी बार ८०के करीब नयी पोथियाँ देखी। एक पोथीमें मतलब

एक पुस्तक नहीं। पोथी मैं यहाँ वेष्टनके अर्थमें ले रहा हूँ, एक पोथीमें सम्पूर्ण पुस्तक भी हो सकती है और अनेक पुस्तकें भी। दूसरी यात्रामें खंडित और अखंडित १८४ ग्रन्थ देखे थे और तीसरी बार खंडित और अखंडित १५? ग्रन्थ देखे। पिछली यात्रामें कुछ दार्शनिक ग्रन्थ मिले थे। लेकिन उस समय फोटोका सामान पूरा न होने तथा लिखनेके लिये समयका अभाव रहनेसे मैं धर्मकीर्तिके वादन्याय (सटीक) और प्रमाणवार्तिकके आधे अध्यायके भाष्यको ही लिख कर ला सका। अन्य ग्रन्थोंकी सिर्फ सूची बना सका था जो, १९३५ के बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके जर्नलमें छपी। इस बार विशेषकर दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा दूसरे बौद्ध दार्शनिकोंके ग्रन्थोंकी खोजमें ही वहाँ जाना पड़ा और उनमें इतनी सफलता हुई है कि जितनी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। वस्तुत: तिब्बत जाते समय एक दिन मुझे स्वप्न भी आया था। जिसमें मैंने देखा कि कोई आदमी तालकी पोथियोंका एक बंडल बाँधकर मुझे दे गया। बंडलको खोलनेपर उसमें दिङ्नागका प्रमाण-समुच्चय, धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्तिक तथा इसी तरहकी कुछ और न्यायकी पुस्तकें थी। यद्यपि इस यात्रामें भी बौद्ध न्यायका मूल ग्रन्थ दिङ्नागका प्रमाणसमुच्चय नहीं मिल सका, और जबतक वह नहीं मिल जाता तब तक मैं अपने कामको अधूरा ही समझूँगा, तो भी उस स्वप्नमें मुझे जितनी पुस्तकें मिली थी उनसे कही अधिक मिली। न्याय ग्रन्थोंमें मुझे निम्न ग्रन्थ मिले—

१—नागार्जुनकी विग्रहव्यावर्तनी-कारिका[1] (स्ववृत्ति-सहित)। इस ग्रन्थका विषय यद्यपि दर्शन है, तो भी उसमें न्याय-सम्बन्धी बातें भी आती हैं और एक प्रकारसे अबतक किसी भाषामें उपलभ्य बौद्ध न्याय ग्रन्थोंमें यह सबसे प्राचीन है। वात्सयायनने न्याय भाष्यमें इसका खंडन किया है, और जान तो पड़ता है कि न्याय-सूत्रकार दूसरे अध्यायमें इस ग्रन्थके कुछ मतोंका खंडन करते हैं।

२—धर्मकीर्ति[1]—प्रमाणवार्तिक तीन परिच्छेद मूल।

३—प्रमाण-वार्तिक-वृत्ति[1] (आचार्य मनोरथनन्दी कृत) चारो परिच्छेद-पर सम्पूर्ण। प्रमाणवार्तिक बहुत ही कठिन ग्रन्थ है, उसकी यह वृत्ति आशासे अधिक सरल है।

---

१ ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

४—प्रमाणवार्तिक[1] (स्ववृत्ति)। धर्मकीर्तिने अपने मुख्य ग्रन्थके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्वयं वृत्ति लिखी थी। इस वृत्तिका एक चतुर्थांश इन यात्रामें मिला।

५—स्ववृत्ति-टीका[1]—(आचार्य कर्णकगोमी कृत)। यह धर्मकीर्तिकी स्ववृत्तिपर एक अच्छी टीका है जो आठ हजार श्लोकोंके बराबर है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मिल गया है।

६—प्रमाणवार्तिक-भाष्य[1] (प्रज्ञाकरगुप्त कृत)। प्रज्ञाकरने स्वार्थानुमान परिच्छेद छोडकर बाकी तीन परिच्छेदोंपर विस्तृत भाष्य लिखा है। प्रज्ञाकर नैयायिक और कवि भी थे। उनका १।२ ग्रन्थ पद्यमें है और कितने ही पद्योंमें काव्यका आनन्द आता है। संस्कृत दार्शनिकोंमें गद्यपद्यमिश्रित ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली चलानेवाले प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं। ये नालंदाके आचार्य थे। इनकी शैलीका अनुकरण पिछली शताब्दियोंमें उदयनाचार्य और पार्थसारथिमिश्रने किया है। प्रज्ञाकर महान् बौद्ध नैयायिकोंमेंसे एक है। पिछली यात्रामें मुझे प्रज्ञाकरके इन ग्रन्थके डेढ़ही अध्याय मिल सके थे, और आधा अध्याय मैं लिखकर लाया था जो बिहार-उडीसा रिसर्च सोसाइटीके त्रैमासिकमें निकल भी चुका है। इस यात्रामें इस सम्पूर्ण ग्रन्थका एक दूसरा तालपत्र मिल गया।

७—दुर्वेकमिश्र[1]। धर्मोत्तर-प्रदीप। धर्मकीर्तिके 'न्याय बिन्दु' पर आचार्य धर्मोत्तरकी पंजिका संस्कृतमें छप चुकी है, उसी पंजिकाकी यह टीका है और संभवतः मगधके किसी ब्राह्मण बौद्ध पण्डितने यह टीका लिखी है।

८—धर्मकीर्तिके ग्रन्थ 'हेतुबिन्दु'पर धर्माकरदत्तकी टीका थी, जो अब अनुपलब्ध है। उसी ग्रन्थपर दुर्वेकमिश्रने यह टीका लिखी है।

९—रत्नकीर्ति। इनके न्यायपर छोटे छोटे नौ निबंध (सर्वज्ञसिद्धि, अपोहसिद्धि, क्षणभंगसिद्धि, प्रमाणान्तर्भाव-प्रकरण, व्याप्तिनिर्णय, स्थिरसिद्धिदूषण, चित्राद्वैतप्रकरण, अवयविनिराकरण, सामान्यनिराकरण) इनमेंसे तीनको छोड़-

---

[1] ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

४—प्रमाणवार्तिक[1] (स्ववृत्ति)। धर्मकीर्तिने अपने मुख्य ग्रन्थके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्वय वृत्ति लिखी थी। इस वृत्तिका एक चतुर्थांश इन यात्रामें मिला।

५—स्ववृत्ति-टीका[1]—(आचार्य कर्णकगोमी कृत)। यह धर्मकीर्तिकी स्ववृत्तिपर एक अच्छी टीका है जो आठ हजार श्लोकोंके बराबर है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मिल गया है।

६—प्रमाणवार्तिक-भाष्य[1] (प्रज्ञाकरगुप्त कृत)। प्रज्ञाकरने स्वार्थानुमान परिच्छेद छोडकर बाकी तीन परिच्छेदोंपर विस्तृत भाष्य लिखा है। प्रज्ञाकर नैयायिक और कवि भी थे। उनका १।२ ग्रन्थ पद्यमें है और कितने ही पद्योंमें काव्यका आनन्द आता है। सस्कृत दार्शनिकोंमें गद्यपद्यमिश्रित ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली चलानेवाले प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं। ये नालदाके आचार्य थे। इनकी शैलीका अनुकरण पिछली शताब्दियोंमें उदयनाचार्य और पार्थसारथिमिश्रने किया है। प्रज्ञाकर महान् बौद्ध नैयायिकोंमेंसे एक हैं। पिछली यात्रामें मुझे प्रज्ञाकरके इस ग्रन्थके डेढ़ही अध्याय मिल सके थे, और आधा अध्याय मैं लिखकर लाया था जो विहार-उडीसा रिसर्च सोसाइटीके त्रैमासिकमें निकल भी चुका है। इस यात्रामें इस सम्पूर्ण ग्रन्थका एक दूसरा तालपत्र मिल गया।

७—दुर्वेकमिश्र[1]। धर्मोत्तर-प्रदीप। धर्मकीर्तिके 'न्याय विन्दु' पर आचार्य धर्मोत्तरकी पजिका सस्कृतमें छप चुकी है, उसी पजिकाकी यह टीका है और सभवत मगधके किसी ब्राह्मण बौद्ध पण्डितने यह टीका लिखी है।

८—धर्मकीर्तिके ग्रन्थ 'हेतुविन्दु'पर धर्माकिरदत्तकी टीका थी, जो अब अनुपलब्ध है। उसी ग्रन्थपर दुर्वेकमिश्रने यह टीका लिखी है।

९—रत्नकीर्ति। इनके न्यायपर छोटे छोटे नौ निबध (सर्वज्ञसिद्धि, अपोहसिद्धि, क्षणभगसिद्धि, प्रमाणान्तर्भाव-प्रकरण, व्याप्तिनिर्णय, स्थिरसिद्धिदूषण, चित्ताद्वैतप्रकरण, अवयविनिराकरण, सामान्यनिराकरण) इनमेंसे तीनसौ छोट-

---

१ ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

४—प्रमाणवार्तिक[1] (स्ववृत्ति)। धर्मकीर्तिने अपने मुख्य ग्रन्थके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्वय वृत्ति लिखी थी। इस वृत्तिका एक चतुर्थांश इन यात्रामें मिला।

५—स्ववृत्ति-टीका[1]—(आचार्य कर्णकगोमी कृत)। यह धर्मकीर्तिकी स्ववृत्तिपर एक अच्छी टीका है जो आठ हजार श्लोकोंके बराबर है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मिल गया है।

६—प्रमाणवार्तिक-भाष्य[1] (प्रज्ञाकरगुप्त कृत)। प्रज्ञाकरने स्वार्थानुमान परिच्छेद छोडकर बाकी तीन परिच्छेदोपर विस्तृत भाष्य लिखा है। प्रज्ञाकर नैयायिक और कवि भी थे। उनका १।२ ग्रन्थ पद्यमें है और कितने ही पद्योंमें काव्यका आनन्द आता है। संस्कृत दार्शनिकोंमें गद्यपद्यमिश्रित ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली चलानेवाले प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं। ये नालंदाके आचार्य थे। इनकी शैलीका अनुकरण पिछली शताब्दियोंमें उदयनाचार्य और पार्थसारथिमिश्रने किया है। प्रज्ञाकर महान् बौद्ध नैयायिकोंमेंसे एक हैं। पिछली यात्रामें मुझे प्रज्ञाकरके इस ग्रन्थके डेढही अध्याय मिल सके थे, और आधा अध्याय मैं लिखकर लाया था जो विहार-उडीसा रिसर्च सोसाइटीके त्रैमासिकमें निकल भी चुका है। इस यात्रामें इस सम्पूर्ण ग्रन्थका एक दूसरा तालपत्र मिल गया।

७—दुर्वेकमिश्र[1]। धर्मोत्तर-प्रदीप। धर्मकीर्तिके 'न्याय विन्दु' पर आचार्य धर्मोत्तरकी पंजिका संस्कृतमें छप चुकी है, उसी पंजिकाकी यह टीका है और सभवत मगधके किसी ब्राह्मण बौद्ध पण्डितने यह टीका लिखी है।

८—धर्मकीर्तिके ग्रन्थ 'हेतुविन्दु'पर धर्माकरदत्तकी टीका थी, जो अब अनुपलब्ध है। उसी ग्रन्थपर दुर्वेकमिश्रने यह टीका लिखी है।

९—रत्नकीर्ति। इनके न्यायपर छोटे छोटे नौ निबंध (सर्वज्ञसिद्धि, अपोहसिद्धि, क्षणभगसिद्धि, प्रमाणान्तर्भाव-प्रकरण, व्याप्तिनिर्णय, स्थिरसिद्धिदूषण, चित्ताद्वैतप्रकरण, अवयविनिराकरण, सामान्यनिराकरण) इनमेंसे तीनको छोड-

---

१ ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

एक पुस्तक नहीं। पोथी मैं यहाँ वेष्टनके अर्थमें ले रहा हूँ, एक पोथीमें अपूर्ण पुस्तक भी हो सकती है और अनेक पुस्तकें भी। दूसरी यात्रामें खंडित और अखंडित १८४ ग्रन्थ देखे थे और तीसरी बार खंडित और अखंडित १५१ ग्रन्थ देखे। पिछली यात्रामें कुछ दार्शनिक ग्रन्थ मिले थे। लेकिन उस समय फोटोका सामान पूरा न होने तथा लिखनेके लिये समयका अभाव रहनेसे मैं धर्मकीर्तिके वादन्याय (सटीक) और प्रमाणवार्तिकके आधे अध्यायके भाष्यको ही लिख कर ला सका। अन्य ग्रन्थोकी सिर्फ सूची बना सका था जो, १९३५ के बिहार-उडीसा रिसर्च सोसाइटीके जर्नलमें छपी। इस बार विशेषकर दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा दूसरे बौद्ध दार्शनिकोंके ग्रन्थोकी खोजमें ही वहाँ जाना पडा और उसमें इतनी सफलता हुई है कि जितनी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। वस्तुत तिब्बत जाते समय एक दिन मुझे स्वप्न भी आया था। जिसमें मैंने देखा कि कोई आदमी तालकी पोथियोका एक बडल बाँधकर मुझे दे गया। बडलको खोलनेपर उसमें दिङ्नागका प्रमाण-समुच्चय, धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्तिक तथा इसी तरहकी कुछ और न्यायकी पुस्तकें थी। यद्यपि इस यात्रामें भी बौद्ध न्यायका मूल ग्रन्थ दिङ्नागका प्रमाणसमुच्चय नही मिल सका, और जबतक वह नही मिल जाता तब तक मैं अपने कामको अधूरा ही समझूँगा, तो भी उस स्वप्नमें मुझे जितनी पुस्तकें मिली थीं उनसे कही अधिक मिली। न्याय ग्रन्थोमें मुझे निम्न ग्रन्थ मिले—

१—नागार्जुनकी विग्रहव्यावर्तनी-कारिका[1] (स्ववृत्ति-सहित)। इस ग्रन्थका विषय यद्यपि दर्शन है, तो भी उसमें न्याय-सम्बन्धी बातें भी आती हैं और एक प्रकारसे अबतक किसी भाषामें उपलम्य बौद्ध न्याय ग्रन्थोंमें यह सबसे प्राचीन है। वात्सयायनने न्याय भाष्यमें इसका खडन किया है, और जान तो पडता है कि न्याय-सूत्रकार दूसरे अध्यायमें इस ग्रन्थके कुछ मतोका खडन करते हैं।

२—धर्मकीर्ति[1]—प्रमाणवार्तिक तीन परिच्छेद मूल।

३—प्रमाण-वार्तिक-वृत्ति[1] (आचार्य मनोरथनन्दी कृत) चारों परिच्छेद-पर सम्पूर्ण। प्रमाणवार्तिक बहुत ही कठिन ग्रन्थ है, उसकी यह वृत्ति आशासे अधिक सरल है।

---

१ ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

४—प्रमाणवार्तिक[1] (स्ववृत्ति)। धर्मकीर्तिने अपने मुख्य ग्रन्थके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्वय वृत्ति लिखी थी। इस वृत्तिका एक चतुर्थांश इस यात्रामें मिला।

५—स्ववृत्ति-टीका[1]—(आचार्य कर्णकगोमी कृत)। यह धर्मकीर्तिकी स्ववृत्तिपर एक अच्छी टीका है जो आठ हजार श्लोकोंके बराबर है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मिल गया है।

६—प्रमाणवार्तिक-भाष्य[1] (प्रज्ञाकरगुप्त कृत)। प्रज्ञाकरने स्वार्थानुमान परिच्छेद छोडकर बाकी तीन परिच्छेदोपर विस्तृत भाष्य लिखा है। प्रज्ञाकर नैयायिक और कवि भी थे। उनका १।२ ग्रन्थ पद्यमें है और कितने ही पद्योंमें काव्यका आनन्द आता है। सस्कृत दार्शनिकोंमें गद्यपद्यमिश्रित ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली चलानेवाले प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं। ये नालदाके आचार्य थे। इनकी शैलीका अनुकरण पिछली शताब्दियोंमें उदयनाचार्य और पार्थसारथिमिश्रने किया है। प्रज्ञाकर महान् बौद्ध नैयायिकोंमेंसे एक हैं। पिछली यात्रामें मुझे प्रज्ञाकरके इस ग्रन्थके डेढही अध्याय मिल सके थे, और आधा अध्याय मैं लिखकर लाया था जो बिहार-उडीसा रिसर्च सोसाइटीके त्रैमासिकमें निकल भी चुका है। इस यात्रामें इस सम्पूर्ण ग्रन्थका एक दूसरा तालपत्र मिल गया।

७—दुर्वेकमिश्र[1]। धर्मोत्तर-प्रदीप। धर्मकीर्तिके 'न्याय विन्दु' पर आचार्य धर्मोत्तरकी पजिका सस्कृतमें छप चुकी है, उसी पजिकाकी यह टीका है और सभवत मगधके किसी ब्राह्मण बौद्ध पण्डितने यह टीका लिखी है।

८—धर्मकीर्तिके ग्रन्थ 'हेतुविन्दु'पर धर्माकरदत्तकी टीका थी, जो अब अनुपलब्ध है। उसी ग्रन्थपर दुर्वेकमिश्रने यह टीका लिखी है।

९—रत्नकीर्ति। इनके न्यायपर छोटे छोटे नौ निबंध (सर्वज्ञसिद्धि, अपोहसिद्धि, क्षणभगसिद्धि, प्रमाणान्तर्भाव-प्रकरण, व्याप्तिनिर्णय, स्थिरसिद्धिदूषण, चित्ताद्वैतप्रकरण, अवयविनिराकरण, सामान्यनिराकरण) इनमेंसे तीनको छोड-

---

१ ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

पाल (७६९-८०९ ई०)का समसामयिक मानते हैं। मैं चाहता हूँ कि हरसपाके सभी हिन्दी काव्यग्रन्थ मूल हिन्दीमें या तिब्बती अनुवादके रूपमें आधुनिक भाषान्तरके साथ सरह-ग्रन्थावलीके[1] नामसे प्रकाशित किये जायँ, जिसमें इस महान् हिन्दी कविके चरित और व्यक्तित्वपर भी प्रकाश डाला जाय।

पिछली यात्रामें ही तिब्बतमें मैंने बोध-गया-मन्दिरके पत्थरके तीन और लकडीका एक नमूना देखा था। इनमें पत्थरवाले नमूने गयाके पत्थरके हैं। शायद बारहवी शताब्दीसे पहले गयामें ऐसे नमूने बनकर बिका करते थे। तिब्बतके यात्री अपने साथ इन नमूनोको ले गये थे और आजकल वे नर्थङ तथा स्-क्याके मठोमें रखे हुए हैं। उनके देखनेसे मालूम होता है कि बोधगयाके प्रधान मन्दिर (जिसके पूरब तरफ तीन दरवाजे थे)के पश्चिमकी ओर बोधिवृक्षके पास भी एक दरवाजा-सा था। उसके आसपास, बहुतसे स्तूप और मदिर थे और सभी एक चहारदिवारीसे घिरे थे, जिसमें दक्षिण, पूर्व, उत्तरकी ओर तीन विशाल द्वार भिन्न-भिन्न आकारके थे। वर्तमान बोधगया मदिरका, जब पिछली शताब्दीमें जीर्णोद्धार हुआ तो उसके कितने ही भाग गिर गये थे और जीर्णोद्धारकोंके सामने पुराने मदिरका कोई नमूना नही था, इसीलिये तिब्बतमें प्राप्य नमूनेसे वर्तमान मदिरमें कही-कही विभिन्नता पाई जाती है।

तिब्बतके कुछ विहारोमें कितने ही भारतीय चित्रपट भी मिलते हैं, जिनका अजन्ताकी कलासे सीधा सम्बन्ध है। इन चित्रोंके फोटो लेनेकी मेरी बडी इच्छा थी, लेकिन उनके फोटोके लिए खास प्लेटकी जरूरत थी जो मेरे पास मौजूद न थे।

सा-स्क्य मठके ग्य-ल्ह-खङमें छोटी-छोटी कई सौ पीतलकी मूर्तियां है जिनमें सौ से अधिक भारतसे गई हुई है। इनके बननेका समय ५वींसे १२वी शताब्दी तक हो सकता है। इनमें ढाई दर्जनसे अधिक मूर्तियां तो कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त सुन्दर है। कुछ मूर्तियोपर लेख भी हैं। मैंने कितनी ही मूर्तियोका इस बार फोटो लिया है।

---

१ यह अब बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्से प्रकाशित हो रही है।

पहली यात्राओकी अपेक्षा मेरी इस वारकी यात्रा ग्याची, टशीलुम्पो, सा-स्क्या इस छोटेसे त्रिकोण—जिसकी प्रत्येक भुजा ६०-६५ मीलसे अधिक नही होती—तक ही परिसीमित रही है। यह त्रिकोण वस्तुत भारतसे सम्बन्ध रखनेवाली साहित्य और कलाकी अनमोल सामग्रियोका अच्छा सग्रह रखता है। मै कमसे कम एक वार और[1] मध्य-तिब्बतकी यात्रा करना चाहता हूँ और अच्छी तैयारीके साथ, जिसमें कि तिब्बतके जिन-जिन भागोमें भारतीय वस्तुओंके होनेकी सभावना पाई जाती है वहां-वहां जाकर सभी चीजोकी प्रतिलिपि या फोटो लिया जा सके।

---

१ यह यात्रा मैंने १९३८ में की।

१५. सारन (विहार)

विस्तार और सीमा

'सारन' विहारकी तिर्हुत कमिश्नरीका एक जिला है। इसका क्षेत्रफल २६७४ वर्गमील है। यह देवरिया, वलिया, आरा, पटना, मुजफ्फरपुर और चम्पारन जिलेसे घिरा हुआ है। इसकी उत्तरी और पूर्वी सीमा, गडक, पश्चिमी सीमा घाघरा (सरयू) और दक्षिणी सीमा गगा है।

इतिहास

प्राचीन समयमें कुछ दक्षिणपूर्वी भागके अतिरिक्त, सभी सारन जिला प्राचीन मल्ल देशमें था, जिन मल्लोकी एक शाखाके गणतन्त्रकी राजधानी 'कुसीनारा' (वर्तमान कसया, जि० गोरखपुर) थी। वुद्धके समयमें 'गडक'का नाम "मही" पाली-ग्रन्थोमें मिलता है, और उसीको मध्यदेशकी यमुना, गगा, सरयू, अचिरवती (राप्ती) और 'मही' में से एक कहा गया है। आज भी मढौडा फैक्टरीसे होकर वहनेवाली नदीका निचला भाग 'मही'के नामसे ही प्रसिद्ध है। यह 'मही' शीतलपुर स्टेशनके पास आकर पूरव तरफ घूम जाती है और सोनपुरमें हरिहरनाथ महादेवके पास जाकर गडकसे मिल जाती है। वुद्धके समय गडक इसी धारासे वहा करती थी और शीतलपुर या दिघवाराके पास कहीपर गगासे मिलती थी। उस समय 'मही'के पूर्वका भाग—जिसमें आजकल दिघरावा, मिर्जापुर, परसा और सोनपुरके थाने हैं—गडक-पारके भागसे मिला था। यह भाग इन प्रकार वैशालीके शक्तिशाली गणराज्यके अधीन था। आज भी इस भागकी भाषा सारनके और भागोकी भाषासे कुछ भेद रखती है, और मुजफ्फरपुर जिलेके गडकके किनारेवाले भागकी भाषासे मेल रखती है। उदाहरणार्थ जहाँ सारनके और भागोमें "न" (नही) कहते हैं, वहाँ, यहाँके लोग "न" कहते हैं। वस्तुत यह वोली आसपासकी भोजपुरी, मगही और मैथिली वोलियोंसे भिन्नता रखती है। यह भाग, जो पहले वैशालीके लिच्छवी क्षत्रियोंके वज्जी-गणराज्य

में था, गडककी धाराके वदल जानेसे 'सारन' में चला आया। आज भी "मही" के पूर्वकी भूमि अधिकतर "वलुवा" (वालुका-मिश्रित) है, और साथ ही हरदिया आदिके 'चौर' (झील) भी इसी भागमें पडते हैं, हैं जो वतला रहे कि, किसी समय गडककी धार इन्ही जगहो से वहती थी। लोग भी कहते हैं कि, यह सारी भूमि गडककी चाली हुई है।

इस प्रकार वर्तमान 'सारन' जिला प्राचीन मल्ल और वज्जी देशोंके भागमे वना है। उक्त दोनो ही देश स्वतन्त्रताप्रिय और गणराज्यवादी थे। कौन कह सकता है कि, आज सारन-वासियोंमें जो निर्भीकता, जो स्वातत्र्य-प्रियता, जो उद्योगपरायणता, जो साहसिकता पाई जाती है, उसको उन्होने अपने सहस्रो वर्प पूर्वके पूर्वजोंसे वरासतमें नही पाया? गणतन्त्र जव आगे जाकर मगव-साम्राज्यमें मिल गये, उसी समय सारनका भी मगव-साम्राज्यमें मिल जाना सभव है। मौर्योंकि समयकी यद्यपि कोई चीज सारनमें नही मिली है, तोभी इससे यह निष्कर्प निकालना ठीक नही होगा कि, उस समयकी कोई सामग्री यहां है ही नही। वात यह है कि, सारनमें चिरांद, माझी, घूरापाली, दोन, सिवान, कल्याणपुर, वढया, दिघवा-दुवौली, अमनौर, सारन, पपडर, सोनपुर आदि कितने ही स्थान प्राचीन ध्वसावशेपोंसे पूर्ण हैं, लेकिन आजतक उनकी खुदाई की ही नही गई। सोनपुरमें, गडकके किनारे कालीजीके मदिरके पीछेवाली ठाकुरवाडीके आंगनमें, तुलसी-चौतरेसे जडा हुआ, शुगकालीन (ईसा-पूर्व दूसरी सदीका) एक स्तम्भ है। यह स्तम्भ उस समयके और स्तम्भोकी तरह चुनारके पत्थरका वना हुआ है। यह वुद्ध-गयामें प्राप्त कठघरे (Railing) के खम्भे जैसा है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे पत्थर उसी जगह निकले हैं, यद्यपि उनका समय नहीं कहा जा सकता। उक्त स्थानसे उत्तर तरफ मध्य-कालीन कुछ मूर्तियां भी मिलती हैं। दिघवा-दुवौलीमें एक ताम्रपत्र भी है, जिसमें कन्नौजके गुर्जर-प्रतिहार-वशीय राजा महेन्द्रपालने 'सावर्णगोत्री भट्ट पद्मसर'को एक गांव दान किया था। उससे यह भी मालूम होता है कि, उस समय ताम्र-पत्रमें दिया गया गांव श्रावस्ती-मण्डलके 'वालसिका' विपय (जिला)में था। आज भी वह ताम्रपत्र दिघवांके पांडे लोगोंके घरमें है। मालूम होता है कि, सातवी-आठवीं शताब्दीमें 'सारन' कन्नौजके अधीन था, इसलिये कन्नौज-राज्यके

भीतर बसनेवाले अन्य ब्राह्मणोकी तरह सारन जिलेके ब्राह्मण भी कनौजिया कहे जाते हैं। सरयू-पारके होनेसे इन्हें 'सरयूपारी' या 'सरवरिया' भी कहते हैं। ब्राह्मणोंके अतिरिक्त हजाम, कोइरी, अहीर आदि जातियोमें भी कनौजिया काफी मिलते हैं। यही नही कि गुर्जर-प्रतिहारोसे पहले, जिस समय (७वी शताब्दीमें) कन्नौजके सिंहासनपर सम्राट् हर्षवर्द्धन विराजमान थे—उस समय, यह जिला कान्यकुब्ज-साम्राज्यके अन्तर्गत था, बल्कि उनके स्वजातीय बैस-क्षत्रियोंने, मालूम होता है, इस जिलेके 'इकमा' थानेके 'घूरापाली' गाँवमें एक गढ भी बनवाया था। आज भी बैसोका वह गढ सडकसे थोडा दक्षिण हटकर 'दिजोर'-के नामसे प्रसिद्ध है। समयान्तरमें जब बैसोकी शक्ति क्षीण हो गई, तब वे लोग अपने गढको छोडकर और स्थानोमें—अतरसन, कोठियाँ-नराँव आदि—चले गये। उनके वशधर आज भी इन जगहोमें मौजूद हैं। अतरसन और कोठियाँ-नराँवके बैस-क्षत्रिय आज भी 'दिजोर'की सती-माईको पूजने जाते हैं। आज भी उन्हें अपनी प्राचीन स्मृतिका एक धुँधला-सा ख्याल है। मालूम होता है, गढ छोडनेका कारण 'लाकठ' (राष्ट्रकूट या राठौर या गहरवार) हुए थे। सभवत जब कन्नौजमें गहरवारोका राज्य हुआ, तब उसी समय उनके स्वजातीय 'लाकठ' लोग इधर आये। उन्होने बैस-क्षत्रियोकी प्रभुताको हटाकर अपना सिक्का जमाया। आज भी 'दिजोर'के आसपासके गाँव लाकठोंके हैं। अतरसनमें भी, बैस-क्षत्रियोकी स्थिति बहुत खराब नही हुई थी। तुर्कोंके आनेके समय अतर-सनमें एक अच्छा विष्णु-मन्दिर था, जिसकी काले पत्थरोकी विष्णुमूर्ति आज भी उपलब्ध होकर एक शिवालयमें रखी हुई है। वहीपर गणेशकी मूर्तिके खण्ड भी मिले हैं। साथ ही एक छोटी-सी बोधि-सत्वकी प्रतिमा यह बतला रही है कि, कभी यहाँ बौद्ध भी थे। जान पडता है, तुर्कोंने यहाँके मन्दिरोको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। पीछे कितने ही दिनोतक कितने ही तुर्क यहाँ रहते भी थे, जिनकी तकिया और कब्रोकी हड्डियाँ आज भी उपलब्ध होती हैं।

'माँझीमें' भी पालोंके समयकी बुद्ध-मूर्ति मिलती है। 'चिराँद'में किसी एक बौद्ध विहार या स्तूपके ऊपर बगालके शाहोकी बनवायी मस्जिद है। 'दोन'में एक पुराने स्तूपका ध्वसावशेष मिला है। और जगहोमें यद्यपि उतना अन्वेषण नही हुआ है, तो भी बडी-बडी ईंटें, पुराने कुएँ आदि मिलते हैं। मालूम पडता

है, तुर्कोंके हाथमें कन्नौजके चले जानेपर भी जयचन्दके पुत्र हरिश्चन्द्रका इस जिलेपर अधिकार था। हरिश्चन्द्रके वाद (१३वीं शताब्दी में) यह जिला दिल्लीके अधीन हो गया। मुसलमानी समयमें जिलेका प्रधान स्थान 'सारन' था, जो आज एक वडे लम्बे-चौडे 'डीह' (ऊँचे स्थान)पर एक छोटा-सा गाँव है। मुसलमानी कालमें इस जिलेका नाम 'सरकार सारन' था। १३ वी शताब्दी-से १८ वी शताब्दीतक यह जिला यद्यपि मुसलमानोंके हाथमें रहा, तो भी सारनके उत्तरी भागका परगना 'कुआडी' और उसके आसपासके कुछ हिस्से प्रतापी वगौछियोंके हाथमें था। इस वशके लोग पहले कल्याणपुरमें राज्य करते थे, पीछे राजधानी 'हुस्सेपुर' हुई। जव अँगरेजोंके आनेपर (१७६५ ई० में) वीर-श्रेष्ठ महाराज फतेह साहीने अँगरेजोकी तावेदारी स्वीकार न की, तव कम्पनीसे वहुत सघर्ष हुआ। इस सघर्षमें महाराजको हुस्सेपुर छोडकर 'तमकुही'के जगलोंमें चला जाना पडा। सारनके इस 'प्रताप' (फतेहसाही)ने महाराणा प्रतापकी तरह न जाने कितने कष्ट सहे, लेकिन तो भी जीवन-भर उसने दासता स्वीकार नही की। अँगरेजोने १७९१ ई० में उसका राज्य भाईके पोते छत्रधारी साहीको दे दिया। उस समयसे राजधानी 'हथुआ' हो गई।

वगौछिया 'व्याघ्रपद-गोत्र'से वना है। मल्लोकी ९ शाखाओंमें कोली भी एक शाखा थी, जिसके वशमें सिद्धार्थ गौतमकी शादी हुई थी। ये कोली लोग व्याघ्रपद-गोत्रके थे, और मल्लोकी शाखा होनेके कारण अन्य मल्लोकी तरह इनके नामके साथ भी 'मल्ल' लगना स्वाभाविक था। 'हथुआ' के राजाओकी, पचासो पुरानी पीढियो तक, कल्याणमल्ल आदिकी तरह, 'मल्ल' उपाधि होती थी। वस्तुत 'पडरौना'के राजा साहव (जो आज-कल सैंथवार कहे जाते है) और हथुआ तथा तमकुहीके वगौछिया (जो आज-कल भूमिहार-ब्राह्मण कहे जाते है) एव मझौलीके राजा साहव (जो आज-कल विसेन-राजपूत कहे जाते हैं) एक ही मल्ल-क्षत्रियोंके वशधर हैं। कालान्तरमें, भिन्न-भिन्न जातियो से विवाह-सम्वन्ध, प्रभुताहानि, राज्य-क्रान्ति आदि कारणोंसे इन्हे तीन जातियो में वँट जाना पडा। मझौलीके राजवशमें भी राजाओंके नाम 'मल्ल' ही पर होते हैं। सैंथवारोंमें तो गरीव-से-गरीव सैंथवार मल्ल ही के नामसे पुकारा जाता है। आज भी यह जाति मल्ल-देशके केन्द्रमें वसती है।

सारनमें 'अमनौर'के बाबू साहब एक प्रतिष्ठित राजपूत-वंशके हैं। यह वंश गहरवारो या राठौरोकी एक शाखा से है और यहाँ 'कर्मवार'के नामसे प्रसिद्ध है। कर्मवारोंके पहले अमनौर चौहानोंका था। अब भी आसपासके कितने ही गाँवोमें चौहानोकी काफी संख्या है। तुर्कोंके आनेसे पहले भी यह स्थान अवश्य कुछ महत्त्व रखता था। आज भी अमनौरमें, "रहता बाबा"के नामसे प्रसिद्ध, विशाल विष्णुमूर्तिके सिंहासन वाला काले पत्थरका भाग मौजूद है, जिससे मालूम होता है कि, किसी समय यहाँ एक विशाल विष्णु-मन्दिर था। पुराने गढका निशान अभी मौजूद है। यह मन्दिर संभवत १३वी शताब्दीमें तोड दिया गया। तो भी बहादुर चौहान अपने अधिकारको छोडनेके लिये तैयार न थे। दिल्लीको यहाँसे कौडी मिलनी मुश्किल थी। इसीलिये बादशाहने 'मकेर' परगना (जिसमें 'अमनौर' है) एक मुसलमानी फकीरको माफी दे दिया। उक्त फकीरके साथ, दखल करनेके लिये, कर्मवार-क्षत्रिय अमनौर पहुँचे। कहते हैं, फकीरने अपने लिये सिर्फ 'मकेर' गाँव रखा और बाकी कर्मवारोको दे दिया। इसी वंशके दो भाइयोमेंसे एक भाई किसी कारण मुसलमान हो गया, जिसके वंशधर आज-कल मुजफ्फरपुर जिलेके परसौनीके राजा साहब हैं और दूसरेके वंशधर अमनौरके बाबू साहब हैं। एक बार अमनौरकी सभा सम्पत्ति नष्ट हो चुकी थी, पीछे यहाँके कोई पुरुष पेशवाके दरबारमें गये और वहाँ उन्होने अपनी बहादुरीसे बडा सम्मान पाया। मराठा-साम्राज्यके नष्ट होनेपर उक्त पुरुष बहुत सम्पत्तिके साथ अमनौर आये और उन्होने फिर बहुत-सी जमीन्दारी खरीदी।

किसी समय इस जिलेके अधिकाशके अधिपति 'एकसरिया भूमिहार' थे। यद्यपि इनकी अवस्था अब पहलेकी-सी नही है, तो भी परसा, चैनपुर और बगौरा-के बाबू लोगोंके पास काफी जमीन्दारी रही। मुसलमानोमें 'खोजवाँ'के नवाब-खान्दानकी बडी प्रतिष्ठा है। ये लोग शिया मुसलमान हैं, हिन्दुओंसे इनका सम्बन्ध हमेशा ही अच्छा रहा है।

सन् १७६५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनीको विहार और बंगालकी दीवानी मिली। उसी समय सारन जिला भी अँगरेजोंके हाथ आया। पहले 'सारन' और 'चम्पारन' एक ही जिलेमें सम्मिलित थे। १८३७ ई० में 'चम्पारन' एक

स्वतन्त्र जिला मान लिया गया, लेकिन दोनोकी मालगुजारी अलग न की गई। १८६६ में वह भी अलग कर दी गई। जिस समय सारन और चम्पारनका एक जिला था, उस समय 'परसा' (थाना परसा) में दीवानी कचहरी थी और उसकी वडी श्रीवृद्धि भी थी। १८४८ ई० में 'सिवान' और १८७५ ई० में 'गोपालगज' नाम के दो सवडिवीजन कायम हुए, जिसके कारण कचहरियाँ वहाँ चली गई और इस प्रकार सिवान और गोपालगजकी तरक्की होने लगी।

नदियाँ, उपज और व्यापार

सारन जिलेमें यद्यपि धानकी खेती काफी होती है, तो भी कितने ही भाग रवी और खरीफके लिये ही उपयोगी हैं। किसी समय इस जिलेमें नीलकी वहुत-सी कोठियाँ थीं, लेकिन नीलके उठनेके साथ-साथ वे खतम हो गई। इस जिलेमें ईख भी अच्छी होती है। महरौडा, पँचरुखी, महाराजगज, सिवान, सिववलिया-के चीनीके कारखानोंके कारण ईखकी खेतीमें और भी तरक्की हुई है। यद्यपि सिंचाईका समुचित प्रवन्ध नही है, तोभी कई इलाकोकी ईख इन कारखानोंके द्वारा खतम नही होने पाती। आज भी इस जिलेमें आधे दर्जन वडे-वडे चीनीके कारखानोकी गुञ्जायश है। मसरखथावे-लाइन (पूर्वोत्तर रेलवे)के खुल जानेसे ईख वोने वालोको आसानी हो गयी।

महाराजगज और मीरगजकी मण्डियोमें कपासकी काफी आमदनी होती है। यद्यपि कपासकी खेतीके लिये उत्साह देनेका प्रवन्ध नही है, तो भी कपास वोई जाती है और कपास वोने योग्य भूमि भी वहुत है। किसी समय जव इन दोनो जगहोंमें कपडेके कारखाने खुल जायेंगे, तव इसमें शक नही कि, कपासकी खेतीमें भी वैसी ही उन्नति होगी, जैसी चीनीके कारखानोंसे ईखकी खेतीमें। भाठ जमीनमें रेंडीकी भी खूव खेती होती है। इनके अतिरिक्त जौ, गेहूँ, सरसो, मटर, चना, मकई आदिकी पैदावार भी होती है। 'कुआडी' परगनेकी तरफ कोदो और अन्य स्थानोपर मँडुएकी भी खेती होती है। जिलेके गरीव किसान अधिकतर मँडुआ, मकई, कोदो और शकरकद तथा भुयनीपर गुजर करते हैं।

सारनकी आवादी वहुत ही घनी है। जोतने लायक भूमि सभी जोती जा चुकी हैं। पशुओंके चरनेके लिये वहुत कम जगह वाकी है। खेतके जोतने-वोनेमें जितना परिश्रम यहाँके किसान करते हैं, उतना विहारके किसी जिलेके

नही। एक तरहसे, प्राचीन ढँगके अनुसार खेतीकी जितनी उन्नति की जा सकती है, उतनी यहाँ हो चुकी है। इसमें और अधिक उन्नति करनेके लिये वैज्ञानिक रीतिका अवलम्बन करना होगा, जिसमें अनेक कठिनाइयाँ है। पहली कठिनाई यह है कि, खेत वहुत छोटे-छोटे टुकडोमें वँट गये है और कई जगह विखरे हुए हैं। दूसरी कठिनाई है, सिंचाईका ठीक प्रवध न होनेके कारण लोगोको अधिकतर दैवपर भरोसा रखना पडता है। तीसरी वात यह है कि, और जगहोकी तरह यहाँके किसानोका भी सहयोग-समितियो, सरकारी वैज्ञानिक खेतो और कीमती कलोपर विश्वास नही है, क्योकि ये चीजें ऐसे लोगो और महकमो द्वारा उनके सामने पेश की जाती हैं कि वे उन्हे अपने वस और नफेकी वात नही समझते। इन कठिनाइयोंके हट जानेपर इसमें शक नही कि, यह जिला सबसे पहले नवीन ढँगकी खेतीको अपनायेगा क्योकि घनी आवादी और अधिक जनसख्याके कारण इस जिलेमें जीवन-सघर्ष अधिक है। यहाँके निवासी वहुत पहलेहीसे आमदनीके हर-एक रास्तेको स्वीकार करनेके लिये तैयार हैं। यहाँके स्वतन्त्र-व्यवसाय-प्रेमी निवासी, किसान, दूकानदार, हजाम, मजदूर, दरवान आदि केवल बिहारहीके हर एक जिलेमें नही, वल्कि दार्जिलिंग, कलकत्ता, रगून, पूर्व वगाल, आसाम, वर्मा और सिंगापुर तक फैले हुए है। यहाँ तक कि, समुद्र-पार मोरिशस, दक्षिणी अफ्रीका, फीजी, ट्रिनीडाड, गायना आदिमें भी हजारोकी सख्यामें जाकर वस गये हैं। अपनी भाषा, भेख और व्यक्तित्वका जितना खयाल सारन-निवासियोको है, उतना शायद ही किसी और जिलेके निवासियोको होगा। यहाँके उच्चशिक्षित जन भी घर या विदेशमें—कही भी—मिलनेपर, अपनीही बोली (भोजपुरी)का प्रयोग करते हैं। चाहे यहाँके हिन्दू और मुसलमान घरमें लडते हो, तो भी विदेशोमें जानेपर अक्सर देखा जाता है, कि वे मजहवसे भी अधिक अपने जिलेको मानते हैं।

गगा, सरयू, गडक—इन तीन वडी नदियोंके अतिरिक्त झरही, दाहा आदि कितनीही नदियाँ इस जिलेमें हैं, जो अधिकतर किसी झीलसे निकली हैं अथवा जो गडक, घाघरा (सरयू) या गगासे निकलनेवाले सोते (स्रोत) हैं। गडककी धारा अनिश्चित है, इसी कारण सारे जिलेमें उसके लिये एक मजवूत वाँध वाँधा गया है। यद्यपि इस वाँधके कारण आसपासकी वस्तियाँ वाढ़से सुरक्षित हैं,

तो भी वाढ़की उपजाऊ मिट्टी न मिलनेके कारण आसपासके खेतोकी उर्वरा-शक्ति वहुत ही क्षीण हो गई है। यह अन्तर फसलके वक्त गडकके वाँधपर खडा होकर दोनो ओर देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है। जहाँ वाँधके भीतर विना खाद, सिंचाई और काफी जुताईके ही फसल उपजकर गिर जाती है, वहाँ वाँधसे वाहर पीले-पीले पौधे एकदम मुर्झाये हुए दीख पडते हैं। गडककी धार वहुत ऊँचेसे वहती है, इसीलिये अल्प परिश्रमसे नहरें निकाली जा सकती हैं। पहले 'सारन नहर' (Saran Canal) काम भी कर रही थी, लेकिन कितने ही वर्षोसे उन्हे वन्द कर दिया गया। इसी तरह कुछ झीलो (चौरो)से पानीके निकास न होनेके कारण फसलका नुकसान होता है। उदाहरणार्थ हरदियाका चौर है। लेकिन अभी तक सरकारको उधर ध्यान देनेकी फुरसत ही नही है। छपरा मुफस्सिल थानेके कितने ही स्थानोको सरयू और गगाका पानी नहरो द्वारा मिलता था, किन्तु न अव जमीन्दारोको उसकी परवाह है न सरकारको।

छपरा, सिवान, महाराजगज और मीरगज इस जिलेमें व्यापारके केन्द्र है। इसके अलावा मसरख, मैरवाँ, थावे, वरौली आदिमें भी अच्छे वाजार हैं। सिवानमें मिट्टी और काँसेके वरतन अच्छे वनते हैं। परसा (थाना इकमा)में भी काँसेके वरतनोकी अच्छी ढलाई होती है। चिरांद और दिघवारेके आसपास पानकी उपज अच्छी होती है, "परवल"की पैदावार भी खूव होती है।

जाति और सम्प्रदाय

इस जिलेमें सत्तासी फीसदी से अधिक सख्या हिन्दुओकी है, वाकी मुसलमान हैं। ईसाई या दूसरे मजहववाले नाम-मात्रके हैं। 'मुसलमान' सिवान और वडहरिया थानेमें अधिक हैं, जिनमें जुलाहा, धुनिया आदिकी संख्या ज्यादा है। कितने ही राजपूत और भूमिहार 'मुसलमान' होकर अव पठान कहे जाते हैं। कितने ही वढई, माली और तेली भी मुसलमान पाये जाते हैं। 'कुआडी'में कितने ही हिन्दू दर्जी भी हैं। हज्जाम और धोवी दोनो मजहवके पाये जाते हैं। शिया मुसलमानोकी सख्या वहुत कम है, तो भी वे अधिक शिक्षित, सभ्य और धन-सम्पन्न हैं। अधिक सख्या यहाँ परसा और मिर्जापुरके थानेमें अहीरोकी है। हिन्दुओमें गगा और गडकके दीयरो और कछारोमें, गोचर-भूमिकी अधिकताके कारण, इन (अहीरो)की सख्या अधिक मिलती है। यह वडी मेहनती और

नही। एक तरहसे, प्राचीन ढँगके अनुसार खेतीकी जितनी उन्नति की जा सकती है, उतनी यहाँ हो चुकी है। इसमें और अधिक उन्नति करनेके लिये वैज्ञानिक रीतिका अवलम्बन करना होगा, जिसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह है कि, खेत बहुत छोटे-छोटे टुकडोमें बँट गये हैं और कई जगह बिखरे हुए हैं। दूसरी कठिनाई है, सिंचाईका ठीक प्रबंध न होनेके कारण लोगोको अधिकतर दैवपर भरोसा रखना पडता है। तीसरी बात यह है कि, और जगहोंकी तरह यहाँके किसानोका भी सहयोग-समितियो, सरकारी वैज्ञानिक खेतो और कीमती कलोपर विश्वास नही है, क्योकि ये चीजें ऐसे लोगो और महकमो द्वारा उनके सामने पेश की जाती हैं कि वे उन्हे अपने बस और नफेकी बात नही समझते। इन कठिनाइयोंके हट जानेपर इसमें शक नही कि, यह जिला सबसे पहले नवीन ढँगकी खेतीको अपनायेगा क्योकि घनी आबादी और अधिक जनसंख्याके कारण इस जिलेमें जीवन-संघर्ष अधिक है। यहाँके निवासी बहुत पहलेहीसे आमदनीके हर-एक रास्तेको स्वीकार करनेके लिये तैयार हैं। यहाँके स्वतंत्र-व्यवसाय-प्रेमी निवासी, किसान, दूकानदार, हजाम, मजदूर, दरवान आदि केवल बिहारहीके हर एक जिलेमें नही, बल्कि दार्जिलिंग, कलकत्ता, रंगून, पूर्व बंगाल, आसाम, बर्मा और सिंगापुर तक फैले हुए हैं। यहाँ तक कि, समुद्र-पार मोरिशस, दक्षिणी अफ्रीका, फीजी, ट्रिनीडाड, गायना आदिमें भी हजारोंकी संख्यामें जाकर बस गये हैं। अपनी भाषा, भेख और व्यक्तित्वका जितना खयाल सारन-निवासियोंको है, उतना शायद ही किसी और जिलेके निवासियोंको होगा। यहाँके उच्चशिक्षित जन भी घर या विदेशमें—कही भी—मिलनेपर, अपनीही बोली (भोजपुरी)का प्रयोग करते हैं। चाहे यहाँके हिन्दू और मुसलमान घरमें लडते हो, तो भी विदेशोमें जानेपर अक्सर देखा जाता है, कि वे मजहबसे भी अधिक अपने जिलेको मानते हैं।

गंगा, सरयू, गंडक—इन तीन बडी नदियोंके अतिरिक्त झरही, दाहा आदि कितनीही नदियाँ इस जिलेमें हैं, जो अधिकतर किसी झीलसे निकली हैं अथवा जो गंडक, घाघरा (सरयू) या गंगासे निकलनेवाले सोते (स्रोत) हैं। गंडककी धारा अनिश्चित है, इसी कारण सारे जिलेमें उसके लिये एक मजबूत बाँध बाँधा गया है। यद्यपि इस बाँधके कारण आसपासकी बस्तियाँ बाढ़से सुरक्षित हैं,

तो भी बाढकी उपजाऊ मिट्टी न मिलनेके कारण आसपासके खेतोकी उर्वरा-शक्ति बहुत ही क्षीण हो गई है। यह अन्तर फसलके वक्त गडकके बाँधपर खडा होकर दोनो ओर देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है। जहाँ बाँधके भीतर बिना खाद, सिंचाई और काफी जुताईके ही फसल उपजकर गिर जाती है, वहाँ बाँधके बाहर पीले-पीले पौधे एकदम मुर्झाये हुए दीख पडते हैं। गडककी धार बहुत ऊँचेसे बहती है, इसीलिये अल्प परिश्रमसे नहरें निकाली जा सकती हैं। पहले 'सारन नहर' (Saran Canal) काम भी कर रही थी, लेकिन कितने ही वर्षोंसे उन्हे बन्द कर दिया गया। इसी तरह कुछ झीलो (चौरो)मे पानीके निकास न होनेके कारण फसलका नुकसान होता है। उदाहरणार्थ हरदियाका चौर है। लेकिन अभी तक सरकारको उधर ध्यान देनेकी फुरसत ही नही है। छपरा मुफस्सिल थानेके कितने ही स्थानोको सरयू और गगाका पानी नहरो द्वारा मिलता था, किन्तु न अब जमीन्दारोको उसकी परवाह है न सरकारको।

छपरा, सिवान, महाराजगज और मीरगज इस जिलेमें व्यापारके केन्द्र हैं। इसके अलावा मसरख, मैरवाँ, थावे, बरौली आदिमें भी अच्छे बाजार है। सिवानमें मिट्टी और काँसेके बरतन अच्छे बनते हैं। परसा (थाना इकमा)में भी कांसेके बरतनोकी अच्छी ढलाई होती है। चिरांद और दिघवारेके आसपास पानकी उपज अच्छी होती है, "परवल"की पैदावार भी खूब होती है।

जाति और सम्प्रदाय

इस जिलेमें सत्तासी फीसदी से अधिक सख्या हिन्दुओकी है, बाकी मुसलमान हैं। ईसाई या दूसरे मजहबवाले नाम-मात्रके हैं। 'मुसलमान' सिवान और बडहरिया थानेमें अधिक हैं, जिनमें जुलाहा, धुनिया आदिकी सख्या ज्यादा है। कितने ही राजपूत और भूमिहार 'मुसलमान' होकर अब पठान कहे जाते हैं। कितने ही बढई, माली और तेली भी मुसलमान पाये जाते हैं। 'कुआडी'में कितने ही हिन्दू दर्जी भी हैं। हज्जाम और धोबी दोनो मजहबके पाये जाते हैं। शिया मुसलमानोकी सख्या बहुत कम है, तो भी वे अधिक शिक्षित, सभ्य और धन-सम्पन्न हैं। अधिक सख्या यहाँ परसा और मिर्जापुरके थानेमें अहीरोकी है। हिन्दुओमें गगा और गडकके दीयरो और कछारोमें, गोचर-भूमिकी अधिकताके कारण, इन (अहीरो)की सख्या अधिक मिलती है। यह बडी मेहनती और

वहादुर जाति है, लेकिन गाय-भैसोके पालनेकी पहले-जैसी सुविवा न होनेके कारण इनकी आर्थिक अवस्था वहुत गिरी हुई है। इस जिलेके लोगोको पशु-रक्षासे वडा प्रेम है और वे अपने वैलोको खिला-पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटोमें वेचते रहते है।

अहीरोंके वाद इस जिलेमें राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही सख्यामें अविक है, जिनमें स्वावलम्बी एव स्वाभिमानी भूमिहार-ब्राह्मण आर्थिक दृष्टिसे सबसे अच्छे हैं। शिक्षामें कायस्थोंके वाद इन्हीका नम्वर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी है। कोइरी ऐसे तो जिले भरमें फैले हुए हैं, लेकिन 'कुआडी'में उनकी सख्या वहुत है। जैसवार-कुर्मीके अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थानेमें अधिक मिलते है। राजपूतो और भूमिहारोमें कितनी हो एक ही गोत्र और एक ही मूलकी उपजातियाँ हैं। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनो ही के गोत्र काश्यप है। जान पडता है ये जातियाँ एक ही वशकी दो शाखाएँ हैं, जो कालान्तरमें दो—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णोमें विभक्त हो गईं। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार'के रूपमें परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दुओमें शैव, वैष्णव, कवीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्यसमाजी आदि कितने ही मतके आदमी मिलते हैं।

मेले

गाय, वैल, हाथी, घोडा, सभीके क्रय-विक्रयके लिये 'सोनपुर' (हरिहरक्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। सोनपुरमें, कार्तिकी पूर्णिमाको, १५ दिनोंके लिये, एक खासा शहर वस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भरके सौदागर हर तरहकी चीजें वेचनेको लाते हैं। उस वक्त तो कई हजार हाथी ही विकनेको आते हैं। मेलेमें अव पानीके कलका भी प्रवन्ध हो गया है और विजलीका भी। १८५७ के विद्रोहके समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धोका कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना वडा न था। मुसलमानी शासनके अन्तिम दिनो या कम्पनीके आरम्भिक दिनोमें इस मेलेका आरम्भ हुआ जान पडता है। हाँ, हरिहरनाथकी पूजाका छोटा-मोटा मेला पहलेका भी हो सकता है। सोनपुर-के अतिरिक्त चैत्र-रामनवमीको लगनेवाला 'डुमरसन'का घोडा-वैलकामेला

भी प्रसिद्ध है। वरईपट्टी, छितौली आदिमें भी घोडा-वैलके मेले लगते हैं। ऐसे तो हाटकी तरह सप्ताहमें वैल-हट्टा पचासो जगहोमें लगा करता है। और स्नान-सम्वन्धी मेलोमें सेमरिया, आमी, सिल्हौरी, ढोढनाथ, मेंहदार, थावे और भैरवांके भी मेले उल्लेखनीय हैं।

साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहांके पुराने समयके साहित्यिकोका कोई पता नही मिलता। मल्ल और वज्जी दोनो ही देशोमें अब्राह्मण धर्मोकी ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहांके लोगोमें कवि और विचारक पैदा हुए होगे, लेकिन मालूम होता है कि, पीछे उनके नाम और उनकी कृतियां, दोनो ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमाने-में, शाहजहांके समय, माझीमें धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञानप्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अव भी मौजूद हैं। मांझीके मुसलमान-राजपूत वावू लोग कविताके वड़े ही प्रेमी थे। कवीर-पन्थियोका अत्यन्त पुराना मठ 'वनौती'में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७ वीं शताव्दी)के वादके साहित्यिकोंके नाम भी आज-कल मिलने मुश्किल हैं। १९ वी शताव्दीके मध्यमें गयासपुर (थाना 'सिसवन')के 'सखावत'ने वीर कुंवरसिंहका "कुंअर-पचासा" वनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिसका एक पद्य इस तरह है--

"वारह सौ एकसट्ठमें, ग्रीषम रितु जेठ मास।
वावू कूअर सिंह ने, किय गोरनको नास॥"

सखावतने रावण-मन्दोदरी-सवाद भी लिखा था। उनकी कविताएं अव भी कुछ लोगोको कण्ठस्थ हैं, लेकिन पाठ वहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके वाद १९ वी शताव्दीके अन्तमें मांझाके स्वामी वावू श्रीधर साही तथा पटेढीके वावू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वय कवि थे। श्रीधर कविकी एक कविता इस प्रकार है—

"एरी रसना तू रसवाली चाहवे तो,
रसका पियाला मैं पिलाऊं तोहि रहु-रहु।।
यही लोभ लिये मैं तो मेवाजात कावुलको,
मोल ले खिलाऊं औ खिलाऊं जौन चहु-चहु।

वहादुर जाति है, लेकिन गाय-भैंसोके पालनेकी पहले-जैसी सुविधा न होनेके कारण इनकी आर्थिक अवस्था वहुत गिरी हुई है। इस जिलेके लोगोको पशु-रक्षासे बडा प्रेम है और वे अपने वैलोको खिला-पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटोमें वेचते रहते है।

अहीरोंके वाद इस जिलेमें राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही सख्यामें अधिक है, जिनमें स्वावलम्बी एव स्वाभिमानी भूमिहार-ब्राह्मण आर्थिक दृष्टिसे सबसे अच्छे है। शिक्षामें कायस्थोंके वाद इन्हीका नम्बर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी हैं। कोइरी ऐसे तो जिले भरमें फैले हुए हैं, लेकिन 'कुआडी'में उनकी सख्या वहुत है। जैसवार-कुर्मीके अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थानेमें अधिक मिलते है। राजपूतो और भूमिहारोमें कितनी ही एक ही गोत्र और एक ही मूलकी उपजातियाँ हैं। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनो ही के गोत्र काश्यप हैं। जान पडता है ये जातियाँ एक ही वशकी दो शाखाएँ हैं, जो कालान्तरमें दो—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णोमें विभक्त हो गई। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार'के रूपमें परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दुओमें शैव, वैष्णव, कवीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्यसमाजी आदि कितने ही मतके आदमी मिलते हैं।

मेले

गाय, वैल, हाथी, घोडा, सभीके क्रय-विक्रयके लिये 'सोनपुर' (हरिहरक्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। सोनपुरमें, कार्तिकी पूर्णिमाको, १५ दिनोंके लिये, एक खासा शहर बस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भरके सौदागर हर तरहकी चीजें वेचनेको लाते हैं। उस वक्त तो कई हजार हाथी ही बिकनेको आते हैं। मेलेमें अब पानीके कलका भी प्रबन्ध हो गया है और बिजलीका भी। १८५७ के विद्रोहके समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धोका कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना बडा न था। मुसलमानी शासनके अन्तिम दिनो या कम्पनीके आरम्भिक दिनोमें इस मेलेका आरम्भ हुआ जान पडता है। हाँ, हरिहरनाथकी पूजाका छोटा-मोटा मेला पहलेका भी हो सकता है। सोनपुर-के अतिरिक्त चैत्र-रामनवमीको लगनेवाला 'डुमरसन'का घोडा-वैलकामेला

भी प्रसिद्ध है। वरईपट्टी, छितौली आदिमें भी घोडा-वैलके मेले लगते है। ऐसे तो हाटकी तरह सप्ताहमें वैल-हट्टा पचासो जगहोमें लगा करता है। और स्नान-सम्वन्वी मेलोमें सेमरिया, आमी, सिल्हौरी, ढोढनाथ, मेंहदार, थावे और मैरवांके भी मेले उल्लेखनीय हैं।

साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहांके पुराने समयके साहित्यिकोका कोई पता नही मिलता। मल्ल और वज्जी दोनो ही देशोमें अब्राह्मण धर्मोकी ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहांके लोगोमें कवि और विचारक पैदा हुए होगे, लेकिन मालूम होता है कि, पीछे उनके नाम और उनकी कृतियां, दोनो ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमाने-में, शाहजहांके समय, माझीमें धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञानप्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अव भी मौजूद हैं। मांझीके मुसलमान-राजपूत वावू लोग कविताके वडे ही प्रेमी थे। कवीर-पन्थियोका अत्यन्त पुराना मठ 'धनौती'में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७ वी शताब्दी)के वादके साहित्यिकोंके नाम भी आज-कल मिलने मुश्किल हैं। १९ वी शताब्दीके मध्यमें गयासपुर (थाना 'सिनवन')के 'सखावत'ने वीर कुंवरसिंहका "कुंअर-पचासा" वनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिसका एक पद्य इस तरह है—

"वारह सौ एकसट्ठमें, ग्रीषम रितु जेठ मास।
वावू कूंअर सिंह ने, किय गोरनको नास॥"

सखावतने रावण-मन्दोदरी-सवाद भी लिखा था। उनकी कविताएं अव भी कुछ लोगोको कण्ठस्थ है, लेकिन पाठ वहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके वाद १९ वी शताब्दीके अन्तमें मांझाके स्वामी वावू श्रीधर साही तथा पटेढीके वावू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वय कवि थे। श्रीधर कविकी एक कविता इस प्रकार है—

"एरी रसना तू रसवाली चाहवे तो,
रसका पियाला मै पिलाऊं तोहि रहु-रहु।
यही लोभ लिये मै तो मेवाजात कावुलको,
मोल ले खिलाऊं औ झिलाऊं जौन चहु-चहु।

बहादुर जाति है, लेकिन गाय-भैंसोंके पालनेकी पहले-जैसी सुविधा न होनेके कारण इनकी आर्थिक अवस्था बहुत गिरी हुई है। इस जिलेके लोगोको पशु-रक्षासे बडा प्रेम है और वे अपने बैलोको खिला-पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटोमें बेचते रहते है।

अहीरोंके बाद इस जिलेमें राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही सख्यामें अधिक है, जिनमें स्वावलम्बी एव स्वाभिमानी भूमिहार-ब्राह्मण आर्थिक दृष्टिसे सबसे अच्छे है। शिक्षामें कायस्थोंके बाद इन्हीका नम्बर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी हैं। कोइरी ऐसे तो जिले भरमें फैले हुए हैं, लेकिन 'कुआडी'में उनकी सख्या बहुत है। जैसवार-कुर्मीके अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थानेमें अधिक मिलते है। राजपूतो और भूमिहारोमें कितनी ही एक ही गोत्र और एक ही मूलकी उपजातियाँ हैं। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनो ही के गोत्र काश्यप हैं। जान पडता है ये जातियाँ एक ही वशकी दो शाखाएँ है, जो कालान्तरमें दो—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णोमें विभक्त हो गईं। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार'के रूपमें परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते है। हिन्दुओमें शैव, वैष्णव, कबीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्यसमाजी आदि कितने ही मतके आदमी मिलते है।

मेले

गाय, बैल, हाथी, घोडा, सभीके क्रय-विक्रयके लिये 'सोनपुर' (हरिहरक्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। सोनपुरमें, कार्तिकी पूर्णिमाको, १५ दिनोंके लिये, एक खासा शहर बस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भरके सौदागर हर तरहकी चीजें बेचनेको लाते है। उस वक्त तो कई हजार हाथी ही बिकनेको आते हैं। मेलेमें अब पानीके कलका भी प्रबन्ध हो गया है और बिजलीका भी। १८५७ के विद्रोहके समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धोका कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना बडा न था। मुसलमानी शासनके अन्तिम दिनो या कम्पनीके आरम्भिक दिनोंमें इस मेलेका आरम्भ हुआ जान पडता है। हाँ, हरिहरनाथकी पूजाका छोटा-मोटा मेला पहलेका भी हो सकता है। सोनपुर-के अतिरिक्त चैत्र-रामनवमीको लगनेवाला 'डुमरसन'का घोडा-बैलकामेला

भी प्रसिद्ध है। वरईपट्टी, छितौली आदिमें भी घोडा-वैलके मेले लगते हैं। ऐसे तो हाटकी तरह सप्ताहमें वैल-हट्टा पचासो जगहोमें लगा करता है। और स्नान-सम्वन्वी मेलोमें सेमरिया, आमी, सिल्हौरी, ढोढनाथ, मेंहदार, थावे और मैरवांके भी मेले उल्लेखनीय हैं।

साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहांके पुराने समयके साहित्यिकोका कोई पता नही मिलता। मल्ल और वज्जी दोनो ही देशोमें अब्राह्मण धर्मोंकी ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहांके लोगोमें कवि और विचारक पैदा हुए होगे, लेकिन मालूम होता है कि, पीछे उनके नाम और उनकी कृतियां, दोनों ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमाने-में, शाहजहांके समय, माझीमें धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञानप्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अब भी मौजूद हैं। मांझीके मुसलमान-राजपूत वावू लोग कविताके वड़े ही प्रेमी थे। कवीर-पन्थियोका अत्यन्त पुराना मठ 'वनौती'में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७ वी शताव्दी)के वादके साहित्यिकोंकि नाम भी आज-कल मिलने मुश्किल हैं। १९ वी शताव्दीके मध्यमें गयासपुर (थाना 'सिनवन')के 'सखावत'ने वीर कुंवरसिंहका "कुंअर-पचासा" वनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिसका एक पद्य इस तरह है--

"वारह सौ एकसट्ठमें, ग्रीषम रितु जेठ मास।
वावू कूंअर सिंह ने, किय गोरनको नास॥"

सखावतने रावण-मन्दोदरी-सवाद भी लिखा था। उनकी कविताएँ अव भी कुछ लोगोको कण्ठस्थ हैं, लेकिन पाठ वहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके वाद १९ वी शताव्दीके अन्तमें मांझाके स्वामी वावू श्रीधर साही तथा पटेढीके वावू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वय कवि थे। श्रीधर कविकी एक कविता इस प्रकार है—

"एरी रसना तू रसवाली चाहवे तो,
रसका पियाला मैं पिलाऊं तोहि रहु-रहु।
यही लोभ लिये मैं तो मेवाजात कावुलको,
मोल ले खिलाऊं औ जिलाऊं जौन चहु-चहु।

वहादुर जाति है, लेकिन गाय-भैसोके पालनेकी पहले-जैसी सुविधा न होनेके कारण इनकी आर्थिक अवस्था वहुत गिरी हुई है। इस जिलेके लोगोको पशु-रक्षासे वडा प्रेम है और वे अपने वैलोको खिला-पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटोमें वेचते रहते है।

अहीरोंके वाद इस जिलेमें राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही सख्यामें अधिक है, जिनमें स्वावलम्बी एव स्वाभिमानी भूमिहार-ब्राह्मण आर्थिक दृष्टिसे सबसे अच्छे हैं। शिक्षामें कायस्थोंके वाद इन्हीका नम्बर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी हैं। कोइरी ऐसे तो जिले भरमें फैले हुए हैं, लेकिन 'कुआडी'मे उनकी सख्या वहुत है। जैसवार-कुर्मीके अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थानेमें अधिक मिलते हैं। राजपूतो और भूमिहारोंमें कितनी ही एक ही गोत्र और एक ही मूलकी उपजातियाँ हैं। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनो ही के गोत्र काश्यप है। जान पडता है ये जातियाँ एक ही वशकी दो शाखाएँ हैं, जो कालान्तरमें दो—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णोंमें विभक्त हो गई। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार'के रूपमें परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दुओंमें शैव, वैष्णव, कवीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्यसमाजी आदि कितने ही मतके आदमी मिलते हैं।

मेले

गाय, वैल, हाथी, घोडा, सभीके क्रय-विक्रयके लिये 'सोनपुर' (हरिहरक्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। सोनपुरमें, कार्तिकी पूर्णिमाको, १५ दिनोंके लिये, एक खासा शहर वस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भरके सौदागर हर तरहकी चीजें वेचनेको लाते हैं। उस वक्त तो कई हजार हाथी ही विकनेको आते हैं। मेलेमें अव पानीके कलका भी प्रवन्ध हो गया है और बिजलीका भी। १८५७ के विद्रोहके समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धोका कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना वडा न था। मुसलमानी शासनके अन्तिम दिनो या कम्पनीके आरम्भिक दिनोंमें इस मेलेका आरम्भ हुआ जान पडता है। हाँ, हरिहरनाथकी पूजाका छोटा-मोटा मेला पहलेका भी हो सकता है। सोनपुर-के अतिरिक्त चैत्र-रामनवमीको लगनेवाला 'डुमरसन'का घोडा-वैलकामेला

भी प्रसिद्ध है। वरईपट्टी, छितौली आदिमें भी घोडा-वैलके मेले लगते हैं। ऐसे तो हाटकी तरह सप्ताहमें वैल-हट्टा पचासो जगहोमें लगा करता है। और स्नान-सम्वन्धी मेलोमें सेमरिया, आमी, सिल्हौरी, ढोढनाथ, मेंहदार, थावे और मैरवांके भी मेले उल्लेखनीय हैं।

साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहांके पुराने समयके साहित्यिकोका कोई पता नही मिलता। मल्ल और वज्जी दोनो ही देशोमें अब्राह्मण धर्मोकी ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहांके लोगोमें कवि और विचारक पैदा हुए होगे, लेकिन मालूम होता है कि, पीछे उनके नाम और उनकी कृतियां, दोनो ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमानेमें, शाहजहांके समय, माझीमें धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञानप्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अब भी मौजूद हैं। मांझीके मुसलमान-राजपूत वावू लोग कविताके वडे ही प्रेमी थे। कवीर-पन्थियोका अत्यन्त पुराना मठ 'वनौती'में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७ वी शताव्दी)के वादके साहित्यिकोंके नाम भी आज-कल मिलने मुश्किल हैं। १९ वी शताब्दीके मध्यमें गयासपुर (थाना 'सिसवन')के 'सखावत'ने वीर कुँवरसिंहका "कुंजर-पचासा" वनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिसका एक पद्य इस तरह है--

"वारह सौ एकसट्ठमें, ग्रीषम रितु जेठ मास।
वावू कूअर सिंह ने, किय गोरनको नास॥"

सखावतने रावण-मन्दोदरी-सवाद भी लिखा था। उनकी कविताएँ अब भी कुछ लोगोको कण्ठस्थ हैं, लेकिन पाठ वहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके वाद १९ वी शताब्दीके अन्तमें मांझाके स्वामी वावू श्रीधर साही तथा पटेढीके वावू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वय कवि थे। श्रीधर कविकी एक कविता इस प्रकार है—

"एरी रसना तू रसवाली चाहवे तो,
रसका पियाला मैं पिलाऊँ तोहि रहु-रहु।
यही लोभ लिये मैं तो मेवाजात कावुलको,
मोल ले खिलाऊँ औ खिलाऊँ जौन चहु-चहु।

बहादुर जाति है, लेकिन गाय-भैंसोके पालनेकी पहले-जैसी सुविधा न होनेके कारण इनकी आर्थिक अवस्था बहुत गिरी हुई है। इस जिलेके लोगोको पशु-रक्षासे बडा प्रेम है और वे अपने बैलोको खिला-पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटोमें बेचते रहते है।

अहीरोंके बाद इस जिलेमें राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही सख्यामें अधिक है, जिनमे स्वावलम्बी एव स्वाभिमानी भूमिहार-ब्राह्मण आर्थिक दृष्टिसे सबसे अच्छे हैं। शिक्षामें कायस्थोंके बाद इन्हीका नम्बर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी हैं। कोइरी ऐसे तो जिले भरमें फैले हुए हैं, लेकिन 'कुआडी'में उनकी सख्या बहुत है। जैसवार-कुर्मीके अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थानेमें अधिक मिलते हैं। राजपूतो और भूमिहारोमें कितनी ही एक ही गोत्र और एक ही मूलकी उपजातियाँ है। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनो ही के गोत्र काश्यप हैं। जान पडता है ये जातियाँ एक ही वशकी दो शाखाएँ हैं, जो कालान्तरमें दो—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णोंमें विभक्त हो गई। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार'के रूपमें परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दुओंमें शैव, वैष्णव, कबीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्यसमाजी आदि कितने ही मतके आदमी मिलते हैं।

मेले

गाय, बैल, हाथी, घोडा, सभीके क्रय-विक्रयके लिये 'सोनपुर' (हरिहरक्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। सोनपुरमें, कार्तिकी पूर्णिमाको, १५ दिनोंके लिये, एक खासा शहर बस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भरके सौदागर हर तरहकी चीजें बेचनेको लाते हैं। उस वक्त तो कई हजार हाथी ही बिकनेको आते हैं। मेलेमें अब पानीके कलका भी प्रबन्ध हो गया है और बिजलीका भी। १८५७ के विद्रोहके समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धोका कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना बडा न था। मुसलमानी शासनके अन्तिम दिनो या कम्पनीके आरम्भिक दिनोंमें इस मेलेका आरम्भ हुआ जान पडता है। हाँ, हरिहरनाथकी पूजाका छोटा-मोटा मेला पहलेका भी हो सकता है। सोनपुर-के अतिरिक्त चैत्र-रामनवमीको लगनेवाला 'डुमरसन'का घोडा-बैलकामेला

भी प्रसिद्ध है। वरईपट्टी, छितौली आदिमें भी घोडा-वैलके मेले लगते हैं। ऐसे तो हाटकी तरह सप्ताहमें वैल-हट्टा पचासो जगहोमें लगा करता है। और स्नान-सम्वन्वी मेलोमें सेमरिया, आमी, सिल्हौरी, ढोढनाथ, मेंहदार, थावे और भैरवांके भी मेले उल्लेखनीय हैं।

साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहांके पुराने समयके साहित्यिकोका कोई पता नही मिलता। मल्ल और वज्जी दोनो ही देशोमें अब्राह्मण धर्मोकी ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहांके लोगोमें कवि और विचारक पैदा हुए होगे, लेकिन मालूम होता है कि, पीछे उनके नाम और उनकी कृतियां, दोनो ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमाने-में, शाहजहांके समय, माझीमें धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञानप्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अव भी मौजूद हैं। मांझीके मुसलमान-राजपूत वावू लोग कविताके वडे ही प्रेमी थे। कवीर-पन्थियोका अत्यन्त पुराना मठ 'धनौती'में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७ वी शताव्दी)के वादके साहित्यिकोंके नाम भी आज-कल मिलने मुश्किल हैं। १९ वी शताव्दीके मध्यमें गयासपुर (थाना 'सिसवन')के 'सखावत'ने वीर कुंवरसिंहका "कुंअर-पचासा" वनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिनका एक पद्य इस तरह है--

"वारह सौ एकसट्ठमें, ग्रीषम रितु जेठ मास।
वावू कूंअर सिंह ने, किय गोरनको नास॥"

सखावतने रावण-मन्दोदरी-सवाद भी लिखा था। उनकी कविताएं अव भी कुछ लोगोको कण्ठस्थ हैं, लेकिन पाठ वहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके वाद १९ वी शताव्दीके अन्तमें मांझाके स्वामी वावू श्रीधर साही तथा पटेढीके वावू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वय कवि थे। श्रीधर कविकी एक कविता इस प्रकार है—

"एरी रसना तू रसवाली चाहवे तो,
रसका पियाला मैं पिलाऊं तोहि रहु-रहु।
यही लोभ लिये मैं तो मेवाजात कावुलको,
मोल ले खिलाऊं औ जिलाऊं जौन चहु-चहु।

पालि-पालि श्रीधर रिष्ट-पुष्ट कीन्हों तोहि,
पावन हुआ चाहु तो ऐसो लाहु लहु-लहु।
रैन-दिन जामहूँमें घरी-छन कामहूँमें,
राधाकृष्ण राधाकृष्ण राधाकृष्ण कहु-कहु॥"

पिछली शताब्दी और वर्तमान शताब्दीमें इस जिलेने कई लेखक और वक्ता पैदा किये हैं। संस्कृतके दिग्गज विद्वान्, हिन्दीके सुलेखक महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माको पैदा करनेका सौभाग्य इसी जिलेको है।[1] पण्डित गयादत्त त्रिपाठी, पण्डित शिवशरण शर्मा, 'सूर्योदय' सम्पादक पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री, पण्डित गोपालप्रसाद शास्त्री आदि कितने ही उच्च-कोटिके संस्कृतज्ञ विद्वान्, वक्ता और लेखक इस जिलेके हैं। हिन्दी लेखकोंमें बाबू राजवल्लभ सहाय, बाबू दामोदर सहाय सिंह 'कविकिंकर', बाबू पारसनाथ सिंह बी० ए०, एल० एल० बी०, पण्डित जीवानन्द शर्मा 'काव्यतीर्थ' ('श्रीकमला' और 'प्रजा-बंधु'के भूतपूर्व सम्पादक), गोस्वामी भैरव गिरि, बाबू विश्वनाथ सहाय ('महावीर' सम्पादक) आदि भी यहाँके हैं। पटनेके अँगरेजी दैनिक 'सर्चलाइट'के सम्पादक बाबू मुरलीमनोहरप्रसाद वर्मा भी इसी जिलेके हैं।

बिहारमें सबसे ज्यादा शिक्षाका प्रचार इसी जिलेमें है। यहाँ कहीं-कहीं दो-तीन मील पर हाईस्कूल हैं। इस जिलेमें पहिलेसे मिडिल तक हिन्दी-शिक्षा निःशुल्क है। जिला-बोर्डोंमें सुधारके साथ ही, सौभाग्यसे, इस जिलेको स्वर्गीय महात्मा मजहरुलहक साहब-जैसा चेयरमैन मिला था, उन्होंने अपना सारा समय जिलेमें शिक्षा प्रचार करनेमें लगा दिया था। उसी समय स्वर्गीय बाबू राधिकाप्रसादजी इस जिलेके स्कूलोंके डिपुटी-इन्सपेक्टर थे। इस सुन्दर जोड़ीके मिल जानेसे इस जिलेने शिक्षामें बड़ी उन्नति की। लोगोंमें अंग्रेजी मिडिल स्कूल और हाईस्कूल खोलनेकी तो होड़-सी लग गई। इतनी माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओंके खोलनेका उत्साह बिहारके और किसी जिलेमें देखा नहीं जाता।

---

१ स्वनामधन्य विद्या-प्रेमी स्वर्गीय खुदाबख्श खाँ भी इसी जिलेके निवासी थे, जिनकी जगत्प्रसिद्ध ओरिएण्टल लाइब्रेरी पटनेमें मौजूद है।

—लेखक

स्कूल खुलने नही पाता कि, विद्यार्थी भर जाते हैं। छपरा में दो और सीवानमें एक डिग्री कालेज हैं।

जन-नायक

स्वर्गीय महात्मा मज्हरुलहक साहव, वावू राजेन्द्रप्रसाद और वावू व्रज-किशोरप्रसाद-जैसे नेताओंकी जन्मभूमि भी यही जिला है। यहाँ ऐसे जन-नायकोंकी काफी सख्या थी, जो दूसरे जिलोमें जाकर आसानीसे सर्वमान्य नेता वने।

मल्ल (पहलवान)

ग्रियर्सनने भोजपुरी वोलीको वहादुरोकी वोली वतलाया है, लेकिन 'सारन' केवल भोजपुरी वोली ही नही वोलता, वल्कि यहांके निवासी वडे सवल-शरीर भी होते हैं। प्राचीन मल्ल देशके सम्वन्धसे ही शायद पहलवानोको 'मल्ल' कहते हैं। यहांके लोग विहारके और जिलोकी अपेक्षा अधिक मजवूत और मोटे-ताजे होते हैं। यद्यपि कुश्तीका पहले जैसा शौक अव लोगोमें नही देखा जाता, तो भी यहांकी भूमि कभी-कभी वडे-वडे पहलवानोको पैदा कर देती है। भारत-प्रसिद्ध पहलवान स्वर्गीय वावू सुचित सिंह यहीके थे। अन्य कई पहलवानोंके अतिरिक्त, वावू वशीसिंहने वडी ही प्रसिद्धि प्राप्त की।

शहर और कस्वे

"छपरा"—अँगरेजोंके आने से पहले छपराका उतना महत्त्व न था, लेकिन कम्पनीके आनेके साथ ही यहांकी श्रीवृद्धि हुई। अँगरेजो और दूसरी युरोपीय जातियोने यहाँ अपनी कोठियाँ खोलीं। गगा और घाघराके पास होनेके कारण यहाँ मालसे भरी नावोंके आने-जानेकी आसानी थी। पीछे अनेक व्यवसायी आकर वसने लगे। सारन-जिलेका मुख्य केन्द्र-नगर हो जानेपर तो इसके लिये और भी तरक्की-का रास्ता खुल गया। इस शहरकी आवादी आधे लाखके करीब है। यहां सरकारी कचहरियोंके अतिरिक्त चार हाईस्कूल, दो डिग्री कालेज, आदमी और जानवरोंके अस्पताल हैं। यहाँसे एक रेल-पथ सोनपुर होता हुआ कटिहारकी ओर गया है; दूसरा मांझी होकर वनारसकी ओर; तीसरा सिवान होकर गोरखपुरकी ओर, चौथा मसरख, गोपालगज होता थावेमें आ मिला है। पटना जानेके लिए सोनपुरसे पहलेजा-घाट जाना पडता

है। इसी प्रकार दुरौधासे एक लाइन महाराजगजको और थावेसे एक लाइन कप्तानगज और गोरखपुरको गई है। यद्यपि यह नगर सारन जिलेके बीचमें न होकर एक किनारेपर है, तो भी यहाँ चारो ओरकी रेलोका मिलान होता है। भोजपुरी-भाषा-भाषी प्रदेशके तो यह केन्द्र में अवस्थित है, इसीलिये यहाँकी भोजपुरीका टकसाली होना स्वाभाविक है।

"रिविलगज"—पहले यहाँ व्यापारकी एक मण्डी थी। गगा और सरयूका यही सगम होता था। किन्तु आज-कल रेलके हो जानेसे इसका वह महत्त्व जाता रहा। यद्यपि यहाँ म्युनिसिपैलिटी है, तो भी कस्वेकी अवस्था दिन-पर-दिन गिरती ही जाती है।

"सिवान"—सारन जिलेके एक सवडिवीजनका यह सदर है। यहाँके मिट्टी और काँसेके बरतन बहुत मशहूर हैं। इसका दूसरा नाम 'अलीगज' भी है। यहाँ ईखके दो और रुई बुननेका एक कारखाना है। उद्योग-धन्धेकी वृद्धि-की और भी गुजाइश है। यहाँ कई हाईस्कूल और एक डिग्री कालेज है।

"हथुआ"—यह इस जिलेके सबसे बडे जमीन्दार महाराजा-बहादुर हथुआ-की राजधानी रही। यहाँ भी एक हाईस्कूल है।

———

१६. सहोर और विक्रमशिला

आधुनिक कालमें शरच्चन्द्रदास सर्वप्रथम भारतीय थे, जिन्होने भोट और भोटिया साहित्यकी खोजमें सर्वप्रथम प्रयत्न किया। उन्होंने भोटमें प्रथम भारतीय प्रचारक 'तत्त्वसग्रह' कार महान् दार्शनिक, नालन्दाके आचार्य शान्तरक्षित (अष्टम ईशाब्दी)को बगाली लिखा। उन्हीका अनुकरण करते हुए डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने तत्त्वसग्रहकी[1] भूमिकामें सहोरको ढाका जिलेके विक्रम-पुर परगनेका साभर ग्राम निश्चय कर डाला, भट्टाचार्य महाशयके इस निश्चयके लिए उन्हे कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योकि उन्होने भोटिया ग्रन्थोको देखा नहीं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि अनेक दृढ तथा स्पष्ट प्रमाणोके होते, स्वर्गीय श्री शरच्चन्द्रदास तथा महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण इस निश्चय पर कैसे पहुँचे। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो उनके सामने वे सारे प्रमाण वाले ग्रन्थ नही थे, अथवा उन्होने भी कितने ही बगाली विद्वानोकी भाँति, भारतके सभी मस्तिष्कोको बगाली बनानेकी धुनमें ऐसा किया।

जिस स्थान सहोर तथा 'भगल' (भगल)के कारण यह गलती हुई है, वह आचार्य शान्तरक्षितके अतिरिक्त विक्रमशिलाके आचार्य दीपकर श्रीज्ञानकी भी जन्म-भूमि थी। इस स्थानके विषयमें भोटिया ग्रन्थोंसे यहाँ कुछ उद्धरण देता हूँ -

ल्हासाके पास छुन्-जे-लिङ्-गुम्बा-विहार है। इसके छापाखाना के (ह) नामक पोथीके पृष्ठ १५२–९२ में दीपकर श्रीज्ञानकी जीवनी है। उसमें लिखा है:—

(पृ० १५२) "संस्कृत भाषामें दीपकर श्रीज्ञान भोटकी भाषामें द्पल्-मर-मे-म्जद्-ये-शेन्। अन्य नाम जो-वो (भट्टारक) तथा अतिशा है। जन्म देश है, (१) भारतकी पूर्व दिशा में सहोर। वहाँ (२) भगल नामका

---

१ तत्वसग्रह—Vol II p XIII —Gaikevad's Oriental Series.

बड़ा पुर (नगर) है। जिसके अन्दर राजप्रासाद काचनध्वज (गृसेर्-ग्यि-र्यल्-म्छन्) था। । पिता थे राजा कल्याण श्री (द्गे-वई-द्पल्) । माता श्री प्रभावती (द्पल्-मो-ओद्=जेर्-चन्) । दोनोंको (एक) पुत्र जल-पुरुष-अश्व-वर्ष (छु-फो-र्त लो=मन्मथ सवत्सर १०३९ विक्रमाब्द, ९८२ सन् ई०) में हुआ। (पृष्ठ १५३) उस प्रासाद (काचन ध्वज) के (३) नातिदूर (मि-रिङ्-व-शिग्-व) विक्रमल पुरि (? विक्रमशिला) नामक विहार-(ग्चुग्-लग्-खङ) है। । पाँच सौ रथोंसे परिवारित राजा उस विहार में गये। (पृ० १५५) उस प्रासादके नातिदूर एक आवासमें जितारि रहते है, सुना। ।"

ल्हासा और भोटका सबसे बड़ा विहार ङ-पुङ (ब्रस्-स्पु-ङस्) है। जिसमें सात हजारसे अधिक भिक्षु वास करते हैं। पाँचवें दलाई लामा ब्लो ब्-जङ-र्ग्य-म्छो (सुमति सागर १६१८-८४ ई०) यहीं के एक महन्थ थे, जिनको मगोलो-ने सारा भोट देश जीतकर गुरु दक्षिणामें दिया। उन्हींके उत्तराधिकारी और अवतार वर्त्तमान १४वें दलाई लामा हैं। इस विहारके छापाखानेके (जौ नामक पोथी में 'गुरुगुण-धर्माकर (ब्ल्-मइ-योन्-तन्-छोस्-क्यि-ब्र्युङ-ग्नस्) नाम वाला दोपकरका जीवन चरित है। इसमें लिखा है—

(पृ० १) "भारत पूर्व दिशा सहोर देशोत्तममें, भगल नामक पुर है। इसके स्वामी धर्मराज कल्याण श्री । प्रासाद काचन ध्वज। मनुष्योंके घर एक लाख । धर्मराजकी रानी श्री प्रभावती । (६) उस प्रासादके उत्तर दिशामें विक्रमल पुरी (=विक्रमशिला) है। उस विहार में जाकर पूजा करनेको माता-पिता पाँच सौ रथोंके साथ ।"

पीछे पढ़ने तथा भिक्षु बननेके लिए नालन्दा[1] जानेपर (१००२ ई०?) दीपकरने नालन्दाके राजा (विग्रहपाल द्वितीय?)को कहा था—(पृ०७)" मैं पूर्व दिशा सहोर देशसे आया हूँ। काचनध्वज प्रासाद से। नालन्दाके राजाने कहा—तुम पूर्व दिशा सहोर राजाके कुमार हो। (७) तुमने विक्रम पुरमें ही अनन्त देववदन सदृश रत्नप्रासादमें भिक्षु बननेको मनमें नही किया ।

---

१ नालन्दा (बड़गांव) से बिहार शरीफ ६ मील पर है, जो कि पाल-वंशियोंकी राजधानी थी।

(पृ० ९) "मैं भगलके राजाका पुत्र हूँ। काचनध्वज महलसे नालन्दा विहार आया। ।"

इसी (ज) पोथीके चौथे ग्रन्थ "जो-वो-द्पल-ल्दन्-मर्-मे-मृजद्-ये-शेस्-शेस्-कि यर्-नम्-थर्-ग्यंस्-प" (भट्टारक दीपकर श्री ज्ञानकी वृहत् जीवनी) में आता है

(पृ० २१) "(८) श्री वज्रासन (वुद्ध गया)की पूर्व दिशामें भगल महादेश है। उस भगल देशमें वडा नगर है भिक्रपुरी (विक्रमशिला) । (९) इस (देश)का नामान्तर सहोर है। जिसके भीतर (१०) भिक्रमपुरी नामक नगर है। " फिर लिखा है (पृ० २२) " पूर्व दिशा देशोत्तम सहोर है। वहाँ भिक्रमलपुरी महानगर है . ।"

इसी ग्रन्थमें विक्रम शिलाके निर्माणके सम्वन्धमें यह वातें मिलती हैं—(पृ० ३९) " सस्कृत भाषामें नाम 'गोपाल' है। उसके पुत्र राजा धर्मपाल (पृ० ४०) इस राजाका पुत्र देवपाल नामक हुआ। इस राजाने विहार वनवाया नाम विकमलशील हुआ। ।"

तिव्वतसे जो लोग दीपकरको वुलाने आये थे उनका विक्रम-शिलाका मार्ग इस प्रकार था —

(पृ० ४९)" नेपालसे भारत मध्य देशमें पहुँचे। (१०) जानेपर गगा नदी। दिन समाप्त होते गगा नदीके घाटपर पहुँचे। (पृ० ५०) वहाँ गगा नदीके तटपर (११) एक पहाडी (व्रग्-देउ-शिग् = शिला)के ऊपर विक्रमशिला थी। वहाँ उसके पश्चिमके मुसाफिरखानामें जा ।"

लामा कुन्-म्ख्येन्-पद्-मद्कर्-पो (सर्वज्ञ पुण्डरीक)के छोस्-व्युड (धर्मोद्भव)में इस विपयमें यह वातें मिलती हैं —

(पृ० १४०) "(दीपकर) पूर्व दिशा भगलके काचनध्वज प्रासादमें वोधिसत्व शातरक्षितके जाति वाले क्षत्रिय वशमें (उत्पन्न हुए। उनके) पिता कल्याण श्री और माता श्री प्रभावती । अवधूतिपाद (मैत्रिपाद अद्वयवज्र)के पास १२ वर्षसे १८ वर्ष तक। (पृ० १३५) उस समय विक्रमशिलाके पूर्व दिशामें शातिपाद (=रत्नाकरशान्ति)। दक्षिण दिशामें वागीश्वर । पश्चिम दिशामें प्रज्ञाकर मति। उत्तर दिशामें श्री नारोपा (नाडपाद)

वडा पुर (नगर) है। ˙ जिसके अन्दर राजप्रासाद काचनध्वज (गुसेर्
ग्यि-र्ग्यल्-म्छन्) ˙ था। । पिता थे राजा कल्याण श्री (द्गे-वई-द्पल्) ˙
माता श्री प्रभावती (द्पल्-मो-ओद्=जेर्-चन्) । दोनोको (एक) पुत्र जल
पुरुष-अश्व-वर्ष (छु-फो-र्त लो=मन्मथ संवत्सर १०३९ विक्रमाब्द, ९८२ सन्
ई०) में हुआ। (पृष्ठ १५३) उस प्रासाद (काचन ध्वज) के (३)
नातिदूर (मि-रिङ-व-शिग्-व) विक्रमल पुरि (? विक्रमशिला) नामक विहार
(ग्चुग्-लग्-खङ) है। । पाँच सौ रथोंसे परिवारित राजा ˙ उस विहार
में गये। (पृ० १५५) उस प्रासादके नातिदूर एक आवासमें जितारि
रहते हैं, सुना। ˙ ।"

ल्हासा और भोटका सबसे वडा विहार ड-पुङ (ऽव्रस्-स्पु-ङस्) है। जिसमें
सात हजारसे अधिक भिक्षु वास करते हैं। पाँचवें दलाई लामा व्लो व्-जङ-र्ग्य-
म्छो (सुमति सागर १६१८–८४ ई०) यही के एक महन्थ थे, जिनको मगोलो-
ने सारा भोट देश जीतकर गुरु दक्षिणामें दिया। उन्हींके उत्तराधिकारी और
अवतार वर्त्तमान १४वें दलाई लामा हैं। इस विहारके छापाखानेके (जो नामक
पोथी में 'गुरुगुण-धर्माकर (व्ल्-मइ-योन्-तन्-छोस्-क्यि-ऽव्युङ-ग्नस्) नाम वाला
दीपकरका जीवन चरित है। इसमें लिखा है—

(पृ० १) "भारत पूर्व दिशा सहोर देशोत्तममें, भगल नामक पुर है। इसके
स्वामी धर्मराज कल्याण श्री । प्रासाद काचन ध्वज। मनुष्योंके घर एक
लाख । धर्मराजकी रानी श्री प्रभावती । (६) उस प्रासादके उत्तर
दिशामें विक्रमल पुरी (=विक्रमशिला) है। उस विहार में जाकर पूजा
करनेको माता-पिता पाँच सौ रथोंके साथ ।"

पीछे पढने तथा भिक्षु वननेके लिए नालन्दा[1] जानेपर (१००२ ई०?)
दीपकरने नालन्दाके राजा (विग्रहपाल द्वितीय ?)को कहा था—(पृ०७)" ˙
मैं पूर्व दिशा सहोर देशसे आया हूँ। काञ्चनध्वज प्रासाद से। ˙ नालन्दाके
राजाने कहा—तुम पूर्व दिशा सहोर राजाके कुमार हो। (७) तुमने विक्रम
पुरमें ही अनन्त देववदन सदृश रत्नप्रासादमें भिक्षु वननेको मनमें नहीं किया ।

१ नालन्दा (बड़गाँव) से बिहार शरीफ ६ मील पर है, जो कि पाल-
वंशियोंकी राजधानी थी।

(पृ० ९) "मैं भगलके राजाका पुत्र हूं। काचनध्वज महलसे नालन्दा विहार आया। ।"

इसी (ज) पोथीके चौथे ग्रन्थ "जो-वो-द्पल-ल्दन्-मर्-मे-मृजद्-ये-शेस्-शेस्-वि य-र्नम्-थर्-र्ग्यस्-प" (भट्टारक दीपकर श्री ज्ञानकी वृहत् जीवनी) में आता है

(पृ० २१) "(८) श्री वज्रासन (वुद्ध गया)की पूर्व दिशामें भगल महादेश है। उस भगल देशमें वडा नगर है भिक्रपुरी (विक्रमशिला) । (९) इस (देश)का नामान्तर सहोर है। जिसके भीतर (१०) भिक्रमपुरी नामक नगर है। " फिर लिखा है (पृ० २२) " पूर्व दिशा देशोत्तम सहोर है। वहाँ भिक्रमलपुरी महानगर है ।"

इसी ग्रन्थमें विक्रम शिलाके निर्माणके सम्वन्धमें यह वातें मिलती है—(पृ० ३९) " सस्कृत भाषामें नाम 'गोपाल' है। उसके पुत्र राजा धर्मपाल (पृ० ४०) इस राजाका पुत्र देवपाल नामक हुआ। इन राजाने विहार वनवाया नाम विकमलशील हुआ। ।"

तिव्वतसे जो लोग दीपकरको वुलाने आये थे उनका विक्रम-शिलाका मार्ग इस प्रकार था —

(पृ० ४९)" नेपालसे भारत मध्य देशमें पहुँचे। (१०) जानेपर गगा नदी। दिन समाप्त होते गगा नदीके घाटपर पहुँचे। (पृ० ५०) वहाँ गगा नदीके तटपर (११) एक पहाडी (व्रग्-देउ-गिग् = शिला)के ऊपर विक्रमशिला थी। वहाँ उसके पश्चिमके मुसाफिरखानामें जा ।"

लामा कुन्-म्ख्येन्-पद्-मद्कर्-पो (सर्वज्ञ पुण्डरीक)के छोस्-च्युङ (धर्मोद्-भव)में इस विषयमें यह वातें मिलती है —

(पृ० १४०) "(दीपकर) पूर्व दिशा भगलके काचनध्वज प्रासादमें वोधि-सत्व शातरक्षितके जाति वाले क्षत्रिय वशमें (उत्पन्न हुए। उनके) पिता कल्याण श्री और माता श्री प्रभावती । अवधूतिपाद (मैत्रिपाद अद्वयव-पाद १२ वर्षसे १८ वर्ष तक। (पृ० १३५) उस समय। दिशामें शातिपाद (=रत्नाकरशान्ति)। दक्षिण दिशामें पश्चिम दिशामें प्रज्ञाकर मति। उत्तर दिशामें श्री नारोपा

१७. भारतीय जीवनमें बुद्धिवाद

मानसिक प्रवृत्तियोको यदि हम देखें तो हम मनुष्यको दो वर्गोंमें वॉट सकते हैं। एक वह जो बुद्धिप्रधान है, जो किसी भी बातको तब तक मान लेनेके लिये तैयार नही, जब तक कि उसकी बुद्धिको सतुष्ट न कर दिया जाय। दूसरे श्रद्धाप्रधान, जिसे बुद्धिकी उतनी परवाह नही होती, किसी चीजको ऐसे रूपमें उसके सामने रखा जाय जो उसके हृदयको अपनी ओर आकर्षित करे, करुणा-द्वारा, प्रेम-द्वारा या ऐसे किन्ही और भावोंसे, तो वह उसे मान लेता है। हो सकता है कि किसी व्यक्तिमें इन दोनो भावोका सम्मिश्रण हो, लेकिन यदि व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक रूढियोमें बद्ध न हो, तो हम उसे इन दोनोमेंसे किसी एक वर्गमें आसानीसे रख सकते हैं। हमारा समाज ऐसा है—वर्तमानमें ही नही, पहिलेसे चला आ रहा है—कि किसी बातको जैसा हम सोचते-समझते हैं, उसे उसी रूपमें प्रकट करनेका अधिकार हमें बिलकुल थोडा है। साधारण और असाधारण व्यक्तिमें यही फर्क है कि जहाँ साधारण व्यक्ति रूढियोको हर हालतमें माननेके लिए तैयार है, वहाँ असाधारण व्यक्ति इसमें कुछ स्वतन्त्रता दिखलाता है।

व्यक्तियोंसे ही मिलकर समाज बनता है, लेकिन इसका मतलब यह नही कि हम सारे समाजको व्यक्तियोंके बहुमत पर बुद्धिप्रधान या श्रद्धा-प्रधान कह सकते हैं। समाजके बारेमें ऐसे किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए हमें समाजके विचारोंके नेताओकी ओर देखना पडेगा। नेताओंसे मतलब सिर्फ राजनीतिक नेताओंसे नही है। इसमें कला, उद्योग, विज्ञान, दर्शन सभी क्षेत्रोंके नेताओको लेना पडेगा। बल्कि ललित-कलाओ के नेताओकी ओर दृष्टि डालनेपर हम बहुत सुगमताके साथ समाजके विचारप्राधान्यको देख सकते हैं। चित्रकला, सगीत और कविता, वस्तुत इस विषयके पक्के नाप हैं। इन भारतीय ललित-कलाओंके पिछले तीन हजार वर्षके इतिहास और उनकी

देनको यदि हम अच्छी तरहसे देखें, तो हमें मालूम होता है कि, पहिली सात शताब्दियोमें भारत बुद्धिप्रधान रहा। ई० पू० दूसरी शताब्दीसे लेकर ई० दूसरी शताब्दी तक मिश्रित रहा और उसके वादसे आज तक श्रद्धाप्रधान।

आइये, इसे हम पहिले मूर्तिकलाके क्षेत्रमें देखें। ई० पू० पांचवी शताब्दीसे पहलेके कमसे कम हजार वर्ष पहिलेके मूर्तियोंके नमूने हमारे पास नही हैं। यदि हैं भी तो उनके कालके विषयमें निश्चित रूपसे हम कुछ नही कह सकते। ई० पू० तीसरी शताब्दीके कितनी ही पत्थरकी मूर्तियां अशोकके स्तम्भो तथा कितने ही स्तूपोंके कठघरोमें मिलती है। इस कालसे दो-तीन सौ वर्ष पहिलेके कितनी ही मिट्टीकी मूर्तियां या खिलौने कौशाम्वी (कोनम, जिला इलाहावाद) भीटा (जि० इलाहावाद) आदि स्थानो में मिली है। उन्हें देखने से मालूम होता है कि, उस समयका कलाकार वस्तुको जिस भौतिक रूपमें देखता है, उसीको मिट्टी या पत्थरमें उतारना चाहता है। इसका यह मतलव नही कि मनुष्यके मानसिक भावोंकी जो छाप उसके मुखमण्डलपर या वाह्य आकारपर पडती है, उसको वह विल्कुल छोड जाता है। वह अपने पैरोंको ठोस भूमिपर रखना चाहता है। उसके लिए भौतिक पदार्थ पहिली वास्तविकता है, जिसके आधारपर वह मानसिक जगत्की आभाको लाना चाहता है। यदि हम प्रथम कालकी मूर्तियो या खिलौनोको नापकर देखें, तो मालूम होगा, कि उस वक्त मनुष्यकी आकृति वनानेमें 'ताल-मान'[1] उतना ही रक्खा गया था, जितना कि एक वास्तविक मनुष्यमें होता है। पशुओंकी मूर्तियोंके वनानेमें भी यही ख्याल देखा जाता है, जैसा कि सारनाथके अशोकस्तम्भके शिखर पर उत्कीर्ण, सिंह, वैल, घोडा, हाथी की मूर्तियोंसे स्पष्ट है। इस कालका अन्तिम समय ई० पू० दूसरी शताब्दी का आरम्भ वह समय है, जब कि भारत राजनीतिक उत्कर्षके मध्यान्हमें पहुँचा था। मौर्य-साम्राज्यकी सीमाओंतक पहुचनेका मौका कभी भी किसी भारतीय साम्राज्यको नही मिला। समुद्रगुप्तके समय (३४०—७५ ई०) में गुप्त-साम्राज्यका विस्तार वहुत हुआ था, किन्तु उस समय भी उसकी सीमा हिन्दूकुश तक पहुँचना कहां, दक्षिण-भारतमें भी उसका प्रवेश दूर तक नही हुआ था। कलाकी वास्तविकता मौर्य-कालमें चरम उत्कर्षपर पहुँची थी। संसारमें

१ ठुड्डीसे लेकर ललाटके अन्त भागका सारे शरीरसे अनुपात।

साधारण मनुष्यका हृदय था। उसके लिए कसौटीका अधिकार, उन दिमागोको नही दिया गया था जो वास्तविक कविताकी एक पक्ति भी न लिख सकें किन्तु, अलकार और अलकारिनियो तथा रस और ध्वनियोकी शाखा पर शाखा पैदा करनेमें एक-दूसरेके कान कार्टे।

सधिकाल (२०० ई० पू० से ५०० ई०) में पैरको ठोस पृथ्वीपर जमाये रखनेकी कोशिश की गई, लेकिन वह धीरे-धीरे ज़मीन छोडने लगा, यदि पजेकी तरफसे नही तो एडीकी तरफसे तो जरूर। ऐसा न होनेपर पीछेके विकार कभी सम्भव न थे। गुप्तकालमें भावुकताकी प्रधानता होती है, लेकिन तब भी वास्तविकताको छोडनेमें कलाकारको मोह लगता है। कन्धा, मोढा, और छातीकी बनावट गुप्तकालकी अपनी विशेषता है। इन तीनो अगोमें सौन्दर्यके साथ पूर्ण मात्रामें बल भरने की कोशिश की जाती है। आप उदय-गिरि-गुफा (भिलसा) के वराहको देखिये या छोटी-मोटी किसी भी उस कालकी मूर्ति को, यह बात स्पष्टहो जायगी। लेकिन साथ ही नजाकत भी शुरू होती मालूम होगी, जो पीछे चलकर ललित-कलाके लिए एक मात्र आदर्श बन जाती है। उस कालकी मूर्तियोकी भाँति ही यह बात अजन्ताके तत्कालीन चित्रोमें भी देखी जाती है। इन विशेषताओको कालिदासकी कविताएँ भी उसी मात्रामें प्रकट करती हैं।

यहाँ एक बातपर और भी ध्यान दिलाना है। यदि हम गुप्त-कालके पहिलेके अपने भोजनको लें, तो मालूम होगा कि उसमें षट् रस तो जरूर रहा, किन्तु अभी तक उसे सोलह परकार और बत्तीस व्यजनोका रूप नही दिया गया था। इतने मसालोका तो एक तरहसे उस समय अभाव था। पान खाना तो लोग जानते ही न थे। छौंक-बघार भी इतनी मात्रा तक नही पहुँचा था। इससे हमें यह भी मालूम हो जाता है कि, मनुष्यकी प्रगति जिस किसी ओर होती है, वह उसके जीवनके सभी अगोमें होती है।

छठवी शताब्दी तक तब भी हमारा अगूठा धरतीपर रह जाता है। लेकिन उसके बाद तो हम आकाशचारी हो जाते हैं। हमारे पैर जमीनपर पडते ही नही—वास्तविकतासे हम अपना नाता तोड लेते हैं। हाँ, उसी हद तक जिस हद तक उसका तोडना सम्भव है। आखिर हवा पीकर तो हम जी भी नही सकते।

सातवीं शताब्दीके बाद सभी क्षेत्रोंमें वास्तविकतापर भावुकताकी विजय होती है। बुद्धिको श्रद्धाके सामने परास्त होना पड़ता है और उसके साथ-साथ हमारी राष्ट्र-नौका भी पक्के भँवरमें पड़ जाती है। समयके बीतनेके साथ-साथ हम इस भावुकतामें आगे-आगे बढ़ते जाते हैं। आजका यह वैज्ञानिक युग यद्यपि प्रेरित करता है कि हम स्वप्न जगत्को छोड़ें और वास्तविक जगत् में आवें, लेकिन शताब्दियोंके दुष्प्रभावने हमारे मनपर इतना काबू कर रखा है कि, यदि हम एक कदम आगे बढ़ते हैं तो, तीन कदम पीछे खींच लिये जाते हैं। कोई कहता है—'अरे यही तो भारतीयता है, यही तो भारतीय राष्ट्रकी आत्मा है। हमारा भारत हमेशा सत्य शिव सुन्दर का पुजारी रहा।' कोई कहता है—'यह भारतकी प्रकृतिके ही बिलकुल प्रतिकूल है। हमारे हवा-पानीमें, हमारी मिट्टीमें, हमारे खमीरमें आध्यात्मिकता कूटकूटकर भरी है। देखते नहीं, इस गये-गुजरे जमानेमें भी हम रामकृष्ण और रामतीर्थको पैदा करते हैं। थियोसोफी और सखी-समाजका स्वागत करते हैं। कोई हजार कोशिश क्यों न कर ले, भारत भारत ही रहेगा।' ऐसा होनेपर तो, भारतके पैरोंका जमीनपर जमना असम्भव है।

यदि हमारा यही दृढ विश्वास है तो हमारा भविष्य भी ऐसा ही रहेगा। हमारे उद्धारका एक मात्र उपाय है—बुद्धिवाद, वास्तविकताको मजबूती से पकड़ना। इसके रास्तेमें चाहे जो भी बाधक हो, उससे हमें लोहा लेना होगा। अगर हमारे खमीर में भावुकता ही बदी होती तो, भारत बौद्ध और चार्वाक जैसे नास्तिकोंको न पैदा करता। सहस्राब्दियों तक अराजक संघों और गणोंके द्वारा राजशासन न चलाता। बुद्धिवाद और भावुकताके पिछले तीन हजार वर्षोंमें व्याप्त प्रवाहका अध्ययन करनेसे साफ मालूम होता है कि, हम उत्कर्षोन्मुख तभी तक रहे, जब तक हम बुद्धिका आश्रय लेते रहे। बुद्धिका आश्रय लेनेका यह मतलब नहीं कि, भावुकताकी उसमें मात्रा ही न हो। हर एक प्रगतिके लिए आदर्शवाद और त्यागकी आवश्यकता है, लेकिन लगाम बुद्धिके हाथमें रहनी चाहिए।

१८· तिब्बतमें चित्रकला

१—संक्षिप्त इतिहास

६३० ई० में स्रोङ-व्चन्-स्गम्पो अपने पिताके राज्यका अधिकारी बना। ६४० ई० तक उसके साम्राज्यकी सीमा पश्चिममें गिल्गितसे लेकर पूर्वमें चीनके भीतर तक, उत्तरमें गोबीके मरुभूमिदक्षिणमें हिमालयकी तराई तक फैल गई। ६४० ई० में सम्राट्की नेपाली रानी ख्रि-चुन्के साथ सर्वप्रथम बौद्धधर्म तिब्बतमें पहुँचा। बौद्ध-धर्म और चित्रकलाका घनिष्ठ संबंध है। भारतमें सर्वप्राचीन, तथा सर्वोत्तम अजंताके चित्र बौद्धोंकी ही कृतियाँ हैं। बौद्ध-चित्रकलाके नमूने सिंहल, स्याम, चीन, जापान आदि देशों में ही—जहाँ कि बौद्धधर्म सजीव है—नहीं प्राप्त होते, बल्कि उन्हें गोबीके रेगिस्तान और मध्य-ईरान तकमें सर् औरेल् स्टाइन्ने खोज निकाला है। इस तरह बौद्धधर्मके साथ-साथ चित्रकलाका भी तिब्बतमें प्रवेश स्वाभाविक ही है। नेपाल-राजकुमारी स्वयं अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय और ताराकी मूर्तियोंके साथ कितने ही स्थापत्य-शिल्पी तथा चित्रकार लाई थी। ६४१ ई० में सम्राट् स्रोङ-व्चन्-स्गम्पोकी दूसरी रानी चीन-राजकन्या कोङ-जो एक बुद्ध-प्रतिमाको ल्हासा लाई। यह प्रतिमा किसी समय भारतसे घूमते-फिरते चीन पहुँची थी। उसने पहले ही निश्चय कर लिया था, कि मैं अपनी प्रसिद्ध प्रतिमाके लिए राजधानीमें एक मंदिर बनवाऊँगी, और ल्हासा पहुँचते ही उसने र-मो-छेका प्रसिद्ध मंदिर बनवाना शुरू किया। नेपाली रानीकी असमर्थता देख सम्राट्ने स्वयं उसके लिए ल्हासाके मध्यमें जो-खङका मंदिर बनवाया। र-मो-छे और जो-खङके बनानेमें यद्यपि अधिकतर नेपाली (भारतीय) और चीनी शिल्पियोंकी सहायता ली गई, किंतु उसी समय भोटको भी स्थापत्य तथा चित्रकलाका क-ख आरंभ करना पड़ा।

सातवीं शताब्दीके मध्यमें उत्तरी भारतके सम्राट् हर्षवर्धनके प्रशांत शासनमें गुप्तोंके समयसे चलती आयी, कला तथा विद्याकी प्रगति बढ़ती ही जा रही थी। चित्रकलाके कुछ अशोंके अवसादका समय डेढ-दो सौ वर्ष बादसे होता है। इसके

कहनेकी अवश्यकता नहीं, कि नेपाल आजकी तरह उस समय भी कला आदिके नवधर्में भारतका अग था। चीनमें भी उस समय ह्वेन-चाङ्के सरक्षक थाङ-वशका राज्य था। यह काल चीनकी चित्रकलाका सर्वोत्तम समय माना जाता है। इस प्रकार भोट देशवासियोको भारत और चीनसे ऐसे समय सम्बन्ध जोडनेका अवसर मिला, जवकि इन दोनो देशोंमें कलाका सूर्य मध्याह्नमें पहुँचा हुआ था।

ल्हासाके र-मो-छे और जो-खङके मदिरोकी भीतोंमें यद्यपि उस समय चीनी और भारतीय चित्रकारोने सुदर चित्र अकित किये थे, किंतु अव वह उपलब्ध नही है। तिब्बतमें ईंधनके दुर्लभ होनेके कारण चूनेकी पक्की दीवारोंके बनानेका रवाज नही है। इसीलिए कुछ वर्षोंके वाद जव प्लस्तर निर्बल होकर टूटने-फूटने लगता है, तव सारे प्लस्तरको उखाडकर पत्थरकी बनी दीवारो पर दूसरा प्लस्तर कर नई तरहसे चित्र वनाये जाते हैं। अभी उस दिन (२७ मई १९३४ ई०को) हम ल्हासाका से-र विश्वविद्यालय देखने गये। उसके म्मद्-ग्र-त्सङ (महाविद्यालय)के सम्मेलन-भवनकी दीवारोका प्लस्तर उखाडा जा रहा था। एक ओरसे डेढ-दो सौ वर्ष पुराने चित्र टुकडे-टुकडे हो जमीन पर गिर रहे थे, और दूसरी ओरसे नया प्लस्तर लगाया जा रहा था। यद्यपि जो-खङ और र-मो-छेके आजकलके प्लस्तर इससे कहीं अधिक दृढ सामग्रीके वने है, तो भी उनकी आयु तेरह शताब्दियोकी नही है। इस सुदीर्घ कालमें उनके प्लस्तर न जाने कितनी वार नए बने होंगे, इसीलिये उन आरभिक चित्रो-का अव पता नही मिलता। उस समयकी काष्ठ-पाषाणकी मूर्तियाँ एव विशाल काष्ठ-स्तभोमें उत्कीर्ण रूप यद्यपि आज भी मौजूद है, और उनसे उस समयकी चित्रकलाका कुछ अनुमान हो सकता है, तो भी वे चित्रकला न होनेसे मेरे इस लेखका विषय नही हो सकते।

उसके बाद प्राय दो सौ वर्ष वीत जानेपर ८२३-८३५ ई० में व्सम्-यस का महाविहार बना। पुराने इतिहास-लेखकोंके अनुसार यह स्वय महाराज् धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)के बनवाये उडंतपुरी(वर्तमान विहार-शरीफ, पटना) महाविहारके नमूने पर बनवाया गया। इसकी पुष्टि उस विहारकी आकृति भी करती है। इस समय विस्तार और वैभवमें भोट-साम्राज्यका सूर्य मध्याह्नपर पहुँचा हुआ था। भोटके धर्मानोक सम्राट् खि-स्रोङ-ल्दे-व्चन्

(८०२-८४५ ई०) बौद्ध-धर्मके लिए सब तरहका त्याग करनेके लिए तैयार थे। विहारका निर्माण नालंदाके महान् दार्शनिक शांतरक्षितके तत्त्वावधानमें हो रहा था। इस विहारको सुमेरु, उसके चारो महाद्वीप, आठ उपद्वीप तथा चक्र-वाल जैसी परिखाके साथ बनवाना ही इसे अच्छी प्रकार निर्दशित करता है, कि विहार निर्माणमें कलाका कितना ख्याल किया गया होगा। उस समय इस विहारके केंद्रवर्ती देवालय तथा १२ द्वीपोकी दीवारोमें बहुतसे सुंदर चित्र अंकित किये गये थे। आचार्य शांतरक्षितके भोटदेशीय शिष्य भिक्षु (प-गोर) वैरोचन-रक्षित स्वयं भी चित्रकार थे। उनके हाथका बनाया एक चित्र अब भी ब्सम्-यस्के जोङ (कलक्टरी)में बतलाया जाता है। वैरोचनसे पूर्व अनेक भोटदेशीय चित्रकार रहे होंगे, किंतु अपनी कृतियोंके साथ उनका नाम भी लोगोको विस्मृत हो गया है। ब्सम्-यस्की दीवारें अब भी चित्रित हैं, किंतु ग्यारहवी शताब्दीमें आगसे जल जानेसे वह चित्र पहलेके नही हैं। वैरोचनके बाद दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार तोन्-छोग्-छुङ-मेद है। इसके समयका ठीक-ठीक पता नही है।

खि-स्रोङ-ल्दे-ब्चन्के पौत्र सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ ई०) बौद्ध-धर्मके अंध भक्त थे। उन्होंने बहुतसे मंदिर और मठ बनवाये, जिनमेंसे कितने ही अब भी मौजूद हैं। भोट देशोमें जो विहार जितना ही अधिक वैभवशाली होता है, वहाँ प्राचीन भित्ति-चित्रोकी रक्षा उतनी ही कठिन है, क्योंकि जरा भी दीवारोको बिगड़ते या चित्रोको मलिन होते देख मरम्मत करके उसकी प्राचीनता लुप्त कर दी जाती है। किंतु, ल्हासासे दूरके स्थानोमें वैभवहीन उपेक्षितप्राय कुछ ऐसे विहार मिल सकते हैं, जिनमें प्राचीन मूर्तियाँ और चित्र अपने प्राचीन रूपमें मिल सकते हैं। ग्चङ प्रदेशमें ग्याची, ने स जैसे कुछ विहारोका अस्तित्व है भी।

रल्-प-चन्के अनंतर थोड़े समयके बाद दसवी शताब्दीके अंतमें—ये-शेस्-ऽोद् (=ज्ञानप्रभ) और रिन्-छेन्-ब्सङ-पो (=रत्नभद्र)के समयसे फिर बौद्ध-धर्मका उत्कर्ष होने लगता है, उसके साथ नये मंदिरो और उनके चित्रोका प्रचार बढ़ने लगता है। रत्नभद्रके बनवाये लदाखके अल्ची और सुम्-राके विहारोमें अब भी उस समयकी कलाके सुंदर नमूने मिलते हैं। दुर्भाग्यवश कश्मीर-सरकार और जनता दोनोकी उपेक्षासे चित्रकलाके यह सुंदर भांडार

थोडे ही समयमें नष्ट हो जानेवाले हैं। सूनर्-थङ (स्थापित ११५३ ई०) ग्यारहवी शताब्दीके कुछ भूले-भटके नमूने श-लु, रे-डिङ (ब्रोम्-स्तोन् १००३-१०६४ द्वारा स्थापित), सूपोस्-खङमें पाये जाते हैं। रे-डिङमें मौजूद कुछ चित्रपटोको तो खास ब्रोम्-स्तोन्का बनाया कहा जाता है। उनमेंके कितनेही चित्र भारत या नेपालसे आये हुए हैं।

बारहवी शताब्दीकी चित्रकला भी दुष्प्राप्य-सी है। उसके कुछ भित्ति चित्र ड्रगस्-पो (११२४ ई०), सनर्-थङ (११५३ ई०), कर्-म-ल्ह-ल्देङ (११५३ ई०), गृदन्-स-म्थिल (११५८ ई०), स्तग्-लुङ (११८० ई०), ऽब्रिगोङ (रिन्-वृसङ ज० ११४३ द्वारा स्थापित)के मठोमें मिलेंगे।

तेरहवी शताब्दीके चित्रोंके लिये विक्रमशिला महाविहारके अंतिम संघ-नायक शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०)के भोटमें दस वर्षके प्रवासके समय (१२००-९ ई०)के चार विहारो—(१) सूपोस्-खङ-छोगस्-प (गृचङ), (२) ग्र-नङ-ग्यं-गृलिङ-छोगस्-प (ल्हो-ख), (३) ग्र-फ्यि-छोङ-ऽदुन्-छोगस्-प, (४) सेन्-गृदोङ-र्चे-छोगर्स्‌प—की ओर देखना होगा।

तेरहवी चौदहवी शताब्दीका एक बडा संग्रह स्पोस्-खङ (ग्याचीके पास) में है। स्पोस्-खङका एक चित्रपट तो बिलकुल भारतीय जान पडता है। इन चित्रोंपर भारतीय चित्रकलाकी भारी छाप है। चौदहवी शताब्दीके दो दर्जन सुंदर चित्रपट स-स्क्य मठके, गु-रिम्-ल्ह-खङमें हैं।

पन्द्रहवी शताब्दीमें द्गे-लुग्स्-प या पीली टोपीवाले संप्रदायके कितने ही मठ स्थापित हुए, जिनमें दगऽ-ल्दन (१४०५ ई०), ऽब्रस्-स्पुङ (१४१६ ई०), से-र्, छब्-म्दो (१४३७ ई०), बूक-शिस्-ल्हुन्-पो (१४४७ ई०) थोडेही समयमें बडे-बडे विश्वविद्यालयोंके रूपमें परिणत हो गये। इनमें भित्ति-चित्र और चित्रपट बहुत हैं। संभव है, उस समयके कुछ चित्रपट इनमें प्राप्त हो जायँ, किंतु भित्ति-चित्र प्राय प्रत्येक शताब्दीमें नये होते रहे हैं।

सोल्हवीं शताब्दीके चित्रोंके लिए भी हमें उपर्युक्त द्गेलुग्स्-प मठोंकी ओर विशेष रूपसे देखना होगा। उसी शताब्दीमें स्मन्-थङ-पब्-स्तन् और ल्हो-ख प्रदेशके ऽक्योङ-र्ग्यस् स्थानमें उत्पन्न एक प्रसिद्ध चित्रकार भिक्षुणी छुङ-ग्रिस् और चित्रकार चें-गृदुङ हुए थे।

होते आये हैं। किंतु उनमें वह दक्षता नही रही। उन्होने विशेषकर पहले लिखे चित्रपटोकी नकल करनेका ही काम किया है।

२—शिक्षा-क्रम

तिब्बतमें चित्रकलाके वंशानुगत होनेका नियम नही है। भिक्षु या गृहस्थ जिस किसीकी उधर रुचि हुई, अभ्यास करने लगता है। जिन्हें अपने बालकोको पेशावाला चित्रकार बनाना होता है, वह आठ वर्षकी अवस्थामें लडकेको किसी चित्रकारके पास भेज देते हैं। मेधावी बालकको आवश्यक शिक्षा प्राप्त करनेमें तीन वर्षसे कुछ ऊपर लगते हैं। यह शिक्षा तीन वर्गोमें विभाजित है—

१—रेखा-अकन	१६ मास
२—साधारण रग-अकन	१० मास
३—सूक्ष्म मिश्रित-रग-अकन	११ मास

१—**रेखाअकन**—पहले खास तरहसे बने कोयला (जोकि पेंसिलका काम देता है)से चौकोर खाना बनानेवाली रेखाएँ खीचना, फिर उनपर मुख आदिकी आकृति बनाना। ठीक होने पर तूलिका-द्वारा उन रेखाओ पर काली स्याही चढाना सीखना।

रेखा-अकन वर्ग भी छै श्रेणियो या **थिग्**में बँटा हुआ है—

१—**प्रथम श्रेणी**—(१५५ अगुल) (क) पहले बुद्धका मुख अकित करना सिखाया जाता है। इसमें एक मास लगता है। गुरुके दिये नमूनेके अनुसार कागज पर पहले २६ अगुल लबा और १६ अगुल चौडा आयत क्षेत्र खीचना होता है। फिर निम्न प्रकारसे आडी-बेडी रेखाएँ खीचनी होती है—

लम्बाईमें—

२ अगुल	शिरकी मणि
४ "	उष्णीष
४ "	चूडा-ललाट
४ "	ललाट-ऊर्णा
१ "	ऊर्णा-नासामूल
१ "	नासामूल-नेत्रकी निम्न सीमा
२ "	नेत्रकी निम्न सीमा-नासाग्र
४ "	नासाग्र-ठुड्डी
४ "	ठुड्डी-कठकी निम्नसीमा
२६ "	

चौडाईमें—

६ अगुल	दाहिनी कनपटीसे ललाटार्ध तक
६ "	वाई कनपटीसे ललाटार्ध तक
२ "	दाहिने कानकी चौडाई
२ "	वायें कानकी चौडाई
१६ "	

(ख) मुखके अकनका अभ्यास हो जाने पर ३ मासमें वुद्धके पद्मासनासीन सारे शरीरका अकन सीखना पडता है। पहले ८४×५२ का आयत क्षेत्र वनाना होता है। फिर निम्न प्रकार लवाई और चौडाईमें रेखाएँ खीचनी होती है—

लवाईमें—

२६ अगुल	शिरकी मणिसे कठकी निम्न सीमा तक (ऊपर जैसे)
१२ "	कठसीमा—स्तन तक
१२ "	स्तन—केहुनी
२ "	केहुनी—नाभि
४ "	नाभि—कटि
८ "	कटि—मुडे घुटनेके प्रथम छोर तक
४ "	मुडे घुटनेके मध्य तक
४ "	मुडे घुटनेके अतिम छोर तक
१२ "	शेपके लिए
८४ "	

चौडाईमें—

१२ "	मध्य ललाटसे वगल तक
४ "	वगलसे पैरके अँगूठेके सिरे तक
२ "	पैरके अँगूठेके सिरेसे दाहिने वाजूके अत तक
८ "	दाहिने वाजू के अतसे मुडे घुटनेके अतके पास तक
२६ "	
२ अतिरिक्त	
५२ "	

(ग) फिर एक मासमें वस्त्रोका अकन करना सीखा जाता है।

श्रेणी-क्रमसे रेखाकनका विवरण इस प्रकार है

श्रेणी	विषय	अगुल-परिमाण	मास
१	बुद्ध	१५५	५
२	अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्व	१२०	३
३	तारा आदि देवियाँ	१०८	३
४	वज्रपाणि आदि क्रोधी देव	९६	२
५	अर्हत् आदि	. .	२
६	मनुष्य	.	१
			१६

इस प्रकार १६ मासमें रेखाकन समाप्त होता है।

२—**साधारण रग-अकन**—इसमें सीधे-सादे रगोको अलग-अलग अकित करना सीखा जाता है। क्रम और काल इस प्रकार है—

हरा रँगना	$\frac{1}{2}$ मास
आकाश रँगना	१ "
दूसरे रग (अलग-अलग)	८$\frac{1}{2}$ "
	१० "

३—**सूक्ष्म, मिश्रित रग-अकन**—पत्ते आदिके सूक्ष्म और अनेक छायावाले रगो, सोनेके काम तथा केश आदिका अकन इस अतिम श्रेणीमें सीखा जाता है। क्रम और काल इस प्रकार है—

पत्ता	१ मास
लाल	१ "

सोनेका काम	३ मास
केश, भौं आदि	६ "
	११ "

तीनों वर्गोको समाप्त कर लेने पर भी छात्र कितने ही समय तक अपने गुरुका सहायक बन काम करता रहता है।

३—चित्रण-सामग्री

चित्रण-क्रियाके लिए चार चीजोकी अवश्यकता होती है—(१) भूमि, (२) तूलिका आदि, (३) रग, (४) रग-पात्र।

(१) भूमि—तिब्बतमें चित्रणकी भूमिके लिए साधारणतया पट, भित्ति या काष्ठ-पाषाणके टुकडोका उपयोग किया जाता है।

(क) पटको दर्पण-समान निर्मल, श्वेत, रेखा-रहित, कोमल, लचकदार तथा तिनकोनी विनाई से शून्य होना चाहिए। इसके लिए अधिकतर कपासके कपडेका इस्तेमाल होता है। वस्त्र को अपेक्षित आकारमें काटकर उसके चारो ओर बांसकी चार खपाचेंसी देनी होती हैं। फिर लकडीके चौखटमें उसे रस्सीसे इस प्रकार कसकर ताना जाता है, कि पट सब जगह एक-सा तन जाय। फिर श्वेत[1] रगमें ट्रै सरेस डाल गुनगुन पानीसे मिलाकर पतली लेई बनाई जाती है। इस पतली लेईको कपडे से भिगोकर पट पर लेप दिया जाता है। चारो ओर बराबर पुत जाने पर पटको छायामें सूखनेके लिए रख दिया जाता है। सूख जाने पर पटके नीचे लकडीका एक चिकना पट्टा रखकर, पानी या हल्का छीटा दे दे उसे दोनो ओर चिकने पत्थरसे रगडा जाता है, और फिर सूखनेके लिए छायामें छोड दिया जाता है।

ताननेको छोड बाकी प्लस्तर आदिका काम भित्ति और काष्ठ-पाषाणकी भूमि पर भी एक-सा ही किया जाता है।

(२) तूलिका—चदन, लाल चदन या देवदारकी सीधी विना गांठकी लकडीको तेज चाकूसे (चाकूके ऊपर दूसरी समतल सहारेकी लकडी रखकर)

---

१ खडिया जैसा एक रग; देखो रगोंका वर्णन।

छीलकर इस प्रकार गोल बनाया जाता है, कि उसका एक सिरा अधिक मोटा और दूसरा पतला हो जाता है। फिर मोटे सिरेको डेढ अगुलके करीब खोखला कर दिया जाता है। तब बकरी, बिल्ली या दूसरे जानवरके पानी सोखनेवाले बारीक साफ और एकसे बालको बराबर करके उसके आधे भाग पर सरेसकी लेई डाल-डालकर उसमें खूब चिपका दिया जाता है, और सरेसवाले भागको सूत लपेटकर बाँधकर सरेसके सहारे तूलिका-दडके खोखले भागमें मजबूतीसे बैठा दिया जाता है। सूख जाने पर तूलिका कामके लिए तैयार हो जाती है। तिब्बतके चित्रकार दो प्रकारकी तूलिका इस्तेमाल करते है। भौं, केश आदिके चित्रणके लिए अधिक सूक्ष्म किंतु परिमाणमें कम केशोवाली पतली तूलिका काममें लाई जाती है, और बाकी कामोंके लिए अधिक केशोवाली मोटी तूलिका।

तूलिकाके अतिरिक्त दूसरा आवश्यक साधन है—परकाल। यह एक दो, तीन अगुल चौडी, प्राय १ फुट लबी तथा एक अगुल मोटी बाँसकी कट्ठीको लबाईमें आधे-आध चीरकर एक ओरके सिरेको लोहेसे छेदकर बाँध दिया जाता है। दोनो बाँहोमेंसे एकको नोकीला और दूसरेको कोयलेकी पेंसिल रखने लायक खोखला बना दिया जाता है। फिर दोनो बाँहोको मोटाईमें चीरकर उनके भीतर एक पतली खपीच डाल सिरोको सूत लपेटकर बाँध दिया जाता है। यही परकाल है।

तिब्बती चित्रकार दो प्रकारकी पेंसिलें इस्तेमाल करते है, एक सेतखरीके पत्थरकी और दूसरी कोयलेकी। कोयलेकी पेंसिलके बनानेका यह ढग है। एक हलकी लकडीको ताँबे या लोहेकी नलीमें डाल हल्की आँचमें डाल दिया जाता है, जल जाने पर नलीसे निकाल लिया जाता है। यही पेंसिल है। बिना नलीके भी हल्की लकडीको धीमी आँचमें जलानेसे पेंसिल तैयार हो जाती है। इस कामके लिए भारतमें सेंठेको काममें लाया जाता रहा होगा।

सोनेके कामको चमकानेके लिये एक घर्षण-तूलिका होती है, जिसके सिरे पर बिल्लौर या जैसा कोई चिकना स्वच्छ पत्थर जडा रहता है। पटके पीछे एक छोटा चिकना काष्ठ-फलक रख स्वर्ण-रेखाको उस कलमसे रगडा जाता है, जिससे सोना चमकने लगता है।

पानीमें धोकर एकही तूलिका कई रंगोंमें डाली जाती है।

(३) रंग[1]—अब भी तिब्बतके अच्छे-अच्छे चित्रकार चित्रपटोंके तैयार करनेमें अपने हाथसे बनाये रंगोंको इस्तेमाल करते हैं। इनमें खास तरहके पत्थरोंसे बननेवाले रंग यह हैं—

क अ-मिश्रित रंग

(अ) पाषाणीय

१ सेत-खरी (द्कर्-रग्, पाषाणीय)—ल्हासाके उत्तरवाले रोङ प्रदेशके रिङ्-बुम् स्थानसे यह सफेद रंगका डला आता है। डलेको पीसकर अधिक पानीमें घोल दूसरे बर्तनमें पसा देते हैं। नीचे बैठी कँकरीली तलछटको फेंक देते हैं। कुछ देर छोड देने पर नीचे गाढी सफेद पक जम जाती है फिर ऊपरके पानीको फेंक दिया जाता है। इसमें गर्म पानीमें घुली सफेद सरेस (?) खूब रगड़-रगड़ कर मिला दी जाती है। इस प्रकार रंग तैयार होजाता है।

२ नीला (यङ)—ल्हासासे कुछ दूर पर ञि-मो स्थानसे यह नीले रंगका बालू आता है। ठंडे पानीके साथ थोड़ा सरेस मिला दो घंटे तक जिसे खलमें पीसना होता है। फिर अधिक पानी मिला उसे एक बर्तनमें पसाया जाता है। फिर पंद्रह मिनट तक थिर करके दूसरे बर्तनमें पसाया जाता है। दूसरेमें भी पंद्रह मिनट रखकर तीसरेमें पसाया जाता है। तीसरेमें भी पंद्रह मिनट रखकर चौथे में पसा दिया जाता है। चौथे बर्तनमें आध घंटा रख पानीको फेंक दिया जाता है। चारों बर्तनोमें बैठी पक चार प्रकारका नीला रंग देती है।

(१) अतिनील (थिङ्-ड्मु)—इससे वज्रधर आदिके शरीरका रंग बनाया जाता है।

(२) अल्प-नील (थिङ्-शुन्)—इससे आकाशका रंग बनाया जाता है।

(३) अल्पतर-नील या श्याम (न्ङो-ब्नुङ्)—इससे पानीका रंग बनाया जाता है।

(४) अल्पतम नील (न्ङो-सि)—इनसे छाया, आकाशकी मलिनता आदि दिखलाई जाती है।

---

[1] सभी रंगोंके कच्चे-पक्के नमूने मैंने पटना-म्यूजियममें ला रक्खे हैं।

३ हरित (स्पङ)—यह भी उपर्युक्त ञि-मो स्थानसे वालूके रूपमें आता है। बनानेका ढग नील जैसा ही है, किंतु इसे चारकी जगह तीन वर्तनोहीमें पसाते हैं, इससे तीन प्रकारके हरे रग प्राप्त होते हैं—

(१) अति-हरित (स्पङ-म)—जिससे हरित तारा, पत्र, तृण आदिको रँगा जाता है।

(२) अल्प-हरित (स्पङ-शुन्)—जिससे पृथिवी आदिको दिखलाया जाता है।

(३) अल्पतर-हरित (स्पङ-र्य)—जिससे कपडेके रग, ध्वजा, मृणाल, पुष्प-दड आदि बनाये जाते हैं।

४ **पाषाणी पीत** (ब-ल्ल्-सेर्पो)—यह सोनामक्खी जैसा पीला नर्म पत्थर पूर्वीय तिब्बतके खम् प्रदेशसे आता है। सूखाही कूटकर वालू जैसा बना, थोडे सरेस और पानीके साथ खरलमें दो दिन तक पीसा जाता है। फिर अधिक पानीमें घोल पसा लेना होता है। पकके नीचे वैठ जाने पर पानीको फेंक दिया जाता है।

५ **कच्चा ईंगुर** (छल्-ल्चोग्-ल)—यह पत्थर भी खम् प्रदेशसे आता है। पहले सूखा पीस मोटे वालू-सा बना, सरेस और पानीके साथ खरलमें खूब पीस देनेपर रग तैयार हो जाता है। आज-कल इसकी जगह चीनमें रूईमें डालकर बना लाल रग—यङ-टिन्—इस्तेमाल किया जाता है।

६ **सिंदूर** (लि-ख्रि)—यह भारतसे तिब्बतमें आता है। सरेस और पानीके साथ खरल करके रग तैयार किया जाता है। इससे बुद्ध और भिक्षुओंके काषाय वस्त्र बनाते हैं।

७ **लाल** (छल्)—यह पाषाणीय रग भारतसे आता है, और सिंदूरकी भाँति ही तैयार किया जाता है, और उससे वही काम लिया जाता है।

(आ) धातुज

८ **चाँदीका रंग** (द्ङुल्-ब्दुल्)—नेपाली लोग चाँदीकी इस भस्मको बनाते हैं। पानी और सरेसके साथ इसे घिसकर लिखनेके लिए तैयार किया जाता है। इसका उपयोग बहुतही कम होता है।

९ **सोने का रंग** (ग्सेर्-ब्दुल्)—इस भस्मको नेपाली लोग तैयार करते हैं। रग, सरेस और पानीमें घोटकर बनाया जाता है। इससे बुद्धका रग तथा आभूषण आदि बनाये जाते हैं।

(इ) मिट्टी

१० पीली मिट्टी (ऱ ऱ्प-ग्सेर्-ग्दन्)—यह मुल्तानी मिट्टी जैसी पीली चिकनी मिट्टी ल्हासामें पूर्व येर्-वा स्थानसे आती है। इसे थोड़े सरेसके साथ पानीमें दो घंटा उबालकर तैयार किया जाता है। सोना लगानेके पहिले भूमि इससे रंजितकी जाती है, जिससे सोनेका रंग बहुत खिलने लगता है।

(ई) वानस्पत्य

११ मसी (स्नग्-छ)—ल्हासासे दक्खिन-पूर्ववाले कोङ्-चो प्रदेशमें देवदारकी लकड़ीके धूएँसे कजली तैयार करते हैं। इसीको ठंडे पानी और सरेसमें रगड़कर स्याहीकी गोली तैयारकी जाती है। रेखाएँ और केश आदिके अंकित करनेमें इसका उपयोग होता है।

१२ नील (रम)—भारतसे नीलके पौधेसे बना यह रंग आता है। सरेसके साथ पानीका छींटा दे दे। १५, २० घंटा खरलमें रगड़ने पर रंग तैयार होता है। बादल, छाया और रेखाएँ इससे बनाई जाती हैं।

१३ उत्पल-जल (अुद-पल्-सेर्-पो)—ल्हासाके उत्तरवाले फेम्-ब्रो प्रदेशके रे-डिङ्, तथा दूसरे स्थानोंके सूर्यकी कड़ी धूप न लगनेवाली पहाड़ी भागोंमें एक प्रकारका फूल उत्पन्न होता है, जिसे तिब्बतवाले उत्पल कहते हैं। इसकी पत्तीमें शुन्‌का पत्ता $\frac{1}{20}$ हिस्सा मिला पानीमें १५ मिनट पकाया जाता है। इस हल्के पीले रंगके पानीसे पत्तोंका किनारा बनाने, तथा दूसरे रंगोंमें मिलानेका काम लिया जाता है।

१४ शुन् एक वृक्षका पत्ता है, जो भूटानकी ओरसे आता है। इनके पकाए पानीको दूसरे रंगोंमें मिलाया जाता है।

(उ) प्राणिज

१५ लाख (र्ग्य-छोम्)—भारत या भूटानसे आती है। लकड़ी आदि हटाकर इसे साफ कर लिया जाता है। फिर उनमें बहुतही गर्म पानी डाला जाता है। फिर $\frac{1}{20}$ हिस्सा शुन्‌का पत्ता और थोड़ी फिट्‌किरी (छ-ल-द्‌कर-पो) को डाल दिया जाता है। फिर पानीको छानकर उसे धीमी आँचमें पकाकर गाढ़ा करके गोली बना ली जाती है।

१६ सरेस (स्पिन्)—भैंस या किसी भी चमड़ेको बाल हटाकर

९—नेत्र, केश, मूँछ आदिको सूक्ष्म तूलिकासे बनाना।

१०—छोटे चिकने काठकी तख्तीको नीचे रखकर सोनेकी रेखाओको घर्षण-तूलिकासे रगडकर चमकाना।

५—चित्रणकला-सम्बन्धी साहित्य

भोटमें मौजूद चित्रकला-संबंधी ग्रथोको दो भागोमें बाँटा जा सकता है। (१) एक वे जो भारतीय संस्कृत-ग्रथोंके अनुवाद हैं, और (२) वे, जिन्हें भोटके विद्वानोने स्वय लिखा है । प्रथम श्रेणीके ग्रथोमें (क) कुछ तो ऐसे हैं, जिनका विषय दूसरा है, किंतु प्रसग-वश उनमें चित्रण-कला की बात भी चली आई है, जैसे **मंजुश्रीमूलकल्प**। (ख) उनके अतिरिक्त **प्रतिमामान-लक्षण** सदृश भारतीय आचार्योंके कुछ ग्रथ सिर्फ चित्रण-कला तथा मूर्ति-कलाके लिए ही बनाये गये हैं। भोटदेशीय विद्वानोके बनाये ग्रथोमें उक्त दो श्रेणीके ग्रथ पाये जाते हैं। कंजूरमें अनुवादित प्राय सभी तंत्र-ग्रथोमें चित्रण-क्रियाके बारेमें कुछ न कुछ सामग्री मिलती है।

भारतीय मुद्रा

मुद्रा (सिक्के) हमारे इतिहासके बहुत ठोस साधन हैं। कितने ही राजा और राजवंश भूले जा चुके होते, यदि मुद्राएँ न होती। क्षत्रप वंशपर उस सिक्को ने सबसे अधिक प्रकाश डाला यह सभीको मालूम है। मुद्राओपर जो लिपि उत्कीर्ण मिलती है, वह स्वय अपने कालकी साक्षी होती है। पर एक ऐसा भी समय था, कि जब मुद्राओपर अक्षर नही तरह-तरहके लाछन (चिन्ह) अकित होते थे। उनसे भी कालका पता लगता है। हमारे देशको पुराने ध्वसावशेपोमें बरसातके अन्तमें कितनी ही मुद्राएँ लोगोको मिल जाती है। ताँबेकी मुद्राओका उतना मूल्य नही समझा जाता, वह सोनारो के पास चली जाती हैं। चाँदी और सोनेकी मुद्राएँ, चांदी-सोनेके भाव बिक जाती हैं, और सोनार गलाकर जेवर बना डालते हैं। उनको क्या पता, कि जिन मुद्राओको हम गला रहे हैं, उनमेंसे कितनी ही ऐसी हो सकती हैं, जो अपने साथ एक पुराने इतिहासके सन्देशको लिये हैं। हरेक शिक्षित-सस्कृत व्यक्तिकी पहिचानके लिये सीग नही होती। उसका प्रमाण यही है, कि वह अपनी सास्कृतिक और ऐतिहासिक निधियो घटनाओ के प्रति कितना स्नेह और सम्मान रखता है। एक राजा साहबके यहाँ गुप्तकालकी हजारो अशर्फियां निकलीं। वह आधुनिक ढगके शिक्षित हैं। जब वह अशर्फियाँ आईं, तो उन्होंने अपने मुसाहिबोंमें बाँटना शुरू किया। किसीने उनको विकृत करके बटन बनाया और किसीने खरा सोना समझकर अगूठी तैयार कराई। क्या यह फासीपर चढा देने लायक अपराध नही था। गया जिलेमें कुर्किहारमें बहुतसी प्राचीन मूर्तियाँ मिली, जिनमें दो काफी बडी चांदीकी थी। सरकारको कानूनन लेनेका अधिकार। पर, सरकारकी ओरसे किसीके आनेसे पहले ही जमींदार साहबने वह दोनों मूर्तियोको गलाकर चांदीके भाव बेच डालीं। न जाने वह गुप्तकालकी मूर्तियाँ थी या किस कालकी। उनकी सिंहासन-पीठोंके अभिलेखोमें न जाने क्या ज्ञातव्य बातें उत्कीर्ण थी। वह जमींदार भी शिक्षित, लेकिन पुच्छ-विषाणहीन पशु थे, यह मानना पडेगा।

कही ढेवुआ और कही गदहिया पैसा कहते थे। इसी तरहके तांबेके टुकडे पुराने जमाने में पैसेके तौर पर इस्तेमाल किये जाते रहे, और धातु-खण्ड होनेके कारण गला दियें गये हो। आखिर वर्तमान शताब्दीके आरम्भमें सैकडो मन ढेवुआ चल रहे थे, वह क्या हुए ? जरूर गलकर तांबेकी चीजोंके रूपमें परिणत हो गये।

ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यसे हमारे यहां ग्रीक राजाओंके गोल सिक्कोका रवाज मिनादर आदि हुआ, जो पश्चिमी भारतपर शासन करते थे। इनके सिक्के गोल होते थे। कुषाणोने (ईसवी-सन्‌के आरम्भ) भी गोल आकारके सिक्कोको ही पसन्द किया, और आगे मुस्लिम-कालसे लेकर अग्रेजोंके शासन तथा आज तक सिक्कोंके लिये हमारे यहाँ गोल आकारको ही स्वीकार किया गया।

३ द्रव्य

मुद्राके लिये तांबाका प्रयोग सबसे पहले हुआ, फिर चाँदीका भी होने लगा और अन्तमें सोनेकी अशर्फियां भी ढली। कुषाण राजाओंसे पहले हमारे यहां सिर्फ तांबे और चांदीके सिक्के चलते थे। सोनेका कोई सिक्का नही मिला, यद्यपि सस्कृत साहित्यके कुछ उल्लेखोंसे इसका भ्रम जरूर हो जाता है। यदि सोनेका सिक्का (निष्क, हिरण्य) प्रचलित होता, तो उसका कोई नमूना भी हमारे पास तक पहुँचता। ईसवी-सन्‌के आरम्भमें कुषाण राजा वीमा कदफिसने पहले पहल हमारे देशोमें सोनेका सिक्का चलाया। दुनियामें सबसे पुराना सोनेका सिक्का दरिक था, जिसे बुद्धके समकालीन ईरानके बादशाह दायरबहु (दारा) ने चलाया था। सोने के सिक्केमें ही उसने पहल नही की थी, बल्कि राजाके चेहरेके साथ मुद्राका आरम्भ भी उसीने किया। इसका अनुकरण ग्रीक राजाओने किया, जहांसे हिन्दी-ग्रीको ने उसे प्रयुक्त किया। फिर तो मुस्लिम-कालके शुरू होनेसे पहले तक हमारे प्राय सारे सिक्के रूप-लाछित हुआ करते थे। इस्लाममें मूर्तिकी पूजा और निर्माण पाप समझा जाता था, इसलिये जहांगीरको छोडकर किसी मुसलमानने चेहरेवाली मुद्राएँ नही चलाईं। अग्रेजी शासनके साथ आदमीके चेहरेकी मुद्राएँ शुरू हुईं, और हमारे गणराज्यके सिक्कोसे वह फिर लुप्त हो गईं।

मुद्राके लिये तांबे, चाँदी और सोनेके अतिरिक्त कभी-कभी सीसे और राँगेको भी इस्तेमाल किया गया था विशेषकर हमारे यहाँ शतावाहनोंके शासनकालमें। महार्घधातुओंमें सस्ती धातुओंको मिलाकर खोटे सिक्कोंके प्रचलनका हमेशा खतरा रहा। आज भी ऐसे लाखो खोटे सिक्के चल रहे हैं। शुद्ध धातु रखनेके लिए राज्यकी ओरसे प्रयत्न किया जाता रहा। बाज-वक्त राज्यने स्वयं इस तरहका मिश्रण करके सिक्के चलाये। सोनेके सिक्कोंके बारेमें माना जाता है, कि जब तक मुद्रामें शुद्ध सोना इस्तेमाल होता हो, तब तक उस राजा या राजवंशकी लक्ष्मी ओजपर थी, और जब उसमें मिलावट होने लगी, तो समझ जाना चाहिये, कि लक्ष्मी रूठ गई है। कुषाणोंसे लेकर मुस्लिम-कालके अन्त तक सोनेके सिक्के हमारे यहाँ ढलते रहे। अंग्रेजोंने उन्हे बन्द कर, उसकी जगह अपने यहाँकी गिन्नी (पौंड) को मान्यता दी। तो भी उसका अधिक इस्तेमाल नही हो सका, और देशके हिसाब-किताबको रुपयोंमें ही रक्खा गया। वर्तमान शताब्दीमें चाँदीके सिक्कोंमें सरकार मिलावट करने लगी, नोटोका प्रचारभी अधिक कर दिया। प्रथम महायुद्धमें चाँदीके रूपयेकी जगह कागजके रुपये चलने लगे और अन्तमें चाँदीके रुपये ढलनेही बन्द हो गये। अठन्नियाँ, चवन्नियाँ-दुअन्नियाँ भी गिलटकी बनने लगी। आज मुद्रामें दरबका कोई मूल्य नही है। बल्कि छोटे सिक्के धातुके होनेपर ज्यादा स्थायी रहते हैं, इसीलिए वह उसके बनाये जा रहे हैं।

जैसे आज रुपयेके अंशवाले अधेली, पावली (सूका) और दुअन्नी, इकन्नी देखी जाती है: उसी तरह पुराने युगमें भी छोटे सिक्के होते थे। ग्रीक चाँदीके सिक्के द्रारम कहे जाते थे, जिन्हे संस्कृतमें द्रम्य और फारसीमें दिरहम या दाम कहा जाने लगा। ये सिक्के अधेली, एक द्राम्य, दो द्राम्य और चार द्राम्यके भी होते थे। कार्षापण भी इसी तरह अर्ध-कार्षापण, पाद कार्षापण और माषक बनाये जाते थे।

४ लांछन

मुद्राको खास चिन्होंसे लांछित करना आदिम काल होसे शुरू हुआ, बल्कि मुद्रण और लांछनका अर्थ ही है चिन्ह अंकित करना। पहले केवल चिन्ह ही अंकित किये जाते थे, अक्षर नही, यह पुरानी परम्पराको द्योतित करता था। जिस समय अक्षरका आविष्कार-प्रचार नहीं हुआ था, उस वक्त चिन्होंको अंकित किया जाता

था। यही परिपाटी आगे भी चल पडी। हमारे पचमार्क, चौकोर सिक्के चिन्ह-अकित हैं, उनपर अक्षर नही होते। उनके चिन्ह प्राय वही हैं, जिन्हे कि आजसे साढे चार हजार वर्ष पहले मोहनजोदडोके लोग अपनी वस्तुओपर अकित करते थे। इन चिन्होमें कितने ही चक्र हैं, कितने ही गोल हैं,कितने ही वृक्षकी आकृति वनाते हैं। कुछ मछली या दूसरे आकार-प्रकार के हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोसे मिले पचमार्ग सिक्कोंके चिन्होकी कुछ विशेषताएँ उनके विशेप स्थानके माननेकी कोशिश की गई।

ग्रीक सिक्को द्वारा चेहरे और अक्षरोंसे अकित सिक्कोका प्रचार शुरू हुआ। ग्रीक लोग अपने सिक्कोपर ग्रीक अक्षरमें राजाका नाम उत्कीर्ण करते थे। जव उनमेंसे कुछ भारतके शासक हुए, तो उन्होंने ग्रीक लिपिके साथ भारतीय लिपिको भी स्थान दिया। अशोकके अभिलेखोसे ही मालूम है, कि ईसा-पूर्व तीसरी शताव्दीमें हमारे यहाँ दो लिपियाँ प्रचलित थी। देशके सभी भागोमे ब्राह्मी चलती थी, पर पश्चिमी वगाल, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा कावुलमें खरोष्टी लिपि। ग्रीक राजाओने पहले अपनी लिपिके साथ खरोष्टीको स्थान दिया, फिर ब्राह्मीको भी। शक-कुषाण राजाओने भी सिक्कोकी तरह लिपिमें उनका अनुकरण किया। मथुरा-उज्जैन के क्षत्रप भी अपने सिक्कोमें ब्राह्मीके साथ ग्रीक अक्षरोको कुछ दिनो तक इस्तेमाल करते रहे। धीरे-धीरे ग्रीक और खरोष्टी लिपियाँ हट गई, और केवल ब्राह्मी रह गई। खरोष्टी और ब्राह्मीमें सर्वप्रचलित तत्कालीन भाषाका प्रयोग गुप्तकालसे पहले तक चला आया। गुप्तकालमें लिपि तत्कालीन ब्राह्मी रही, पर भाषा सस्कृत हो गई।

सक्षेपमें भारतीय मुद्राओंके लाछनके वारेमें यही कहा जा सकता है, कि निर-क्षर चिन्ह लाछित मुद्राएँ पचमार्क पहले बनी उसके वाद चेहरे और अक्षरोका प्रयोग किया जाने लगा। मुस्लिम कालके पहले तक यही चलता रहा। मुस्लिम कालमें केवल अक्षरोका प्रयोग हुआ। अकबरसे पहले टेढ़े-मेढे अरबी अक्षर प्रयुक्त होते थे, जिनमें मुसलमानी कलमा और वादशाहका नाम रहता था। शेरशाहने राजनीतिमें धार्मिक साम्प्रदायिकता और भेदभावको हटा सभी भारतीयो को एक करना चाहा। इसलिये उसने अपने सिक्केपर नागरी अक्षरोको भी स्थान दिया। यह काम अकवर भी नही कर सका। यह उल्लेखनीय बात है, कि

हमूद गजनवीने अपने राज्य पंजाबमें चलानेके लियेजो सिक्के बनवाये उनपर संस्कृत भाषा और भारतीय लिपिका भी प्रयोग किया।

सिक्कोंपर उत्कीर्ण लिपियों से उनके राजा और कालका पता लगता है।

५. तोल

क चाँदीका सिक्का

मुद्राओंकी विशेष तोल होती है। अतिपुरातन कालके चांदीके सिक्के १६६ से १७५ ग्रेनके पाये गये हैं। १५ ग्रेनका १ माशा, हमारा रुपया १८० ग्रेन या १२ माशेका, अठन्नी ९० ग्रेन या ६ माशेकी, चवन्नी ४५ ग्रेन या ३ माशेकी है। तोलेका १६वां हिस्सा या इकन्नी पौने ४ ग्राम या पौन माशेकी है। तक्षशिलाका चांदीका पञ्चमार्ग सिक्का ११ २/३ माशेका था, यानी हमारे आजके रुपये या तोलेसे थोडाही कम। मौर्यकालके चांदीके कार्षापण (पञ्चमार्क) सिक्के ५४ से ५६ ग्रेन तक मिले हैं, अर्थात् उनके भीतरकी चांदी ३ ३/५ से ३ ११/१५ माशेके बराबर होती थी।

हिन्दी-ग्रीक राजाओंके सिक्के ६७ ग्रामके (साढे ४ माशेसे जरा ही कम अथवा ६ आना चांदी भर) होते थे। अर्ध-द्रम्यमें उससे आधा, दो द्रम्यमें १२ आने और ४ द्रम्यमें डेढ तोलाके करीब चांदी होती थी।

कुषाणोंका और क्षत्रपोंके चांदीके सिक्के (द्रम्य) में, ६४ ग्रामके अर्थात् ६ आना चांदीसे कुछ कम चांदी होती थी। उनका अर्ध-द्रम्य ज्यादा चलता था, जिसमें ३२ ग्राम (३ आनेसे कुछ कम) चांदी होती थी।

गुप्तोंके चांदीके सिक्के भी कुषाणों और क्षत्रपोंकेही वजनके होते थे, जिन्हें दीनार, अर्ध-दीनार कहते थे।

प्रतिहारोंके समकालीन चांदीके सिक्के पहलेसे थोडा कम अर्थात् ६० ग्रामके होते थे; ४ मासा ५ आना भर चांदीसे कुछ अधिक।

मुस्लिम-कालके आरम्भमें चांदीका सिक्का (दिरहम) ५६ ग्रेनका था अर्थात् ३ ११/१५ माशा अथवा ५ आना चांदीसे कुछ कम। गुलाम वंशके ही अल्तमशने १७५ ग्रामका चांदीका सिक्का बनाया था, जो प्राचीन कालके तक्षशिलाके सिक्केके बराबर था,—हमारे रुपये या तोलेसे आधी इकन्नी भर कम या ११ २/३ माशा। हमारे आजके रुपयेका विधाता वस्तुतः शेरशाह था, जिसका रुपया १७८ १/२ ग्रेनका था, यानी करीब-करीब आजके रुपयेहीके बराबर। अकबरने

रुपयेके वजनको बर्करार रक्खा। सारे मुगलकालमें होते अंग्रेजोंके पास भी वही रुपया आया। चाँदीके सिक्कोंके वजनका यह इतिहास है।

ख तांबेका सिक्का

तांबेका सिक्का चाँदीसे ज्यादा प्रचलित था, इसे कहनेकी अवश्यकता नही। इसके वजन भिन्न-भिन्न कालमें एक ही नही रहे। मौर्य कालमें तांबेके कार्षापण १४४ और १४६ ग्रेन (पौने १० मासे अथवा १२ आना वजनसे कुछ अधिक) मिले हैं। उस वक्त ५७ ग्रेनका भी कार्षापण था, जो पांच आनेके वजनके बराबर था। बुद्धकालमें २० मासेका कार्षापण होनेका उल्लेख मिलता है, जिसके अर्ध-कार्षापण और पाद कार्षापण भी होते थे, जो क्रमश १ २/३ तोला, ५/६ तोला और ५/१२ तोला थे। हिन्दी-ग्रीक (ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी) के तांबेके गोल सिक्के १४० या १४४ ग्रेनके होते थे, जो मौर्य डबल कार्षापणके बराबर थे। एक ग्रीक राजाने चौकार कार्षापण भी चलाया था, जिसका वजन १४० ग्रेन था। यह १४० और १४४ वाले सिक्के कुषाण, क्षत्रप, गुप्त, प्रतिहार, मुस्लिम-कालमें चलते आज तक जारी हैं।

ग सोनेके सिक्के

यह बतला चुके हैं, कि कुषाण राजा वीम कदफिससे पहले हमारे यहाँ सोनेके सिक्के नही चलते थे। कुषाण मुहरें १२० से १२४ ग्रेनकी होती थी, अर्थात् ८ मासेसे सवा ८ मासे तक। गुप्त राजाओकी स्वर्ण मुद्राएँ भी जिन्हें (सुवर्ण दीनार) कहा जाता था, १२४ ग्रेन (सवा ८ मासे) की ही अधिकतर होती थी, लेकिन कुछ १४४ (९ ३/८ मासा), १४६ (९ ११/१६) और ११९ ग्रेन या (८ मासेसे कुछ कम) भी मिली हैं। चेदी गांगेयदेवने ६८ ग्रेनके सोनेके सिक्के चलाये, जो प्राय साढे ४ मासेके थे। मुस्लिम कालमें तांबे और चाँदीके सिक्कोकी ही बहुतायत थी। आरम्भिक कालमें चाँदीके सिक्कोको दिरहम और तांबेके सिक्कोको जितल कहते थे। अकबरने सोनेके सिक्कोका प्रचार किया। अकबरी मुहर १७० ग्रेनकी (११ १/३ मासेकी) होती थी।

६ सिक्कोंकी पहचान

पुरानी मुद्राओको पहचाननेके लिये पहले उनकी आकृतिको देखना चाहिये। यदि चौकोर या कोनेपर छटे चौकोर हैं, तो वह ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दीसे पहलेके हैं। यदि उनपरका लाछन दो धनुहियोंके ऊपर तीसरी धनुही तानकर है, तो वह

ौर्य-कालके नहीं तो और पुराने। चौकोर सिक्कोंके बाद गोल सिक्के आये। नका काल ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दीसे आज तक है, अपवाद या तो हिन्दी-ीक राजा हेलियक्ल्य (ई० पू० १५९-२६), अपलदत (ई० पू० प्रथम शताब्दी) ग्थवा शक-राजा मोग (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के कुछ सिक्के हैं। पिछले ालमें अकबर और जहांगीरके भी कुछ चौकोर सिक्के निकले थे। उनके बाद र्तमान कालीन चौकोर सिक्के हैं।

आकृतिके बाद उसपर उत्कीर्ण लांछनोंसे सिक्कोंका पता लगता है। यदि ेहरा है, तो समझ जाना चाहिये, कि वह मुस्लिम-कालके पहले के है। मुस्लिम-ालमें केवल जहांगीरने कुछ सिक्के चेहरेवाले चलाये। सारे हिन्दू कालमें चेहरे-ाले सिक्कोंपर अक्षर उत्कीर्ण होते रहे। ये अक्षर भिन्न-भिन्न कालके देखकर हचाने जा सकते हैं। मुस्लिमकालमें केवल अक्षर उत्कीर्ण सिक्के होते थे जिनमे टेढे-मेढे अरबी अक्षर अकबरके काल तक चले आये। अकबरके भी कुछ सिक्के इन टेढे-मेढे अक्षरोंमें और कुछमे नस्तालीक अक्षरमें हैं। उनके बादसे केवल नस्तालीक अक्षरोंका प्रयोग होने लगा। नस्तालीक अक्षर होनेका मतलब यही है, कि वह १६वी सदीके बादके है, और अरबी अक्षरोंका मतलब है अकबरसे पहलेके।

७ मुद्राओंकी तालिका (तोल, ग्रेन १ माशा)

	राजवंश (काल)	लिपि—लांछन	सोना	चांदी,	तांबा
१	प्रागमौर्य (ई०पू०४सदीसे पहले)	० चिह्न	०	१६६,१७५	
२	मौर्य (ई०पू०४–३ सदी) ९०	० ,,	०	५४,५६	५७,१४८,१४६
३	हिन्दीग्रीक (ई०पू० २ सदी)	अक्षर+रूप	०	३३½ ६७,१३४, २६८	१४०,१८८
४	कुषाण (१-२सदीई०)	ब्राह्मी,ग्रीक,रूप	१२०, १२४	३२,६४	
५	क्षत्रप (३–४ सदी ,,)	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,
६	गुप्त (४-५ सदी ,,)	ब्राह्मी+रूप	१२४,१११, १४६	३२	
७	प्रतिहार (८–१०सदी ,,)			६०	
८	गांगेयदेव	नागरी, रूप	६२	५०,६०,२५	
९	मुस्लिम (१३-१५ सदी ई०)	अरबी	०	५६	५६
१०	शेरशाह (१५४०-४५ ई०)	,,	०	१७८½	३३०
११	अकबर (१५५६–१६०५ई०)	अरबी, नस्तालीक	१९०	,,	

२०. पुरा-लिपि

काशी—ता० २५ जुलाई १९३७

पिय श्री राहुल जी,

आज डाक बुक-पोस्ट से १ प्रति प्राचीन अक्षरो का फोटो आपकी सेवा में भेजा है। पहुँच लिखियेगा। भेजनेमें देर हुई क्षमा कीजिएगा। फोटोग्राफर ने आज ही फोटो दिये। फोटो तो वहुत साफ आये है, पर हेडिंग (Heading Columns) के अक्षर छोटे होने के कारण विना मैग्नीफाइग ग्लास की सहायता के पढे नही जाते। यह हेडिंग वहुत आवश्यक है, इस लिये मैं, ऊपर १९ खानो के लेख जो हेडिंग में लिखे हैं, अलग लिख कर भेजता हूँ। फोटो सामने रखकर हर एक खाने का हेडिंग पढते हुए यदि अक्षरो को देखा जायगा, तो हर शताब्दी (वैक्रम) की सव वातें व अक्षर-भेद समझ में आजावेंगे। इस चार्ट के तैयार करने में मैंने श्री गौरीशकर जी की "भारत की प्राचीन लिपि" पुस्तक, **Buhler's** Indische Palaeographie और Epigraphia Indica से सहायता ली है। विशेपता यह है, कि हर वैक्रम शताब्दी के अक्षर छाँट कर लिखे हैं। न० ७ में दूसरी शताब्दी के अक्षर अपने सग्रह किये हुए क्षत्रपो के चाँदीके सिक्को से वडे परिश्रम के साथ लिखे हैं। उसी तरह न० ९ चौथी शताब्दी के अक्षर गुप्तवशी महाराजाओ के सोने के सिक्को व लेखो से एकत्र करके लिखे हैं।

आप देखेंगे, दीर्घ 'ई' का पता ६ठी शताब्दी तक नही है। 'ऋ' और 'लृ' का पता ९०० वर्ष तक नही है। कारण केवल प्राकृत-भाषा थी, जिसमें इन अक्षरो का शताब्दियो तक प्रयोग न था। उसी तरह 'ङ' और 'क्ष' भी वर्ते नही जाते थे।

इस चार्ट की सहायता से उत्तरी भारत के शिला-लेख, ताम्र-पत्र, सिक्के केवल पढ़े ही नही जा सकते, वल्कि उनके समय का भी लगभग पता लग सकता है। रूपान्तर भी जो क्रमश हुए हैं, वह भी विदित होते हैं।

इस चार्ट से एक वात यह भी विदित होती है, कि **महर्षि पाणिनि** के समय में

'अनुस्वार' व 'विसर्ग' के चिह्न जो अशुद्ध लिखे जाते थे, जिसका उन्होंने उल्लेख किया है, अर्थात् केवल (शून्य) ॰॰ ने काम लिया जाता था। वह अशुद्ध था और यही प्रणाली दस शताब्दी तक चलती रही। सातवी शताब्दी में फिर शुद्ध रीति अर्थात् ॰॰ छोटे वृत्त से जैसा वह लिखे जाते हैं, लोगो ने संशोधन करके लिखना शुरू किया। देखिये कालम न० १२ के मात्रा के आखिरी अक्षर। यह बात एक बड़े विद्वान् पंडित जी ने चार्ट बन जाने पर मुझसे कही और यह भी कहा कि आपका चार्ट अवश्य शुद्ध है। .

दुर्गाप्रसाद

परिशिष्ट (१)

१ देवनागरी वर्णमाला वर्तमान काल

२ ४०० ई० पूर्व के अक्षर—सोहगौरा पट्ट से

३ ३०० ई० पूर्व महाराज अशोक के समयके अक्षर—दिल्ली व कालसी के शिला-लेखो से

४ २०० ई० पूर्व के अक्षर—हाथीगुम्फा से

५ ई० पूर्व १०० के अक्षर—मथुरा में सोडास के लेखो से

६ ई० पहली शताब्दी के अक्षर—कुषाण राजाओं के लेखो से

७ ई० दूसरी शताब्दी के अक्षर—पश्चिमी क्षत्रपो के सिक्को ने

८ ई० तीसरी शताब्दी के अक्षर—पल्लववशी शिवस्कद के लेखो से

९ ई० चौथी शताब्दी के अक्षर—गुप्तवशी राजाओ के सिक्को से

१० ई० पाँचवी शताब्दी के अक्षर—विलसड़ के लेखो से

११ ई० ६०० के अक्षर—महानाम के लेखो से

१२ ई० आठवी शताब्दी के अक्षर—अप्सद के लेखो से

१३ ई० नवी शताब्दी के अक्षर—दिघवा-दुबौली के लेख से

१४ ई० दसवी शताब्दी के अक्षर—पिह्वा प्रशास्ति से

१५ ई० ग्यारहवी शताब्दी के अक्षर—घोसवर के लेख से

१६ ई० बारहवी शताब्दी के अक्षर—उदयपुर प्रशस्ति और हस्तलिखित पुस्तको से

१७ ई० १३वीं शताब्दी के अक्षर—भीमदेव के लेख से

१८ ई० १७वीं शताब्दी के अक्षर—हस्तलिखित पुस्तक से

१९ ई० २०वी शताब्दी के छापे के तिर्छे अक्षर

रेखांकन १

२ ६ ६ २

२
४
४
४
१
१
२
४
४

रेखांकन २

रेखांकन ३

रेखांकन ४

परिशिष्ट (२)

नाम-अनुक्रमणिका

परिशिष्ट (२)

नाम-अनुक्रमणिका

शब्द-अनुक्रमणिका (३)